मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में

रहस्य-भावना

(नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्. डी. उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध- प्रबन्ध, 1975)

लेखिका

डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन

एम. ए. (हिन्दी, भाषाविज्ञान),

पी-एच्. डी. (हिन्दी, भाषाविज्ञान)

प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग,

एस. एफ. एस. कालेज,

नागपुर (महाराष्ट्र)

सन्मति विद्यापीठ
नागपुर

भा. दि. जैन महासभा
प्रकाशन विभाग

राजकुमार सेठी
प्रकाशन मन्त्री,
श्री भा. दि. जैन महासभा,
प्रकाशन विभाग

आलोक भास्कर
[illegible], सन्मति विद्यापीठ
न्यू एक्सटेंशन एरिया,
सदर, नागपुर
440001

प्रथम संस्करण—मार्च, 1984

Price—Rs. 100.00

प्राप्ति-स्थान

(i) श्री भा. दि. जैन महासभा
केन्द्रीय ग्रन्थागार,
कोठारी भवन,
30–31, नई धान मण्डी,
कोटा, राजस्थान

(ii) सन्मति विद्यापीठ
न्यू एक्सटेंशन एरिया,
सदर,
नागपुर–440001

(iii) मोतीलाल बनारसीदास
बँगलो रोड, जवाहर नगर,
नई दिल्ली—110007

(iv) ऋषभचरण जैन एवं संतति
466/2/21, दरियागंज,
दिल्ली—110006

(v) सुमति साहित्य सदन
944, नई बस्ती
कूचापाती राम, बाजार सीताराम
दिल्ली—110006

मुद्रक:—के. एस. कम्पोजिंग सेन्टर, मनीहारों का रास्ता जयपुर, 302003,

परम पूज्या श्वश्रू श्रीमती तुलसा देवी धर्मपत्नी, स्व० श्री मोरे लाल जैन

के कर कमलों में सादर समर्पित,

जिन्होंने अध्ययन के लिए

अपेक्षित मातृवत् स्नेहिल

वातावरण प्रदान

किया।

प्रकाशकीय

अखिल भारतवर्षीय दि. जैन महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मलकुमार सेठी (जन्म 4 जुलाई, 1938) तिनसुकिया के सुप्रसिद्ध व्यवसायी स्व. श्री हरकचन्द सेठी के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपने इतने ही अल्पकाल में जैन समाज के शीर्षस्थ कर्मठ नेता और उदारचेता के रूप में प्रतिष्ठा अर्जित कर ली है।

भारत के हर कोने में आप के व्यापारिक प्रतिष्ठान हैं। प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर के अनेक प्रतिष्ठानों के आप अध्यक्ष आदि रह चुके हैं। अनेक सरकारी डेलिगेसनों में आपने विदेश यात्राएं भी की हैं। आपके अध्यक्ष बनते ही महासभा को एक संजीवनी बूटी उपलब्ध हो गई है।

दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्रों के जीर्णोद्धार व विकास के लिए भी आपने प्रशंसनीय कार्य किया है। अपनी नई आकर्षक योजनाओं के साथ आप जैन समाज के विकास में जुटे हुए हैं। आप मृदुभाषी, सरल स्वभावी और अहंभाव से शून्य व्यक्तित्व के धनी हैं। आपसे समाज को बड़ी आशाएं हैं।

साहित्य के प्रचार-प्रसार में भी आपकी अभिरुचि बढ़ी है। प्रा. डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में लब्ध प्रतिष्ठित विदुषी हैं। उनके Ph.D. शोध-प्रबन्ध "मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना' के प्रकाशन में आपने आर्थिक सहयोग दिया है। हम इसके लिए आपके आभारी हैं।

राजकुमार सेठी
मंत्री, साहित्य प्रकाशन विभाग
श्री भा. दि. जैन महासभा

प्राक्कथन

आज के वैज्ञानिक युग में भौतिकवादी दौड़-धूप करने के बावजूद व्यक्ति शान्त और सुखी नहीं है क्योंकि उसने आत्मस्वभाव में स्थित न रहकर वैभाविक क्षेत्र में विचरण करना शुरू कर दिया है। उसने अहं को शिर पर रखकर स्वयं को सबसे बड़ा विवेकी और खोजी समझ लिया है। इसी भूल और भ्रान्ति ने उसे आकुल-व्याकुल, व्यग्र तथा अशान्त बना दिया है। इसी से वह अपने मूल स्वभाव को भूलकर स्वयं में छिपे परमात्मा को बाहर खोज रहा है। तब वह मिले कैसे ? परमात्मपद की प्राप्ति तो संयम, तप, इन्द्रियनिग्रह, यम, नियम, विवेक आदि के माध्यम से ही हो सकती है। ऐसे साधन भी हर युग में होते रहे जो भीतर से जुड़कर अपने को बुनते रहे, गुनते रहे।

भीतर की यह बुनावट किंवा खुलावट आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया का परिणाम है। इसका आनन्द इन्द्रियातीत है। स्वाधीन और अव्याबाध है। भक्त और साधक कवियों ने इस अनुभूत आनन्द को नानाविध रूपों में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। साहित्य में यह प्रवृत्ति 'रहस्यवाद' नाम से अभिहित की गयी है।

सामान्यत: रहस्यवाद की सृष्टि के लिए जीव और ब्रह्म का भिन्न-भिन्न होना आवश्यक माना गया है। जीव ब्रह्म से मिलने के लिए न केवल आकुल-व्याकुल रहता है, प्रणय निवेदन करता है, वरन् नानाविध बाधाओं को जय करने में भी अपने पुरुषार्थ-पराक्रम का उपयोग करता है। रहस्यवादी कवियों ने जीव और ब्रह्म के पारस्परिक मिलन और उसकी आनन्दानुभूति का विभिन्न प्रतीकों, रूपकों, उलटबासियों आदि के रूप में प्रभावकारी वर्णन किया है पर जैन साधना में जीव और ब्रह्म के मिलन की नहीं, वरन् जीव के ही ब्रह्म हो जाने की स्थिति स्वीकार की गयी है। दूसरे शब्दों में जीव अपने विकारों पर विजय प्राप्त कर, समस्त कर्म पुद्गलों की रज हटाकर अपनी आत्मा-चेतना को इतना विशुद्ध और निर्मल बना लेता है

कि वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। तब जीव और ब्रह्म में किंचित् भी अन्तर नहीं रहता। इस दृष्टि से जितने भी जीव हैं, उन सबका ब्रह्म ही बनना संभाव्य है। शर्त है केवल अपने को निर्मल, विशुद्ध और निर्विकार-वीतराग बनाना।

जैन दर्शन के ईश्वर विषयक इस भिन्न दृष्टिकोण के कारण आलोचकों में जैन रहस्यवाद को लेकर मत-वैभिन्य रहा है और उसे शंका की दृष्टि से देखा है। पर मुझे यह कहते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि डॉ. श्रीमती पुष्पलता जैन ने इस खतरे को उठाकर अपने इस शोध-प्रबन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्य-भावना' में विभिन्न शंकाओं का सुकर समाधान प्रस्तुत किया है दार्शनिक स्तर पर भी और साहित्यिक स्तर पर भी।

श्रीमती पुष्पलता जैन का अध्ययन विस्तृत और गहरा है। उन्होंने व्यापक फलक पर रहस्य-चिन्तन और रहस्य-भावना का विवेचन-विश्लेषण किया है। आठ परिवर्तों में विभाजित अपने शोध-प्रबंध में जहाँ एक ओर उन्होंने हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन, उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, आदिकालीन एवं मध्यकालीन जैन काव्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है वहाँ दूसरी ओर रहस्यभावना के स्वरूप, उसके बाधक एवं साधक तत्त्वों का विवेचन करते हुए जैन रहस्यभावना का सगुण, निर्गुण, सूफी व आधुनिक रहस्यभावना के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका अध्ययन आलोचना एवं गवेषणा से संयुक्त है। शताधिक जैन-जैनेतर कवियों की रचनाओं का आलोड़न-विलोड़नकर उन्होंने अपने जो निष्कर्ष दिये हैं वे प्रमाणपुरस्सर होने के साथ-साथ नवीन दृष्टि और चिन्तन लिये हुए हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह कृति हिन्दी काव्य की रहस्यधारा को समग्र रूप से समझने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायेगी।

डॉ० नरेन्द्र भानावत

23 अप्रेल, 1984

एसोसियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

विषयानुक्रम

उपस्थापना

व्यक्ति और सृष्टि के सर्जक तत्वों की गवेषणा एक रहस्यवादी तत्व है और संभवत: इसीलिये चिन्तकों और शोधकों में यह विषय विवादास्पद बना रहा है अनुभव के माध्यम से किसी सत्य और परम आराध्य को खोजना इसकी मूलप्रवृत्ति रही है। इस मूलप्रवृत्ति की परिपूर्ति मे साधक की जिज्ञासा और तर्कप्रधान बुद्धि विवेक योग-दान देती है। यहीं से दर्शन का जन्म होता है।

इसमे साधक स्वय के मूल रूप में केन्द्रित साध्य की प्राप्ति का सुनिश्चित लक्ष्य निर्मित कर लेता है। साध्य की प्राप्ति काल में व्यक्तित्व का निर्माण होता है और इस व्यक्तित्व की सर्जना में अध्यात्म चेतना का प्रमुख हाथ रहता है।

मानव स्वभावतया सृष्टि के रहस्य को जानने का तीव्र इच्छुक रहता है। उसके मन में सदैव यह जिज्ञासा बनी रहती है कि इस सृष्टि का रचयिता कौन है? शरीर का निर्माण कैसे होता है ? शरीर के अन्दर वह कौन सी शक्ति है, जिसके अस्तित्व से उसमें स्पंदन होता है और जिसके अभाव में उस स्पंदन का लोप हो जाता है ? यदि इस शक्ति को आत्मा या ब्रह्म कहा जाय तो वह नित्य है अथवा अनित्य ? उसके नित्यत्व अथवा अनित्यत्व की स्थिति में कर्मों का क्या सम्बन्ध है और कर्मों से मुक्ति पाने पर उस शक्ति का क्या स्वरूप है ? रहस्यवाद के ये प्रश्नचिह्न है और इन प्रश्न चिन्हों का समाधान जैन-सिद्धान्त में अत्यन्त सुलझे और सरल ढंग से अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर किया गया है।

इस रहस्यवाद की [illegible] के अन्वेषण में हर देश [illegible] प्रयत्न किये गये है और उन प्रयत्नों का एक विशेष इतिहास बना हुआ है। हमारी भारत वसुन्धरा पर वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक दार्शनिकों ने इन प्रश्नों पर चिंतन-मनन किया है और उसका निष्कर्ष ग्रन्थों के पृष्ठों पर अंकित [illegible] है। उपनिषद् काल में इस रहस्यवाद पर विशेष रूप से विचार प्रारम्भ हुआ और उसकी परिणति तत्कालीन अन्य भारतीय दर्शनों में जागृत हुई। यद्यपि इसका इतिहास [illegible]

में प्राप्त योगी की मूर्तियों में भी देखा जा सकता है, परन्तु जब तक उसकी लिपि का परिज्ञान नहीं होता, इस सन्दर्भ में निश्चित नहीं का जा सकता। मुंडकोपनिषद् के ये शब्द चिंतन की भूमिका पर बार-बार उतरते हैं जहां पर कहा गया है कि ब्रह्म न नेत्रों से, न वचनों से, न तप से और न कर्म से गृहीत होता है। विशुद्ध प्राणी उस ब्रह्म को ज्ञान-प्रसाद से साक्षात्कार करते हैं—

न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान—प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कले ध्यायमानः ॥

रहस्यवाद का यह सूत्र पालि-त्रिपिटक और प्राचीन जैनागमों में भी उपलब्ध होता है। मज्झिमनिकाय का वह सन्दर्भ जैन-रहस्यवाद की प्राचीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसमें कहा गया है कि निगण्ठ अपने पूर्व कर्मों की निर्जरा तप के माध्यम से कर रहे हैं। इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जैन सिद्धांत मे आत्मा के विशुद्ध रूप को प्राप्त करने का अथक प्रयत्न किया जाता था। ब्रह्म जालसुत में अप-रान्तदिट्ठि के प्रसंग में भगवान बुद्ध ने आत्मा को अरूपी और नित्य स्वीकार किये जाने के सिद्धांत का उल्लेख किया है। इसी सुत्त में जैन-सिद्धांत की दृष्टि में रहस्य वाद व अनेकान्तवाद का भी पता चलता है।

रहस्यवाद के इस स्वरूप को किसी ने गुह्य माना और किसी ने स्वसंवेद्य स्वीकार किया। जैन संस्कृति में मूलतः इसका "स्वसंवेद्य" रूप मिलता है जब कि जैनेतर संस्कृति में गुह्य रूप का प्राचुर्य देखा जाता है। जैन सिद्धांत का हर कोना स्वयं की अनुभूति से भरा है उसका हर पृष्ठ निजानुभव और चिदानन्द चैतन्यमय रस से आप्लावित है। अनुभूति के बाद तर्क का भी अपलाप नहीं किया गया बल्कि उसे एक विशुद्ध चिंतन के धरातल पर खड़ा कर दिया गया। भारतीय दर्शन के लिए तर्क का यह विशिष्ट स्थान-निर्धारण जैन संस्कृति का अनन्य योगदान है।

रहस्य भावना का क्षेत्र असीम है। उस अनन्तशक्ति के स्रोत को खोजना ससीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है। अतः असीमता और परम विशुद्धता तक पहुंच जाना तथा चिदानन्द-चैतन्यरस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इसलिए रहस्यवाद किंवा दर्शन का प्रस्थान बिन्दु संसार है जहां प्रात्यक्षिक और अप्रात्यक्षिक सुख-दुःख का अनुभव होता है और साधक चरम लक्ष्य रूप परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करता है। वहां पहुंचकर वह कृतकृत्य हो जाता है और अपना भवचक्र समाप्त कर लेता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग ही रहस्य बना हुआ है।

उक्त रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्वों को आधार बनाया जा सकता है :—

1. जिज्ञासा या औत्सुक्य,
2. संसारचक्र में भ्रमण करनेवाले आत्मा का स्वरूप,
3. संसार का स्वरूप,
4. संसार से मुक्त होने के उपाय और
5. मुक्त-अवस्था की परिकल्पना।

आदिकाल से ही रहस्यवाद अगम्य, अगोचर गूढ़ और दुर्बोध्य माना जाता रहा है। वेद, उपनिषद्, जैन और बौद्ध साहित्य में इसी रहस्यात्मक अनुभूतियों का विवेचन उपलब्ध होता है यह बात अलग है कि आज का रहस्यवाद शब्द उस समय तक प्रचलित न रहा हो। 'रहस्य' सर्वसाधारण विषय है। स्वकीय अनुभूति उसमें संगठित है। अनुभूतियों की विविधता मत वैभिन्य को जन्म देती है। प्रत्येक अनुभूति वाद-विवाद का विषय बना है। शायद इसीलिए एक ही सत्य को पृथक् पृथक् रूप में उसी प्रकार अभिव्यंजित किया गया जिस प्रकार छह अन्धों के द्वारा हाथी के अंगो-पांगों की विवेचना कवियों ने इस तथ्य को सरल और सरस भाषा में प्रस्तुत किया है। उन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम और उसकी अनुभूति को "गूंगे का-सा—गुड़" बताया है—

'अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय।
गूंगे केरि सरकरा, बैठा मुसकाई।"

जैन रहस्यवाद परिभाषा और विकास

रहस्यवाद शब्द अंग्रेजी "Mysticism" का अनुवाद है, जिसे प्रथमत: सन् 1920 में श्री मुकुटधर पांडेय ने छायावाद विषयक लेख में प्रयुक्त किया था। प्राचीन काल में इस सन्दर्भ में आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहां साधक आत्मा परमात्मा, स्वर्ग, नरक, राग-द्वेष आदि के विषय में चिन्तन करता था। धीरे-धीरे आचार और विचार का समन्वय हुआ और दार्शनिक चिन्तन आगे बढ़ने लगा। कालान्तर में दिव्य शक्ति की प्राप्ति के लिए परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण और अनुसरण होने लगा। उस 'परम' व्यक्तित्व के प्रति भाव उमड़ने लगे और उसका साक्षात्कार करने के लिए विभिन्न मार्गों का आचरण किया जाने लगा। जैनदर्शन की रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद भी इसी पृष्ठभूमि में दृष्टव्य है।

रहस्यवाद की परिभाषा समय, परिस्थिति और चिन्तन के अनुसार परिवर्तित होती रही है। प्राय: प्रत्येक दार्शनिक ने स्वयं से सम्बन्धित दर्शन के अनुसार पृथक् रूप से चिंतन और आराधन किया है और उसी साधना के बल पर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषाएं भी उनके अपने ढंग से अभिव्यंजित हुई हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी रहस्यवाद की

परिभाषा पर विचार किया है। बर्ट्रेन्डरसेल का कहना है कि रहस्यवाद ईश्वर को समझने का प्रमुख साधन है। इसे हम स्वसंवेद्य ज्ञान कह सकते हैं जो तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है।[1] फ्लीडर रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति मानते हैं।[2] प्रिंगिल पेटीसन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति चरम सत्य के ग्रहण करने के प्रयत्न में होती है। इससे आनन्द की उपलब्धि होती है। बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना उसका दार्शनिक पक्ष है और ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द-उपभोग करना उसका धार्मिक पक्ष है ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है।[3] यहां रहस्यवाद अनुभूति के ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानी गयी है। आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर मंथन किया है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैत-वाद कहते हैं भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा की है—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।"[4]

और भी अन्य आधुनिक विद्वानों ने रहस्यवाद की परिभाषाएं की है। उन परिभाषाओं के आधार पर रहस्यवाद की सामान्य विशेषताएं इस प्रकार कही जा सकती हैं—

1. आत्मा और परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति।
2. तादात्म्य।
3. विरह-भावना।
4. भक्ति, ज्ञान और योग की समन्वित साधना।
5. सद्गुरु और उनका सत्संग।

प्रायः ये सभी विशेषताएं वैदिक संस्कृति और साहित्य में अधिक मिलती हैं। जैन रहस्यवाद मूलतः इन विशेषताओं से कुछ थोड़ा भिन्न था। उक्त परिभाषाओं में साधक ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाता है। पर जैन धर्म ने ईश्वर का

---

1. Mysticism and Logic, Page 6-17
2. Mysticism in Religion, P 25
3. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद—डॉ. रामनारायण पाण्डेय, पृ. 6
4. कबीर का रहस्यवाद, पृ. 9

स्वरूप उस रूप में नहीं माना जो रूप वैदिक संस्कृति में प्राप्त होता है। वह हमारी सृष्टि का कर्ता-हर्ता और धर्ता नहीं है। इसी भिन्नता के कारण प्राचीन प्राचीन परम्परा में जैन दर्शन को नास्तिक कह दिया गया था। वहां नास्तिकता का तात्पर्य था, वेद-निंदक। परन्तु यह वर्गीकरण नितान्त आधार हीन था। इसमें तो जैन और बौद्धों के अतिरिक्त वैदिक शाखा के ही मीमांसा और सांख्य-दर्शन भी इस नास्तिक की परिभाषा की सीमा में आ जायेंगे। प्रसन्नता का विषय है कि आज विद्वान 'नास्तिक' की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते। नास्तिक वही है, जिसके मत में पुण्य और पाप का कोई महत्व न हो। जैनदर्शन इस दृष्टि से आस्तिक दर्शन है। उसमें स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की व्यवस्था स्वयं के कर्मों पर आधारित है। उसमें ईश्वर अथवा परमात्मा साधक के लिए दीपक का काम अवश्य करता है, परन्तु वह किसी पर कृपा नहीं करता, इसलिए कि वह वीतरागी है।

जैन दर्शन की उक्त विशेषता के आधार पर रहस्यवाद की आधुनिक परिभाषा को हमें परिवर्तित करना पड़ेगा। जैन चिंतन शुभोपयोग को शुद्धोपयोग की प्राप्ति मे सहायक कारण मानता अवश्य है पर शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाने पर अथवा उसकी प्राप्ति के पथ में पारमार्थिक दृष्टि से उसका कोई उपयोग नहीं। इस पृष्ठभूमि पर हम रहस्यवाद को परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं।

"अध्यात्म की चरम सीमा की अनुभूति रहस्यवाद है। यह वह स्थिति है, जहां आत्मा विशुद्ध परमात्मा बन जाता है और वीतरागी होकर चिदानन्द रस का पान करता है।"

रहस्यवाद की यह परिभाषा जैन साधना की दृष्टि से प्रस्तुत की गयी है। जैन साधना का विकास यथासमय होता रहा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। यह विकास तत्कालीन प्रचलित जैनेतर साधनाओं से प्रभावित भी रहा है। इस आधार पर हम जैन रहस्यवाद के विकास को निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) आदिकाल—प्रारम्भ से लेकर ई. प्रथम शती तक।
(2) मध्यकाल—प्रथम-द्वितीय शती से 7–8 वीं शती तक।
(3) उत्तरकाल—8 वीं 9 वीं शती से आधुनिक काल तक।

1. आदिकाल—वेद और उपनिषद् में ब्रह्म का साक्षात्कार करना मुख्य लक्ष्य माना जाता था। जैन रहस्यवाद, जैसा हम ऊपर कह चुके है, ब्रह्म अथवा ईश्वर को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करता। यहां जैन-दर्शन अपने तीर्थंकर को परमात्मा मानता है और उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर साधक स्वयं को उसी के समकक्ष बनाने का प्रयत्न करता है। वृषभदेव, महावीर आदि तीर्थंकर ऐसे ही रहस्यदर्शी महापुरुषों में प्रमुख हैं।

हम इस काल को सामान्यतः जैन धर्म के आविर्भाव से लेकर प्रथम शती तक निश्चित कर सकते हैं। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर आदिनाथ ने हमें साधना पद्धति का स्वरूप दिया। उसी के आधार पर उत्तर कालीन तीर्थंकर और आचार्यों ने अपनी साधना की। इस सन्दर्भ में हमारे सामने दो प्रकार की रहस्य-साधनाएं साहित्य में उपलब्ध होती हैं —1. पार्श्वनाथ परम्परा की रहस्य साधना, और 2. निर्गंठ नातपुत्त परम्परा की रहस्य साधना।

भगवान पार्श्वनाथ जैन परम्परा के 23 वे तीर्थंकर कहे जाते हैं। उनसे भगवान महावीर, जिन्हें पालि साहित्य में निगण्ठनातपुत्त के नाम से स्मरण किया गया है, लगभग 250 वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे। त्रिपिटक में उनके साधनात्मक रहस्यवाद को चातुर्याम संवर के नाम से अभिहित किया गया है। ये चार संवर इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह हैं उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में भी इनका विवरण मिलता है। पार्श्वनाथ के इन व्रतों में से चतुर्थ व्रत में ब्रह्मचर्य व्रत अन्तर्भूत था। पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण के बाद इन व्रतों के आचरण में शैथिल्य आया और फलतः समाज ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होने लगा। पार्श्वनाथ की इस परम्परा को जैन परम्परा में 'पार्श्वस्थ' अथवा 'पासत्थ' कहा गया है।

निगण्ठनाथपुत्त अथवा महावीर के आने पर इस आचारशैथिल्य को परखा गया। उसे दूर करने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का विभाजन कर निम्नांकित पंच व्रतों को स्वीकार किया—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महावीर के इन पंचव्रतों का उल्लेख जैन आगम साहित्य मे तो आता ही है पर उनकी साधना के जो उल्लेख पालि साहित्य मे मिलते हैं। वे ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।[1] इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्री पं. पदमचंद शास्त्री ने आगमों के ही आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पार्श्वनाथ के पंच महाव्रत थे, चातुर्याम नहीं (अनेकान्त, जून 1977)। इस पर अभी मथन होना शेष है।

महावीर की रहस्यवादी परम्परा अपने मूलरूप मे लगभग प्रथम सदी तक चलती रही। उसमें कुछ विकास अवश्य हुआ, पर वह बहुत अधिक नहीं। यहां तक आते-आते आत्मा के तीन स्वरूप हो गये। अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। साधक बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में आत्मा और परमात्मा में एकाकारता हो जाती है—

---

1. विशेष देखिये—डॉ. भागचन्द जैन भास्कर का ग्रन्थ 'जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, तृतीय अध्याय-जैन ईथिक्स

तिपयारो सो अप्पा परयंतरबाहिरो हु देहीणं ।
तथ्य परो झाइज्जइ, अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ।।[1]

जैन रहस्यवाद के इतिहास के मूल-सर्जक और प्रस्थापक आचार्य हैं कुन्द-कुन्द, जिनके ग्रंथ आत्मा के मूल स्वरूप को प्राप्त करने का रहस्य प्रस्तुत करते हैं। जैन-दर्शन में हर आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है इस दृष्टि से यहां आत्मा के तीन भेद बतलाये हैं—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। पंचेन्द्रियों से परे मन के द्वारा देखा जाने वाला "मैं हूं" इस स्वसंवेदन स्वरूप अन्तरात्मा होता है। इन्द्रियों के स्पर्शनादि द्वारा पदार्थज्ञान कराने वाला बहिरात्मा है और ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, रागद्वेषादिक भावकर्म, शरीरादिक नोकर्म रहित अनन्त-ज्ञानादिक गुण सहित परमात्मा होता है। अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान किया जाता है। यह परमात्मा परमानंद स्थित, सर्व कर्म विमुक्त, शाश्वत और सिद्ध है—

"तिपयरो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं ।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ।।
"अक्खाणि बहिरप्पा अन्तर अप्पाहु अत्थसंकप्पो ।
कम्मकलंक विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ।।[2]

इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य निस्संदेह प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते है। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थों में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। ये ग्रन्थ प्राचीन जैन अंग साहित्य पर आधारित रहे हैं जहां आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का स्वर गुञ्जित होता है। आचारांग मूल प्राचीनतम अंग ग्रन्थ है। यहां जैन धर्म मानव धर्म के रूप में अधिक मुखर हुआ है। वहां 'आरिएहिं" शब्द से प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुए समता को ही धर्म कहा है—समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते।

आचारांग का प्रारम्भ वस्तुतः "इय मेगेसिणो सण्णा भवइ" (इस संसार मे किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता) सूत्र से होता है इस सूत्र में आत्मा का स्वरूप तथा संसार मे उसके भटकने के कारणों की ओर इंगित हुआ है। 'संज्ञा' (चेतना) शब्द अनुभव और ज्ञान को समाहित किये हुये हैं। अनुभव मुख्यतः सोलह प्रकार के होते हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, मोह, सुख, दुःख,

1. मोक्खपाहुड़—कुन्दकुन्दाचार्य 4

भ. पार्श्व के पंच महाव्रत-अनेकांत, वर्ष 30, किरण 1, पृ. 23-27. जून मार्च 1977

2. मोक्खपाहुड

मोह विचिकित्सा, शोक और धर्म। ज्ञान के पांच भेद है—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान। इस सूत्र में विशिष्ट ज्ञान के अभाव की ही बात की गई है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि व्यक्ति संसार में मोहादिक कर्मों के कारण भटकता रहता है। जो साधक यह जान लेता है वही व्यक्ति आत्मज्ञ होता है। उसी को मेधावी और कुशल कहा गया है। ऐसा साधक कर्मों से बंधा नहीं रहता। वह तो अप्रमादी बनकर विकल्प जाल से मुक्त हो जाता है। यहां अहिंसा, सत्य आदि का विवेचन मिलता है पर उसका वर्गीकरण नहीं दिखाई देता। उसी तरह कर्मों और उनके प्रभावों का वर्णन तो है पर उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन दिखाई नहीं देता। कुन्दकुन्दाचार्य तक आते-आते इन धर्मों का कुछ विकास हुआ जो उनके ग्रंथों में प्रतिबिम्बित होता है।

2. मध्यकाल

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उनके ही पद चिन्हों पर आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, मुनि योगेन्दु आदि आचार्यों ने रहस्यवाद का अपनी सामयिक परिस्थितियों के अनुसार विश्लेषण किया। यह दार्शनिक युग था। उमास्वाति ने इसका सूत्रपात किया था और माणिक्यनन्दी ने उसे चरम विकास पर पहुंचाया था। इस बीच जैन रहस्य वाद दार्शनिक सीमा मे बद्ध हो गया। इसे हम जैन दार्शनिक रहस्यवाद भी कह सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तो के अन्य विकास के साथ एक उल्लेखनीय विकास यह था कि आदिकाल में जिस आत्मिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया था और इन्द्रिय प्रत्यक्ष को परोक्ष कहा गया था, उस पर इस काल मे प्रश्न-प्रतिप्रश्न खड़े हुए। उन्हें सुलझाने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये- सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यहा निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से विश्लेषण किया गया। साधना के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

इस काल मे वस्तुतः साधना का क्षेत्र विस्तृत हुआ। आत्मा के स्वरूप की खूब मीमांसा हुई। उपयोगात्मकता पर अधिक जोर दिया गया, कर्मों के भेद-प्रभेद पर मंथन हुआ और ज्ञान-प्रमाण को भी चर्चा का विषय बनाया गया। दर्शन के सभी अंगों पर तर्कनिष्ठ ग्रन्थो की भी रचना हुई। पर इस युग मे साधना का वह रूप नहीं दिखाई देता जो आरम्भिक काल मे था। साधना का तर्क के साथ उतना सामञ्जस्य बैठता भी नही है। इसके बावजूद दर्शन के साथ साधना और भक्ति का निर्झर सूख नहीं पाया बल्कि सुधारात्मक तत्वों के साथ वह भक्ति आन्दोलन का रूप ग्रहण करता गया। इस काल में दार्शनिक उथल-पुथल बहुत हुई और क्रिया काण्ड की ओर प्रवृत्तियां बढ़ने लगी। "अप्पा सो परमप्पा" अथवा" सब्बे सुद्ध हु

छूट गया" जैसे वाक्यों की ऐकान्तिक दृष्टि की ओर खींचा जाने लगा। निश्चय नय और व्यवहार नय के सामञ्जस्य की ओर ध्यान देकर किसी एक पक्ष की ओर झुकाव अधिक हो गया। इस संदर्भ में बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में स्वामी समन्तभद्र का कथन द्रष्टव्य है जहाँ वे कहते हैं कि हे भगवन्! आपको हमारी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आप वीतराग हैं और न आपको निन्दा से कोई प्रयोजन है, क्योंकि आपने वैरभाव को समूल नष्ट कर दिया है, फिर भी हम श्रद्धा-भक्ति पूर्वक जो भी आपके गुणों का स्मरण करते हैं वह इसलिए कि ऐसा करने से पाप वासनाओं और मोह-राग द्वेषादि भावों से मलिन मन तत्काल पवित्र हो जाता है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निंदया नाथ विवांतवैरे।
तथापि ते पुण्य गुण स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितां जनेभ्यः॥

इस युग में मुनि योगेन्दु का भी योगदान उल्लेखनीय है। इनका समय यद्यपि विवादास्पद है फिर भी हम उसे लगभग 8 वी 9 वीं शताब्दी तक निश्चित कर सकते हैं। इनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ निर्विवाद रूप से हमारे सामने हैं—(1) परमात्मसार और (2) योगसार। इन ग्रंथो मे कवि ने निरंजन आदि कुछ ऐसे शब्द दिये है जो उत्तरकालीन रहस्यवाद के अभिव्यंजक कहे जा सकते हैं। इन ग्रन्थो में अनुभूति का प्राधान्य है इसलिए कहा गया है कि परमेश्वर से मन का मिलन होने पर पूजा आदि क्रियाकर्म निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि दोनों एकाकार होकर समरस हो जाते है।

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूवाहं पुज्ज चडावउं कस्स॥ योगसार, 12

3. उत्तरकाल

उत्तरकाल मे रहस्यवाद की आचारगत शाखा में समयानुकूल परिवर्तन हुआ। इस समय तक जैनसंस्कृति पर वैदिक साधकों, राजाओं और मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा घनघोर विपदाओं के बादल छा गये थे। उनसे बचने के लिए आचार्य जिनसेन ने मनुस्मृति के आचार को जैनीकृत कर दिया, जिसका विरोध दसवी शताब्दी के आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू में मन्दस्वर में ही किया। इससे लगता है, तत्कालीन समाज उस व्यवस्था को स्वीकार कर चुकी थी। जैन रहस्यवाद की यह एक और सीढ़ी थी, जिसने उसे वैदिक संस्कृति के नजदीक ला दिया।

जिनसेन और सोमदेव के बाद रहस्यवादी कवियों में मुनि रामसिंह का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। उनका 'पाहुड़ दोहा' रहस्यवाद की परिभाषाओं से भरा पड़ा है। शिव-शक्ति का मिलन होने पर अद्वैतभाव की स्थिति आ जाती है और मोह विलीन हो जाता है।

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु ।
दोहि मि जाणहि सयलु-जगु बुज्झइ मोह विलीणु ॥वही 55 ॥

मुनि रामसिंह के बाद रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का कुछ और विकास होता गया। इस विकास का मूल कारण भक्ति का उद्रेक था। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष महाकवि बनारसीदास जैसे हिन्दी जैन कवियों में देखा जा सकता है। नाटक समयसार, मोहविवेक—युद्ध, (बनारसीदास) आदि ग्रंथों में उन्होंने भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के जिस समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है वह देखते ही बनता है। 'सुमति' को पत्नी और चेतन को पति बनाकर जिस आध्यात्मिक विरह को उकेरा है, वह स्पृहणीय है। आत्मा रूपी पत्नि और परमात्मा रूपी पति के वियोग का भी वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। अन्त में आत्मा को उसका पति उसके घर अन्तरात्मा में ही मिल जाता है। इस एकत्व की अनुभूति को महाकवि बनारसीदास ने इस प्रकार वर्णित किया है—

पिय मोरे घट मैं पिय माहिं। जल तरंग ज्यों दुविधा नाहिं ॥
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ॥
पिय सुख सागर मैं सुख-सींव। पिय सुख-मंदिर मै शिव-नींव ॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवल बानि ॥[1]

ब्रह्म-साक्षात्कार रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियों में अन्यतम है। जैन साधना में परमात्मा को ब्रह्म कह दिया गया है। बनारसीदास ने तादात्म्य अनुभूति के सन्दर्भ मे अपने भावों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

"बालक तुहुं तन चितवन गागरि कूटि,
अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, बालम ॥1॥
पिग सुधि पावत वन मे पैसिउ पेलि,
छाड़त राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ॥"2॥[2]

रहस्य भावनात्मक इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त समग्र जैन साहित्य में, विशेषरूप से हिन्दी जैन साहित्य में और भी प्रवृत्तियां सहज रूप में देखी जा सकती है। वहां भावनात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद उपलब्ध होते हैं। मोह- राग द्वेष आदि को दूर करने के लिए सत्गुरु और सत्संग की आवश्यकता तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चरित्र की समन्वित साधना की अभिव्यक्ति हिन्दी जैन रहस्यवादी कवियों की लेखनी से बड़ी ही सुन्दर, सरल

---

1. बनारसीविलास, पृ. 161.
2. वही, पृ. 228.

भाषा में प्रस्फुटित हुई है। इस दृष्टि से सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, जिनदास का चेतनगीत, जगतराम का आगमविलास, भवानीदास का 'चेतन सुमति सज्झाय' भगवतीदास का योगीरासा, रूपचंद का परमार्थगीत' द्यानतराय का द्यानतविलास. आनन्दघन का आनंदघन बहोत्तरी, भूधरदास का भूधरविलास आदि ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं।

आध्यात्मिक साधना की चरम परिणति रहस्य की उपलब्धि है। इस उपलब्धि के मार्गों में साधक एक मत नहीं। इसकी प्राप्ति में साधकों ने शुभ-अशुभ अथवा कुशल-अकुशल कर्मों का विवेक खो दिया। बौद्ध-धर्म के सहजयान, मंत्रयान, तंत्रयान वज्रयान आदि इसी साधना के वीभत्स रूप हैं। वैदिक साधनाओं में भी इस रूप के दर्शन स्पष्ट दिखाई देते हैं। यद्यपि जैन धर्म भी इससे अछूता नहीं रहा परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि उसमें श्रद्धा और भक्ति का अतिरेक तो अवश्य हुआ, विभिन्न मंत्रों और सिद्धियों का आविष्कार भी हुआ किन्तु उन मंत्रों और सिद्धियों की परिणति वैदिक अथवा बौद्ध संस्कृतियों में प्राप्त उस वीभत्स रूप जैसी नहीं हुई। यही कारण है कि जैन संस्कृति के मूल स्वरूप अक्षुण्ण तो नहीं रहा पर गर्हित स्थिति में भी नहीं पहुंचा।

जैन रहस्य भावना के उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जैन रहस्यवादी साधना का विकास उत्तरोत्तर होता गया है, पर वह विकास अपनी मूल साधना के स्वरूप से उतना दूर नहीं हुआ जितना बौद्ध साधना का स्वरूप अपने मूल स्वरूप से उत्तरकाल में दूर हो गया। यही कारण है कि जैन रहस्यवाद ने जैनेतर साधनाओं को पर्याप्त रूप से प्रबल स्वरूप में प्रभावित किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध को आठ परिवर्तों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिवर्त में मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि का अवलोकन है। सामान्यतः भारतीय इतिहास का मध्यकाल सप्तम शती से माना जाता है परन्तु जहां तक हिन्दी साहित्य के मध्य काल की बात है उसका काल कब से कब तक माना जाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमने इस काल की सीमा का निर्धारण वि. सं. 1400 से वि. सं. 1900 तक स्थापित किया है। वि. सं. 1400 के बाद कवियों को प्रेरित करने वाले सांस्कृतिक आधार में वैभिन्य दिखाई पड़ता है। फलस्वरूप जनता की चित्तवृत्ति और रुचि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप जनता की रुचि जीवन से उदासीन और भगवत् भक्ति में लीन होकर आत्म कल्याण करने की ओर उन्मुख थी इसलिए कविगण(इस विवेच्य काल में भक्ति और अध्यात्म सम्बन्धी रचनायें करते दिखाई देते हैं। जैन कवियों की इस प्रकार की रचनायें लगभग वि. सं. 1900 तक मिलती हैं अतः इस सम्पूर्ण काल को मध्यकाल नाम देना ही अनुकूल प्रतीत होता है। इसके पश्चात् हमने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की संक्षिप्त

रूपरेखा प्रस्तुत की है। जिसके अन्तर्गत राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक पृष्ठ भूमि को स्पष्ट किया है। इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हिन्दी जैन साहित्य का निर्माण हुआ है।

द्वितीय परिवर्त में हिन्दी जैन साहित्य के आदिकाल की चर्चा की गई है। इस संदर्भ में हमने अपभ्रंश भाषा और साहित्य को भी प्रवृत्तियों की दृष्टि से समाहित किया है। यह काल दो भागों में विभक्त किया है—साहित्यिक अपभ्रंश और अपभ्रंश परवर्ती लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी रचनाएं। प्रथम वर्ग के स्वयंभूदेव, पुष्पदंत आदि कवि हैं और द्वितीय वर्ग मे शालिभद्र सूरि जिन-पद्मसूरि आदि विद्वान उल्लेखनीय है। भाषागत विशेषताओ का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य ने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकालको बहुत प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा, स्ववाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धांतों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अमिट छाप छोड़ी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थो में सहजता पूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह आद्य कड़ी है। इसलिए अपभ्रंश की कतिपय मुख्य विशेषताओ की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है।

तृतीय परिवर्त में मध्यकालीन हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) के रूप में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। चूंकि भक्तिकाल मे निर्गुण और सगुण विचारधारायें समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही है तथा रीतिकाल में भी भक्ति सम्बन्धी रचनायें उपलब्ध होती है। अत: हमने इसका धारागत विभाजन न करके काव्य प्रवृत्यात्मक वर्गीकरण करना अधिक सार्थक माना। जैन साहित्य का उपर्युक्त विभाजन और भी संभव नही क्योकि वहां भक्ति से सम्बद्ध अनेक धारायें मध्यकाल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रही हैं। इतना ही नहीं, भक्ति का काव्य स्रोत जैन आचार्यों और कवियों की लेखनी से हिन्दी के आदिकाल मे भी प्रवाहित हुआ है। अत: हिन्दी के मध्ययुगीन जैन काव्यो का वर्गीकरण काव्यात्मक न करके प्रवृत्यात्मक करना अधिक उपयुक्त समझा। इस वर्गीकरण में प्रधान और गौण दोनों प्रकार की प्रवृत्तियो का आकलन हो जाता है।

जैन कवियो और आचार्यों ने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पैठकर अनेक साहित्यिक विधाओ को प्रस्फुटित किया है। उनकी इस अभिव्यक्ति को हमने निम्नांकित काव्य रूपों में वर्गीकृत किया है—

1. प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य, खण्डकाव्य, पौराणिक काव्य, कथा काव्य चरित काव्य, रासा साहित्य आदि।
2. रूपक काव्य—होली, विवाहलो, चेतनकर्म चरित आदि
3. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य—स्तवन, पूजा, चौपाई, जयमाला, चांचर, फागु, चूनड़ी, बेलि, संख्यात्मक, बारहमासा आदि।
4. गीति काव्य—विविध प्रसंगों और फुटकर विषयों पर लिखित गीत
5. प्रकीर्णक काव्य—लाक्षणिक, कोश, गुर्वावली, आत्मकथा आदि।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी प्रवृत्तियां मूलत आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर प्रस्फुटित हुई हैं। इन रचनाओं में आध्यात्मिक उद्देश्य प्रधान है जिससे कवि की भाषा आलंकारिक न होकर स्वाभाविक और सात्विक दिखती है। उसका मूल उत्स रहस्यात्मक अनुभव और भक्ति रहा है।

चतुर्थ परिवर्त रहस्यभावना के विश्लेषण से सम्बद्ध है। इसमें हमने रहस्य भावना और रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए रहस्यवाद की विविध परिभाषाओं का समीक्षण किया है और उसकी परिभाषा को एकांगिता के संकीर्ण दायरे से हटाकर सर्वांगीण बनाने का प्रयत्न किया है। हमारी रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार है—"रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूति पूर्वक आत्म तत्व से परम तत्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अध्यात्म की चरमोत्कर्ष अवस्था की अभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। यहीं हमने जैन रहस्य साधकों की प्राचीन परम्परा को प्रस्तुत करते हुए रहस्यवाद और अध्यात्मवाद के विभिन्न आयामों पर भी विचार किया है। इसी सन्दर्भ में जैन और जैनेतर रहस्यभावना में निहित अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

यहां यह भी उल्लेख्य है कि जैन रहस्य साधना में आत्मा की तीन अवस्थायें मानी गयी है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा बहिरात्मा में जीव जन्म-मरण के कारण स्वरूप भौतिक सुख के चक्कर में भटकता रहता है। द्वितीयावस्था (अन्तरात्मा) में पहुंचने पर संसार के कारणों पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन करने से आत्मा अन्तरात्मा की ओर उन्मुख हो जाता है। फलतः वह भौतिक सुखों को क्षणिक और त्याज्य समझने लगता है। तृतीयावस्था (परमात्मा, ब्रह्मसाक्षात्कार) की प्राप्ति के लिए साधनात्मक और भावनात्मक प्रयत्न करता है। इन्हीं तीनों अवस्थाओं पर आगे के तीन अध्यायों में क्रमशः प्रकाश डाला है।

पंचम परिवर्त में रहस्यभावना के बाधक तत्वों को स्पष्ट किया गया है। रहस्यसाधना का चरमोत्कर्ष ब्रह्मसाक्षात्कार है। साहित्य में इसको आत्म-साक्षात्कार परमात्मपद, परम सत्य, अजर-अमर पद, परमार्थ प्राप्ति आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। अतः हमने इस अध्याय में आत्म चिन्तन को रहस्यभावना का केन्द्र बिन्दु माना है। आत्मा ही साधना के माध्यम से स्वानुभूति पूर्वक अपने मूल रूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए साधक को एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। हमने यहाँ रहस्यभावना के मार्ग के बाधक तत्वों को जैन सिद्धांतों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उनमें सांसारिक विषय-वासना शरीर से ममत्व, कर्मजाल, माया-मोह, मिथ्यात्व, बाह्याडम्बर और मन की चंचलता पर विचार किया है। इन कारणों से साधक बहिरात्म अवस्था में ही पड़ा रहता है।

षष्ठ परिवर्त रहस्यभावना के साधक तत्वों का विश्लेषण करता है। इस परिवर्त में सद्गुरु की प्रेरणा, नरभव दुर्लभता, आत्म- संबोधन, आत्मचिन्तन, चित्त शुद्धि, भेदविज्ञान और रत्नत्रय जैसे रहस्यभावना के साधक तत्वों पर मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य के आधार पर विचार किया गया है। यहां तक आते-आते साधक अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

सप्तम परिवर्त रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है। इस परिवर्त में अन्तरात्मावस्था प्राप्त करने के बाद तथा परमात्मावस्था प्राप्त करने के पूर्व उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति को ही रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का नाम दिया गया है। आत्मा की तृतीयावस्था प्राप्त करने के लिए साधक दो प्रकार के मार्गों का अवलम्बन लेता है—साधनात्मक और भावनात्मक। इन प्रकारों के अन्तर्गत हमने क्रमशः सहज साधना, योग साधना, समरसता प्रपत्ति—भक्ति, आध्यात्मिक प्रेम, आध्यात्मिक होली, अनिर्वचनीयता आदि से सम्बद्ध भावों और विचारों को चित्रित किया है।

अष्टम परिवर्त में मध्यकालीन हिन्दी जैन एवं जैनेतर रहस्यवादी कवियों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस सन्दर्भ में मध्यकालीन सगुण. निर्गुण और सूफी रहस्यवाद की जैन रहस्यभावनाके साथ तुलना भी की गई है। इस सन्दर्भमें स्वानुभूति, आत्मा और ब्रह्म, सद्गुरु, माया, आत्मा-ब्रह्म का सम्बन्ध, विरहानुभूति, योग साधना, भक्ति, अनिर्वचनीयता आदि विषयों पर सांगोपांग रूप से विचार किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि को हमने बहुत संक्षेप में ही उपस्थित किया है और काल विभाजन के विवाद एवं नामकरण में भी हम नहीं उलझे। विस्तार और पुनरुक्ति के भय से हमने आदि कालीन और मध्य

कालीन हिन्दी जैन साहित्य को उनकी सामान्य प्रवृत्तियों में ही विभाजित करना उचित समझा। यह मात्र सूची जैसी अवश्य दिखाई देती है पर उसका अपना महत्व है। यहां हमारा उद्देश्य हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों को प्रत्येक प्रवृत्तिगत महत्वपूर्ण काव्यों की गणना से ज्ञापित कराना मात्र रहा है जिसका अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में किन्हीं कारणों वश उल्लेख नहीं हो पाया। उन प्रवृत्तियों के विस्तार में हम नहीं जा सके। जाना सम्भव भी नहीं था क्योंकि उसकी एक-एक प्रवृत्ति पृथक् पृथक् शोध प्रबन्ध की मांग करती प्रतीत होती है। तुलनात्मक अध्ययन को भी हमने संक्षिप्त किया है अन्यथा वह भी एक अलग प्रबन्ध-सा हो जाता। प्रस्तुत अध्ययन के बाद विश्वास है, रहस्यवाद के क्षेत्र में एक नया मानदण्ड प्रस्थापित हो सकेगा।

प्रायः हर जैन मंदिर में हस्तलिखित ग्रंथों का भण्डार है। परन्तु वे बड़ी बेरहमी से अव्यवस्थित पड़े हुए हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यदि शोधक उन्हें देखना चाहे तो उसे पूरी सुविधायें नहीं मिल पातीं। हमने अपने अध्ययन के लिए जिन-जिन शास्त्र भंडारों को देखा, सरलता कहीं नहीं हुई। जो भी अनुभव हुए, उनसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि शोधक के लिए इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रभूत सामग्री है पर उसे साहसी और सहिष्णु होना आवश्यक है।

अन्त में यहां पर लिखना चाहूंगी कि पृ. 243 (285) पर जो यह लिखा गया है कि न कोई निरंजन सम्प्रदाय था और न कोई हरीदास नाम का उसका संस्थापक ही था, गलत हो गया है। तथ्य यह है कि हरीदास (सं. 1512-95) इसके प्रवर्तक थे जिनका मुख्य कार्य क्षेत्र डीडवाना (नागौर) था; ऐसा डॉ० भानावत ने लिखा है।

इस प्रबन्ध लेखन में हमें मान्यवर प्रोफेसर व्ही. पी. श्रीवास्तव, भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिस्लाप कालेज, नागपुर का मार्गदर्शन मिला है। कृतज्ञ हैं। इसी तरह हिन्दी जैन साहित्य के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान डॉ. नरेन्द्र भानावत, रीडर हिन्दीविभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के भी हम आभारी हैं जिन्होंने बड़े स्नेहिल हृदय से प्राक्कथन लिखने का हमारा आग्रह स्वीकार किया।

इसके बाद हम सर्वाधिक ऋणी हैं अपनी मातेश्वरी श्वश्रू जी श्रीमती तुलसा देवी जैन के जिन्होंने हमेशा पारिवारिक अथवा गार्हस्थिक उत्तरदायित्वों से मुझे मुक्त-सा रखा। उनका पुनीत स्नेह हमारा प्रेरणा स्रोत रहा है। साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ कर सकी हूं, उनके आशीर्वाद का फल है। उनके चरणों में नतमस्तक हूं। उन्हीं को यह कृति समर्पित है। उनके साथ ही मैं अपने जीवन साथी डॉ. भागचन्द जैन भास्कर भूतपूर्व, अध्यक्ष पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्व-विद्यालय तथा

वर्तमान में प्रोफेसर एवं निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्व-विद्यालय, की भी चिर ऋणी हूं जिनसे जैन धर्म और दर्शन को समझने में सुविधा हुई है।

प्रस्तुत अध्ययन में जिन लेखकों और विद्वानों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला, उन सभी के प्रति 'कृतज्ञता व्यक्त करती हूं। विशेष रूप से सर्व श्री डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, अगरचंद नाहटा परमानन्द शास्त्री, डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल, डॉ. प्रेमसागर, डॉ. वासुदेव सिंह, डॉ गोविन्द त्रिगुणायत, डॉ. रामनारायण पांडे, डॉ नरेन्द्र भानावत प्रभृति के प्रति आभार व्यक्त करना चाहती हूं जिनके श्रम और शोध विवरण ने हमारे काम को कुछ हल्का कर दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सन् 1975 में नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी-.एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। लगभग आठ वर्षों बाद अब यह प्रकाश में आ रहा है। श्री दिगम्बर जैन महासभा तथा सन्मति विद्यापीठ के अध्यक्ष और निदेशक की भी मैं ऋणी हूं जिन्होंने इसको प्रकाशित कर साहित्य सेवा की। इस प्रसंग में विद्वान पाठकों से क्षमा भी मांगना चाहूंगी जिन्हें मुद्रण की अशुद्धियां पायस मे कंकण का अनुभव दे रही हैं।

श्री मती पुष्पलता जैन

तुलसा भवन
न्यू एक्सटेंशन एरिया,
सदर, नागपुर-440001
दि. 16-4-84

प्रथम परिवर्त

काल-विभाजन एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

काल विभाजन

सामान्यतः भारतीय इतिहास का मध्यकाल सप्तम शदी से माना जाता है। परन्तु जहां तक हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की बात है, उसका काल कब से कब तक माना जाय, यह एक विचारणीय प्रश्न है। आ. रामचन्द्र शुक्ल ने काल-विभाजन का आधार जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन को बताया है। उनका विचार है "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चला जाता है।"[1] रुचि विशेष में परिवर्तन के समय को निश्चितकर एवं उस साहित्य में निहित प्रभावशाली प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखकर ही काल-निर्धारण करना आवश्यक है। प्रायः इन विचारों को दृष्टि में रखकर हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहासकारों ने एक निश्चत समय में मिली कृतियों और उनमें निहित प्रवृत्तियों के आधार पर ही उसका नाम-करण और काल-विभाजन किया है।

इसके बावजूद हिन्दी साहित्य के काल दिभाजन का प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। डॉ० गियर्सन, मिश्र बन्धु, शिवसिंह सेंगर, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राहुल सांकृत्यायन, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के आदि-काल का प्रारंभ वि सं. 7वीं शती से 14वीं शती तक स्वीकार किया है। दूसरी ओर रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि विद्वान् उसका प्रारंभ 10वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी तक मानते हैं। इन विद्वानों में कुछ विद्वान आदि कालीन अपभ्रंश भाषा में लिखे साहित्य को पुरानी हिन्दी का रूप मानते हैं और कुछ हिन्दी साहित्य के विकास में उनका उल्लेख करते हैं।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण, सं, 2048, काल विभाग, पृ. 3

आ० रामचन्द्र शुक्ल के समय अपभ्रंश और विशेष रूप से हिन्दी जैन साहित्य का प्रकाशन नहीं हुआ था। जो कुछ भी हिन्दी जैन ग्रंथ उपलब्ध थे उन्हीं के आधार पर उन्होंने समूचे हिन्दी जैन साहित्य को अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में नितान्त धार्मिक, साम्प्रदायिक और शुष्क ठहरा दिया। उन्हीं का अनुकरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है "जो हिन्दी के पाठकों को यह समझाते फिरते हैं कि उसकी भूमिका जैनों और बौद्धों की साम्प्रदायिक सर्जना में है वे स्वयं भ्रम में हैं और उन्हें भी इस इहलाम से भ्रमित करना चाहते हैं। हिन्दी के शुद्ध साहित्य की भूमिका संस्कृत और प्राकृत की सर्जना में तो ढूंढी जा सकती है, पर अपभ्रंश की साम्प्रदायिक अर्चना में नहीं। अपभ्रंश के नैसर्गिक साहित्य-प्रवाह से भी उसका संबंध जोड़ा जा सकता है, पर जैनों के साम्प्रदायिक संवाह से नहीं।"[1]

परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस सिद्धान्त से सहमत नहीं। उनके अनुसार " धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नही घुस सकेगा।"[2] डा० भोलाशंकर व्यास ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।[3] लगभग दसवीं शती के पूर्व की भाषा में अपभ्रंश के तत्व अधिक मिलते हैं। यह स्वाभाविक भी है। इसे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने पुरानी हिन्दी कहा है।[4] राहुल सांकृत्यायन ने भी अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी माना है और हिन्दी काव्य धारा में लिखा है—"जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना और उसकी सुरक्षा में सबसे अधिक काम किया। वह ब्राह्मणों की तरह संस्कृत के अंध भक्त भी नहीं थे। अतएव जैनों ने देश भाषा में कथा साहित्य की सृष्टि की, जिसके कारण स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे अनमोल अद्वितीय कविरत्न हमें मिले। "स्वयंभू हमारे इसी युग में नहीं, हिन्दी कविता के पांचों युगों 1. सिद्ध सामन्त युग, 2. सूफी युग, 3. भक्ति युग, 4. दरबारी युग, 5. नवजागरण युग, के जितने कवियों को हमने यहाँ संग्रहीत

---

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग 2, अनुवचन, पृष्ठ 5,
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ. 11.
3. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, प्र. भा., काशी पृ. 347.
4. "कविता की प्रायः भाषा सब जगह एक सी ही थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता की ब्रजभाषा थी, वैसे ही अपभ्रंश को भी "पुरानी हिन्दी कहना अनुचित्त नहीं, चाहे कवि के देश-काल के अनुसार उसमे कुछ रचना प्रादेशिक हो।"

किया है, उसमें यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्वयंभू सबसे बड़ा कवि था। स्वयंभू के रामायण और महाभारत दोनों ही विशाल काव्य हैं।[1]

यह बड़ा विवादास्पद प्रश्न है कि अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों में आये हुए देशज शब्दों अथवा अपभ्रंश साहित्य की कतिपय प्रवृत्तियों को "पुरानी हिन्दी" का रूप स्वीकार किया जाय या नहीं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान अपभ्रंश भाषा और साहित्य का मूल्यांकन करते हुए भी उसे "पुरानी हिन्दी" का रूप स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। उन्होंने लिखा है—"यह विचार भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषाशास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिन्दी (खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी आदि) कहते हैं, वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई है। व्यवहार में पंजाब से लेकर बिहार तक बोली जाने वाली सभी उपभाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसका मुख्य कारण इस विस्तृत भूभाग के निवासियों की साहित्यिक भाषा की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है। गुलेरी जी इस व्यावहारिक अर्थ पर जोर देते हैं।" द्विवेदी जी कहते हैं—जहाँ तक नाम का प्रश्न है, गुलेरी जी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता।" परन्तु जहां तक परम्परा का प्रश्न है, निःसन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।[2] डा० प्रेमसागर ने भी लगभग इसी मत को स्वीकार किया है।[3]

परन्तु हमारा मत है, हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सीमा लगभग सप्तम शती से प्रारंभ मानी जानी चाहिए। अपभ्रंश भाषा के साहित्य को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय अपभ्रंश के साथ ही देशी भाषा का भी प्रयोग होता था। यह भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि जब कोई बोली साहित्य के क्षेत्र में आ जाती है तो वह भाषा बन जाती है और उसका स्थान उसी की नई बोली ग्रहण कर लेती है। इसी को देशी भाषा कहा जा सकता है। इस भाषा के शब्द अपभ्रंश भाषा के साहित्य में यत्र तत्र बिखरे पड़े हुए हैं। उन्हीं को हम "पुरानी हिन्दी" कह सकते हैं। राहुल सांकृत्यायन की हिन्दी काव्यधारा इस तथ्य का प्रमाण है कि हिन्दी के आदि-काल में किस प्रकार अपभ्रंश और देशी भाषा का प्रयोग होता था। यहां हमने अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के विवाद में अधिक न जाकर हिन्दी के विकास में अपभ्रंश और देशी भाषा के महत्व को विशेष रूप से स्वीकार किया है

1. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ, 36; हिन्दी काव्यधारा, पृ, 38, 50
2. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, 1953, पृ, 16–17
3. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, परिशिष्ट 1, पृ, 499

और इसलिए आदिकाल की सीमा को लगभग सप्तम शती से 14 वीं शती तक स्थापित करने का दुस्साहस किया है। इस काल के साहित्य में भाषा और प्रवृत्तियों का वैविध्य दिखाई देता है। धर्म, नीति, शृंगार, वीर, नीतिकाव्य आदि जैसी प्रवृत्तियां उल्लेखनीय हैं। चरित, कथा, रासा आदि उपलब्ध साहित्य इन्हीं प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आ जाता है। धार्मिक और लौकिक दोनों प्रवृत्तियों का भी यहां समन्वय देखा जा सकता है। इन सभी प्रवृत्तियों को एक शब्द में समाहित करने के लिए 'आदिकाल' जैसे निष्पक्ष शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त लगता है। डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन ने इसे अपभ्रंश काल कहकर उसका मूल्यांकन किया है।[1]

इसे चाहे अपभ्रंश काल कहा जाय या चारणकाल या संधिकाल, पर इतना निश्चित है कि इस काल में अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप साहित्यिक हो गया था और उसका देशज रूप पुरानी हिन्दी को स्थापित करने लगा था। अपभ्रंश के साथ ही पुरानी हिन्दी का रूप स्वयंभू, हेमचन्द्र जैसे आचार्यों के ग्रन्थों में भलीभाँति प्रतिबिम्बित हुआ है। इसलिए इसका नाम अपभ्रंश की अपेक्षा आदिकाल अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस नामकरण को तो स्वीकृत किया है पर वे काल-सीमा को स्वीकार नहीं कर सके। नामकरण के पीछे प्रवृत्ति, जाति, भाषा, व्यक्ति, संप्रदाय, विशिष्ट रचना शैली, प्राचीनता-अर्वाचीनता, रचना-स्तर, राजनीतिक घटनाएँ आदि अनेक आधारों को प्रस्थापित किया गया पर वे कोई भी अपने को निर्दोष सिद्ध नहीं कर सके। उनमें सर्वाधिक निर्दोषता आदिकाल के साथ ही जुटी हुई है जहां सब कुछ अन्तर्भुक्त हो जाता है। अतः यहां राहुल साकृत्यायन तथा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों का समन्वय कर हिन्दी के उस काल-खण्ड का नाम निर्धारण 'आदिकाल' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, हमने आदिकाल की सीमा का निर्धारण लगभग सप्तम शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक किया है। इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है--पहला अपभ्रंश बहुल हिन्दी काल और दूसरा प्रारंभिक हिन्दी काल। प्रथम काल में भाषा साहित्यिक अपभ्रंश से विकसित होकर देशी भाषा की ओर बढने लगी थी। स्वयंभू के पूर्ववर्ती कवियों ने जिसे अपभ्रंश कहा, स्वयंभू ने उसे "देसी भासा उभय-तडुज्जल" कहकर 'देसी भासा' संज्ञा देना अधिक उचित समझा। उत्तरकालीन कवि लक्ष्मणदेव ने णेमिणाहचरिउ में 'णम सक्कउ पाउअ देस भास' कहकर इसी का समर्थन किया है संभव है। अपभ्रंश की लोक-

---

1. हिन्दी सहित्य का आदिकाल एवं मूल्यांकन-अनेकान्त, 34 किरण, 4. दिस. 1981, पृ, 6-8

प्रियता को ही देखकर उसके विकसित स्वरूप को विद्यापति ने अवहट्ट और देसिल बअना (देशी बचन) कहा है। प्राकृत के विकसित रूप को ही वस्तुतः अपभ्रंश कहा गया है। वैसे पातंजलि (150 ई. पू.) ने महाभाष्य में सर्वप्रथम अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया पर वह प्रयोग अपाणिनीय शब्दों के लिए हुआ है। भामह और दण्डी (7 वीं शती) तक आते-आते वह आभीर किंवा अशिष्ट समाज की बोली के रूप में स्वीकार की जाने लगी। उद्योतन (8वीं शती) और स्वयंभू के काल तक अपभ्रंश ने एक काव्य शैली और भाषा के रूप में अपना स्थान बना लिया।

आठवीं शती के बाद तो अपभ्रंश भाषा के भेदों में गिनी जाने लगी। रुद्रट, राजशेखर जैसे कवियों ने उसका साहित्यिक समादर किया। पुरुषोत्तम (11 वीं शती) के काल तक पहुंचते-पहुंचते उसका प्रयोग शिष्ट प्रयोग माना जाने लगा। हेमचन्द्र ने तो अपभ्रंश की साहित्य समृद्धि को देखकर उसका परिनिष्ठित व्याकरण ही लिख डाला। अपभ्रंश अथवा देशी भाषा की लोकप्रियता का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है।

वि. स. 1400 के बाद कवियों को प्रेरित करने वाले सांस्कृतिक आधार में वैभिन्न्य दिखाई पड़ता है। फलस्वरूप जनता की मनोवृत्ति और रुचि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परिस्थितियों के परिणामस्वरूप जनता की रुचि जीवन से उदासीन और भगवद्भक्ति में लीन होकर आत्म कल्याण करने की ओर उन्मुख थी। इसलिए इस विवेच्य काल में कवि भक्ति और अध्यात्म संबंधी रचनायें करते दिखाई देते हैं। जैन कवियों की इस प्रकार की रचनायें लगभग वि.सं. 1900 तक मिलती हैं। अतः इस समूचे काल को मध्यकाल नाम देना ही अनुकुल प्रतीत होता है। आ० शुक्ल ने भी आदिकाल (वीरगाथाकाल), पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल), उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) और आधुनिककाल नाम रखे हैं। आ० शुक्ल ने जैन कवियों की भक्ति और अध्यात्म संबंधी रचनाओं को नहीं टटोला या उन्हें देखने नहीं मिली। अतः मात्र जैनेतर हिन्दी कवियों की शृंगारिक और रीतिबद्ध रचनायें देखकर ही मध्यकाल के उपर्युक्त दो भाग किये। चूंकि जैन कवियों द्वारा रचित जैन काव्य की भक्ति रूपी अजस्रधारा वि. सं. 1900 तक बहती है। अतः हमने इस सम्पूर्णकाल को मध्यकाल के नाम से अभिहित किया है। यद्यपि इस काल में जैन कवियों ने रीति संबंधी (लक्षण ग्रंथ शृंगार परक चित्रण, नायक-नायिका भेद आदि) ग्रंथ भी रचे हैं परन्तु इसकी संख्या तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य ही है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने मध्यकाल की इसी सीमा को स्वीकार किया है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु के संयोग से बने संस्कृति शब्द का अर्थ है, सम्यक् प्रकार से निर्माण अथवा परिष्करण की क्रिया। संस्कार, वातावरण और

सभ्यता का संदर्भ भी इस शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। इसलिए संस्कृति के क्षेत्र में धर्म, दर्शन, इतिहास, काल, साहित्य आदि सब कुछ अन्तर्भुक्त हो जाता है।

संस्कृति का अंग्रेजी अनुवाद साधारणतः Culture शब्द से किया जाता है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग 1420 ई. में कृषि और पशुपालन के अर्थ में किया गया था।[1] लेटिन Colere शब्द से भी इसकी निरुक्ति बतायी जाती है। वह भी कृषि से संबद्ध है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कृषि का सम्बन्ध मानव की परंपरा से रहा है। कृषि के कारण ही भ्रमणशील प्रवृत्ति, विविध वस्तुओं का उपयोग, सामूहिक उद्यम आदि वृत्तियां जागरित हुई हैं। इन सभी वृत्तियों को जागरित करने के लिए जिस प्रक्रिया का उपयोग किया जाता है वह संस्कृति कहलाती है। इतिहास के साथ ही इसका सम्बन्ध समाजशास्त्र से भी है जिसके अनुसार व्यक्ति अपने वंशानुक्रम (heriditory) और परिवेश (envirnoment) की प्रतिकृति मात्र है।

संस्कृति अथवा Culure शब्द को लेकर देशीय एवं विदेशीय विद्वानों ने बड़ा चिन्तन और मन्थन किया है। देशीय विद्वानों में डॉ० पी. के. आचार्य बलदेव प्रसाद मिश्र, मंगलदेल शास्त्री, भगवत शरण उपाध्याय, जयचन्द विद्यालंकार, मोतीलाल शर्मा आदि विद्वान विशेष उल्लेख्य हैं तथा विदेशीय विद्वानों में ए. एल. क्रोबर (Krober), वाउवेनार्ग्स (Vavuenargues), वाल्टेयर (Voltire), मैथ्यू अर्नाल्ड (matheuce Arnold), फिलिप बेग्वी (philid Beglu) व्हाइट (leslie A. wnite) आदि विद्वानों के नाम लिये जा सकते हैं। ये सभी विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि संस्कृति मानव की एक गतिशील प्रवृत्ति है जो व्यक्ति अथवा समाज की अपनी परिस्थिति, परिवेश, संस्कार, मान्यताओं आदि की पृष्ठभूमि में परिवर्तित होती चली है।

भारतीय साहित्य और संस्कृति की भी यही कहानी है अपनी सार्वभौमिक आध्यात्मिक साधनों के पुनीत आधार पर वह अनेक झंझावातों में भी अपना अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम हुई। अनेकता में एकता उसका मूलमंत्र रहा है। धर्म दर्शन की लोक मांगलिक पृष्ठभूमि मे समाज और साहित्य का निर्माण हुआ है। वैविध्य होते हुए भी जीवन के शाश्वत मूल्य परस्पर गुथे हुये हैं। इसलिए एक धर्म, सम्प्रदाय, साहित्य और संस्कृति दूसरे धर्म, सम्प्रदाय, साहित्य और संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। इसी पृष्ठभूमि में हम मध्ययुग के विविध आयामों पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

---

1. Kroeter A.L and clyde kluckhohn: culture, P. 952

इतिहास का मध्ययुग साधारणतः सातवीं-आठवीं शती से 17-18 वीं शती तक माना जाता है। भारतीय इतिहासकारों ने इसे पूर्वमध्ययुग (650ई. से 1200 ई. तक) और उत्तर मध्ययुग (1200 ई.से)1700 ई. तक) के रूप में विभाजित किया है। यह विभाजन राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, ऐतिहासिक आदि प्रवृत्तियों पर आधारित है। आधुनिक आर्य भाषायें भी इसी काल की देन है। हिन्दी भाषा और साहित्य का काल विभाजन एक वैशिष्ट्य लिये हुए है। उसका मध्ययुग 1350 ई. से 1850.ई तक चलता रहता है। इस समय तक विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप तथा ब्रिटिश राज्य के कारण सामाजिक क्रांति सुप्तावस्था में रही। असहायावस्था में ही भक्ति आन्दोलन हुए और रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त साहित्य का सृजन हुआ। जैन अध्यात्मवाद अथवा रहस्यवाद की प्रवृत्तियों को जन्म देने और उन्हें विकसित करने में राजनीतिक मध्ययुगीन अवस्था विशिष्ट कारणभूत रही है। इसको हम यहां राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करेंगे।

1. राजनीतिक पृष्ठभूमि

भारत की राजनीतिक अव्यवस्था और अस्थिरता का युग हर्षवर्धन (606-647ई.) की मृत्यु के साथ ही प्रारंभ हो गया। सामाजिक विशृंखलता और पार्थक्य भावना बलवती हो गई। भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। ऐसी परिस्थिति में 8वीं शती के पूर्वार्ध में कन्नोज में यशोवर्मा का आधिपत्य हुआ जो राष्ट्रकूटो की प्रचण्ड शक्ति के कारण छिन्न-भिन्न हो गया। उसके बाद गुर्जर प्रतिहारों ने उस पर लगभग 11वी शती तक राज्य किया। राजा वत्सराज (775-800 ई.) जैनधर्म का लोकप्रिय सहायक राजा था। उसी के राज्य में जिनसेन ने हरिवंशपुराण, उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला तथा हरिभद्र सूरि ने चितौड़ में अनेक ग्रंथों की रचना की।

यहां यह उल्लेखनीय है कि ऐसे निवृत्तिपरक साधकों में जैन साधक प्रधान रहे हैं जिनका जमाव पश्चिमोत्तर प्रदेश में कदाचित व्यापारिक वृत्ति के कारण अधिक रहा है। इसलिए प्रारम्भिक हिन्दी जैन साहित्य इसी प्रदेश में सर्वाधिक मिलता है। आगे चलकर दिल्ली, मगध और मध्यप्रदेश भी हिन्दी जैन साहित्य के गढ़ बने। इस साहित्य में तत्कालीन धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी परिलक्षित होता है।

साधारणतः बारहवीं शताब्दी तक राजाओं में परस्पर युद्ध होते रहे और युद्धों का मूल कारण था शृंगार-प्रेम परक भावनाओं का उद्वेलन और कन्याओं का हठात् अपहरण। राजा लोग इसी में अपने पुरुषार्थ की सिद्धि मानते थे। उन पर अंकुश रखने के लिए जनता के हाथ में किसी प्रकार का सम्बल नहीं था। उनकी

राजनीतिक चेतना सुप्तप्राय हो चुकी थी। फलत: जनता में राजाओं के प्रति भक्ति सेवा भावना, आत्म समर्पण और राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीनता आ गयी थी। उसके मन में राष्ट्रीय भावनायें अत्यंत सीमित हो चुकी थी। इन परिस्थितियों ने कवियों को राजाओं का मात्र प्रशस्तिकार बना दिया। वे अपने आश्रय दाताओं के गुणगान में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करने लगे। उन्हें अपने आश्रयदाता के सामन्ती ठाट-बाट और विलासिता के चित्रण में विशेष रुचि थी। लगभग 500 वर्षों के लम्बे काल में कान्यकुब्ज के यशोवर्मन के राजकवि भवभूति ने और प्रति-हार वंश के कुलगुरू राजशेखर ने अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति का गान न करके रामायण और महाभारत के राजनीतिक आदर्शों को अपने ग्रंथ महावीर चरित उत्तर रामचरित, बाल भारत और बाल रामायण में स्थापित किया।

अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशस्ति का गान करने वाली इस मध्ययुगीन परम्परा का श्रीगणेश बाणभट्ट से हुआ। उनका हर्षचरित राजा हर्ष की प्रशस्ति का ऐसा ही सस्कृत काव्य है। उत्तर कालीन कवियों ने उनका भलीभांति अनुकरण किया। गाउडवहो, नवसाहसांक चरित' कुमारपाल चरित, प्रबन्ध चिन्तामणि, वस्तु-पाल चरित आदि सैकड़ों ऐसे ग्रंथ हैं जो मात्र आश्रयदाताओं की प्रशस्ति में लिखे हुये हैं। इसी परम्परा में हिन्दी कवियों ने रासो साहित्य का निर्माण किया। इस साहित्य के निर्माताओं में जैन कवि विशेष अग्रणी रहे हैं। उन्होंने इसका उपयोग तीर्थकंर और जैन आचार्यों की यशोगाथा में किया है।

13 वी शती से 18 वीं शती तक मध्य एशियाई मुसलमानों के आक्रमणों से भारत अत्यंत त्रस्त रहा। धीरे-धीरे राजसत्तायें पराधीनता की श्रंखला में जकड़ती रही। मुहम्मद गोरी, गजनबी, सैयद वश, लोधी वश, मुहम्मद तुगलक आदि मुसलमान राजाओ के नियमित आक्रमण हुए जिससे सारा भारतीय जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। भारतीय राजे-महाराजे स्वार्थता की चपेट में अधिकाधिक संकीर्ण होते गये। उनमें परस्पर विद्वेष की अग्नि प्रज्जवलित होती रही। इसी बीच बाबर हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहा, औरंगजेब आदि मुगलों के भी आक्रमणों और प्रत्या-क्रमणों ने भारतीय समाज को नष्ट-भ्रष्ट किया। भारतीय राजाओं के बीच पनपी अन्त:कलहने भी युद्धो को एक खेल का रूप दे दिया। वासनावृत्ति ने इसमें घी का काम किया। इससे मुसलिम शासकों का साहस और बढ़ता गया।

इसके बावजूद मुस्लिम शक्ति को भारतीय राजाओं ने सरलतापूर्वक स्वी-कार नहीं किया। लगभग 12वीं शताब्दी तक उत्तर भारत में उसका घनघोर प्रतिरोध हुआ। परन्तु परिस्थितिवश दिल्ली और कन्नौज के हिन्दू साम्राज्य नष्ट हुये और यह प्रतिरोध कम हो गया। इस प्रतिरोध की आग राजस्थान, मध्यभारत,

गुजरात और उड़ीसा के राजवंशों में फैलती रही और फलस्वरूप वे मुसलमानों का तीव्र विरोध अंत तक करते रहे। परन्तु पारस्परिक फूट के कारण वे मुस्लिम आक्रमणों को पूर्ण रूप से ध्वस्त नहीं कर पाये। इसलिये जनता में कुछ निराशा छा गयी। फिर भी मुसलमानों के साथ संघर्ष बना ही रहा। मेवाड़ के राजा संग्रामसिंह और विक्रमादित्य हेमचन्द्र के नेतृत्व में मुस्लिम शासकों से संघर्ष होते रहे और औरंगजेब के समय तक आते-आते हिन्दुओं की शक्ति काफी बढ़ गयी। इसे हम राजनीतिक पुनरुत्थान का युग कह सकते हैं। इस समय जाट, सिक्ख, मराठा, राणाप्रताप, शिवाजी, दुर्गादास, छत्रसाल आदि भारतीय राजाओं ने उनके दांत खट्टे किये और स्वतंत्रता के बीज बोये।

उपर्युक्त राजनीतिक परिथतियों से यह स्पष्ट है कि इस काल में राजनीतिक अस्थिरता के कारण जन-जीवन अस्त-व्यस्त और संत्रस्त था। जीवन की असुरक्षा, राष्ट्रीयता का अपमान, कला-कृतियों का खण्डन, स्वाभिमान का हनन, सम्पत्ति का अपहरण जैसे तत्वों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेदभाव और वैमनस्य की जबर्दस्त दीवाल खड़ी कर दी थी। धर्मान्धता और नारी के सतीत्वहरण के कारण राष्ट्र जीवन में निराशा का वातावरण छा गया था। फलतः उस समय भौतिक सुख की ओर से उदासीनता तथा भगवद्भक्ति की ओर संलग्नता दिखाई देती है।

डॉ० त्रिगुणायत ने इन राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप भारतीय जीवन और समाज पर निम्नलिखित प्रभाव देखे हैं (1) धर्मसुधार की भावना जाग्रत हुई। नाथपन्थ, लिंगायत, सिद्धरा आदि पन्थों का उदय इसी धर्म सुधार भावना के कारण हुआ था। इन सबका लक्ष्य हिन्दू धर्म और इस्लाम में सामंजस्य स्थापित करना था, (2) पर्दा प्रथा समाज में दृढ़ हो गई ताकि स्त्रियों को बलात्कार आदि जैसे कुकृत्यो से बचाया जा सके, (3) धर्म सगुणोपासना में असमर्थ होने के कारण निर्गुणोपासना की ओर झुका, तथा (4) ऐकान्तिकता और निवृत्यात्मकता से प्रेरित होकर साधकों ने निर्गुण ब्रह्मकी उपासना आरंभ की।[1]

2. धार्मिक पृष्ठभूमि

जैसा अभी हम देख चुके हैं, इतिहास के मध्यकाल में भारत का सांस्कृतिक धरातल देशी-विदेशी राजाओं के आक्रमणों से विश्रृंखलित रहा। भारत का जनमानस उन आक्रमणों से त्रस्त हो गया और फलतः अपने धर्मों में सामयिक परि-

---

1. कबीर की विचारधारा, पृ. 71-72,

वर्तन की ओर देखने लगा। इस युग में भक्ति का प्राधान्य रहा। सभी धर्मों में भक्ति के कारण अनेक विकास-पथ निर्मित हुए। बाह्याडम्बर के साथ ही आचार-शैथिल्य बढ़ गया। तात्कालिक साहित्य, धर्म और भक्ति की प्रेरणा से अधिक समृद्ध हुआ। वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के विकास और परिवर्तन के विविध स्वरूप विशेष रूप से लक्षित होते हैं। इसे हम संक्षेप में निम्न प्रकार से देख सकते हैं।

1. वैदिक धर्म

मध्ययुग में वैदिक धर्म ने विशेष रूप से दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रभाकर और कुमारिल ने मीमांसा के माध्यम से और शंकराचार्य ने वेदान्त के माध्यम से वैदिक दर्शन का पुनरुत्थान किया। शंकराचार्य ने तो बौद्ध धर्म की बहुत-सी सामग्री लेकर उसे आत्मसात करने का प्रयत्न किया। इसलिए उन्हें "प्रच्छन्न बौद्ध भी कहा जाता है। इसी युग में पौराणिक और स्मार्त धर्मों का समन्वयात्मक रूप सामने आया। स्मार्तों ने विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश इन पंचदेवों की पूजा प्रारभ कर दी। इन्ही के आधार पर पाच उपनिषद् भी लिखे गये। यह उप-निषद् दर्शन, स्मार्त और वेदान्त दर्शन से एक जुट हो गया। वैष्णव धर्मावलम्बी कवियो ने ऐसे ही धर्म को स्वीकार किया है। भागवत और पाँचरात्र सम्प्रदाय भी वैष्णव धर्म के अग रहे है। भागवत सम्प्रदाय ने शिव और विष्णु में अभिन्नत्व स्थापित किया। वैदिक पूजा-पद्धति से वे विशेष प्रभावित थे। वैष्णव धर्म और साहित्य के देखने से यह स्पष्ट है कि उनमें शाक्त सिद्धान्तों का समावेश हुआ।

पांचरात्र सम्प्रदाय भी अनेक उपसम्प्रदायो में विभक्त हो गया। वैष्णव, महानुभाव और रामायत उनमे प्रमुख उपसम्प्रदाय थे। वैष्णव पांचरात्र सम्प्रदाय उत्तर से दक्षिण तक फैला था। तामिल प्रदेश में उसका विशेष प्रचार था। उसमें नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, यमुनाचार्य, रामानुज रामानन्द, तुलसीदास आदि प्रसिद्ध आचार्य और सन्त हुए है। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद विशेष प्रसिद्ध रहा है।

महानुभाव सम्प्रदाय मात्र कृष्ण का आराधक था और वह मूर्ति के स्थान पर केवल प्रतीक की पूजा करता था। यह सम्प्रदाय स्मार्त के आधार का विरोधी तथा साम्प्रदायिक था। दत्तात्रेय इसके प्रस्थापक आचार्य माने जाते हैं। महाराष्ट्र और कन्नड प्रदेशों मे इसका विशेष प्रचार था। रामायत सम्प्रदाय में राम की कथा को आध्यात्मिक मोड़ मिला। तदनुसार राम माया मनुष्य और सीता मायाच्छादित चिच्छक्ति थी। इस पर अद्वैत वेदान्त और शाक्त सम्प्रदायों का प्रभाव था। यह सम्प्रदाय दक्षिण से लेकर उत्तर भारत में लोकप्रिय हुआ।

पं. बलदेव उपाध्याय ने वैष्णव भक्ति आन्दोलन को तीन भागों में विभा-जित किया है—(i) सात्वतयुग (1500 ई. पू.से 500 ई. तक), (ii) अलवार

युग (700-1400 ई.) और (iii) आचार्य युग (मध्ययुग (1400-1900 ई.) । सात्वत सम्प्रदाय (पांचरात्र) की उदयभूमि मथुरा रही है । शुंग और गुप्त राजाओं ने इसे अधिक प्रश्रय दिया है । अलवार युग में भक्ति का रूप और गाढ़ हो गया । यह दक्षिण में अधिक प्रचलित रहा । तृतीय युग राम और कृष्ण शाखा में विभाजित हो जाता है । उत्तर भारत में इसका काफी विकास हुआ है । निर्गुण सम्प्रदाय इसी आंदोलन से संबद्ध है ।

वैष्णव सम्प्रदाय के साथ ही शैव सम्प्रदाय का भी विकास हुआ । इस शैव सम्प्रदाय के दो भेद मिलते हैं—पाशुपत और आगमिक । पाशुपत के अन्तर्गत शुद्ध पाशुपत, लकुलीश पाशुपत, कापालिक और नाथ आते हैं । आगमिक सम्प्रदाय में संस्कृत शैव, तमिल शैव, काश्मीर शैव और वीर शैव को अन्तर्भूत किया गया है । पाशुपत सम्प्रदाय का विशेष जोर उत्तर भारत में रहा है । इसके प्रसिद्ध आचार्य नैयायिक उद्योतकर के के प्रशस्तपाद आदि अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं । लकुलीश सम्प्रदाय गुजरात और राजस्थान में अधिक था । लकुलीश की वहाँ मूर्तियाँ भी मिली हैं । कापालिक सम्प्रदाय भी उत्तर भारत में मिलता रहा । पर उसका कोई महत्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं हुआ । उसकी साधना पद्धति बड़ी वीभत्स और अश्लील थी । उसमें नरबली, सुरापान, यौन सम्बन्ध, मांस भक्षण जैसे गर्हित तत्व अधिक प्रचलित थे । शैव सम्प्रदाय के विशिष्ट सिद्धान्त थे :—पशुपति शिव अखिल विश्व के स्वामी हैं । मनुष्य पशु है, पर उसका शरीर जड़ और आत्मा चेतन है । यह आत्मा पाश से बन्धा हुआ है । पाश तीन प्रकार के हैं आणव (अज्ञान), (2) कर्म, (3) माया । शिव की कृपा से शक्ति प्रकट होती है और पाशों का विनाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है जहाँ शिव और आत्मा अद्वैत बन जाते हैं । मध्यकालीन शैवाचार्य संबन्दर और अप्पर ने जैनधर्म को दक्षिण से समाप्त करने का भारी प्रयत्न गिया ।

शैव सम्प्रदाय और शाक्त सम्प्रदाय का विशेष संबंध रहा है । शक्ति का संबंध विशेषतः तंत्र-मंत्र से रहा है । शिव की पत्नी दुर्गा शक्ति की प्रतीक है । उसी के माध्यम से संसार की सृष्टि आदि कार्य होते हैं । वाम मार्ग की यौगिक साधनायें भी शाक्त सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं ।

शैव सम्प्रदाय का नाथ सम्प्रदाय उत्तरभारत, पंजाब तथा राजस्थान आदि प्रदेशों में विशेष प्रचलित था । पहले उसका सम्बन्ध कापालिकों से था पर बादमें गोरखनाथ ने उसे मुक्त कराया । इस सम्प्रदाय में हठयोग-साधना विशेष रूप से प्रचलित थी । तान्त्रिक वैदिक और बौद्ध साधक नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित थे । सोम, सिद्ध, कौल आदि सम्प्रदाय भी इसी के अंग हैं ।

समग्रतः मध्यकालीनस मग्र इतिहास को वैदिक संस्कृति के सन्दर्भ में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तम-अष्टम शती में चमत्कार का प्रभाव

लगभग हर समाज और धर्म पर पड़ रहा था। नवम् शती में चमत्कार के माध्यम से ही शैव सम्प्रदाय का जन्म काश्मीर में हुआ। इसकी दो शाखायें हुई-स्पन्द और प्रत्यभिज्ञ। स्पन्द शाखा को "शिव-सूत्र" कहा जाने लगा जिसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन वसुगुप्त (850-907) ने किया। तदनुसार शिव सृष्टि के कर्ता हैं। पर उसके मौलिक कारण नहीं। प्रत्यभिज्ञा की स्थापना में सौमानंद (सं. 907) का विशेष हाथ है। उन्होंने इसे ध्वन्यालोक लोचन में अधिक स्पष्ट किया है। तदनुसार संसारी जीव पृथक् होते हुये भी शिव से अपृथक् हैं। कालान्तर में शैवमत ने महा-यान से लाभ उठाया और बुद्ध तथा शिव को एक-सा बना दिया। नेपाल में प्राप्त महायानी बौद्ध मूर्तियों तथा योगी शिव मूर्तियों में अंतर करना कठिन हो जाता है। बाद में तान्त्रिक और शैव सिद्धान्तों के साथ शक्ति का संबंध जुड़ गया और शाक्त मत प्रारंभ हो गया। यही शक्ति सृष्टि का कारण बनी। शक्ति श्वेत और श्याम वर्णों के रूप में प्रतिष्ठित हुई। श्वेत रूप में उमा और श्याम रूप में काली, चण्डी, चामुण्डा आदि भयंकारिणी देवियों की स्थापना हुई। इस शाक्त मत में दक्षिणाचार और वामाचार भेद हुए। वामाचार की शक्ति साधना मे पंच मकारों का उपयोग किया जाता था उसमें भोग वासना के माध्यम से सिद्धि प्राप्त की जाती थी। पशुबलि आदि भी दी जाती थी। मध्यकाल में ये दोनों प्रवृत्तियाँ हिंसा तथा विलास के रूप में दिखाई देती हैं। उत्तरकाल मे इसी में से अनेक उप-सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिससे हिन्दी साहित्य अप्रभावित नहीं रहा।

विदेशी आक्रमणों के बावजूद हिन्दी सा० की परम्परा अपने पूर्ववर्ती संस्कृत पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा और साहित्य के आधार पर फलती-फूलती रही। तात्कालिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि मे भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ। उसकी भक्ति धारा दक्षिण से उत्तर भारत में पहुंची। भक्ति की यह धारा सगुण मार्गी थी। निर्गुण भक्ति का प्रचार मुस्लिम शासन काल में अधिक हुआ क्योंकि इस्लाम का उससे किसी प्रकार का विरोध नहीं था। ये निर्गुण साधक अपने ब्रह्म को अपने ही भीतर देखते थे। समाज और राष्ट्र से उन्हे कोई मतलब न था। निर्गुणियों से पूर्व नाथ और सिद्धों के विधि विधानपरक कर्मकाण्ड से जनता को कोई प्रेरणा नही मिल रही थी। हठयोगी सन्त भी लोक-संग्रह का मार्ग नहीं दिखा सकते थे। अतः ईशोपनिषद् के समुच्चयवाद का पुनर्संघटन रामानुजाचार्य ने किया। बाद मे उत्तरभारत में रामानंद, नाथ और तुलसी आदि ने इसका प्रचार किया। इस समुच्चय में भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों का समन्वय था। इस भक्ति आन्दोलन ने जन समाज को युगवाणी, युग पुरुष और युग धर्म दिया।

2. जैन धर्म

मध्यकाल तक आते आते जैन धर्म स्पष्ट रूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं मे विभक्त हो गया था। दोनों परम्पराओं और उनके आचार्यों को अनेक

राजाओं का आश्रय मिला और फलत: धार्मिक साहित्य, कला और संस्कृति का विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। गुर्जर प्रतिहार राजा वत्सराज के राज्य में उद्योतनसूरि ने 778 ई. में कुवलयमाला, जिनसेन ने सं. 783 में हरिवंशपुराण और हरिभद्र सूरि ने लगभग इसी समय समराइच्चकहा आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। देवगढ़ खजुराहो आदि के अनेक जैन मंदिर इसी के उत्तरकालीन हैं। आचार्य सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू (959 ई.), नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ भी इसी समय के हैं।

धारा के परमार वंशीय राजाओं ने जैन कवियों को विशेष राजाश्रय दिया। राजा मुंज, नवसाहसांक, भोज आदि राजा जैन धर्मावलम्बी रहे। उन्होंने जैन कवि धनपाल, महासेन, अमितगति, माणिक्यनंदी, प्रभाचन्द्, नयनन्दी, धनंजय, आशाधर आदि विद्वानों को समुचित आश्रय दिया। मेवाड की राजधानी चित्तौड़ (चित्रकूटपुर) जैनधर्म का विशिष्ट केन्द्र था। यहीं पर एलाचार्य, वीरसेन, हरिभद्रसूरि आदि विद्वानों ने अपनी साहित्य-सर्जना की। चित्तौड़ के प्राचीन महलों के निकट ही राजाओं ने भव्य जैन मन्दिर बनवाये। हथूंडी का राठौर वश जैन धर्म का परम अनुयायी था। वासुदेव सूरि, शान्तिभद्र सूरि आदि विद्वान इसी के आश्रय में रहे हैं।

चन्देलवंश में चदेलवंशीय राजा भी जैनधर्म के परम भक्त थे। खजुराहो के शान्तिनाथ मंदिर में आदिनाथ की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा विद्याधर देव के शासनकाल में हुई। देवगढ, महोबा, अजयगढ़, अहार, पपोरा, मदनपुरा आदि स्थान जैनधर्म के केन्द्र थे। ग्वालियर के कच्छपघट राजाओं ने भी जैन धर्म को खूब फलने-फूलने दिया।

कलिंग राज्य प्रारम्भ से ही जैनधर्म का केन्द्र रहा है। जैनाचार्य अकलंक का बौद्धाचार्यों के साथ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ यहीं हुआ। परन्तु उत्तरकाल में यहां जैनधर्म का ह्रास हो गया। कलचुरीवंश यद्यपि शैव धर्मालम्बी था पर उसने जैनधर्म और कला को पर्याप्त प्रतिष्ठित किया। कुल्पाद, रामगिरि, अचलपुर, जोगीमारा, कुण्डलपुर, कारंजा, एलोरा, धाराशिव, खनुपद्मदेव आदि जैन धर्म के केन्द्र थे।

गुजरात में भी प्रारम्भ से ही जैनधर्म का प्रचार-प्रसार रहा है। मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा जैनधर्म के प्रति अत्यन्त उदार थे। विशेषत: अमोघवर्ष और कर्क ने यहाँ जैनधर्म को बहुत लोकप्रिय बनाया। गुजरात-अन्हिलपाटन का सोलंकी वंश भी जैनधर्म का आश्रयदाता रहा। आबू का कलानिकेतन इस वंश के भीमदेव प्रथम के मंत्री और सेनानायक विमलशाह ने 1032 ई. में बनवाया। राजा जयसिंह ने अन्हिल-पाटन को ज्ञान केन्द्र बनाकर आचार्य हेमचन्द्र को उसका कार्यभार सौंपा। हेमचन्द्र ने द्वयाश्रय काव्य, सिद्धहेम व्याकरण आदि बीसों ग्रन्थ तथा वाग्भट्ट ने

अलंकार ग्रन्थ इसी राजा के शासनकाल में लिखे। कुमारपाल भी इसी वंश का शासक था। वह निर्विवाद रूप से जैनधर्म का अनुयायी था। हेमचन्द्र आचार्य उसके गुरु थे और भी अनेक मन्त्री, सामन्त आदि जैन थे। कुमारपाल के मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल का विशेष सम्बन्ध आबू के जैन मन्दिरों के निर्माण से जुड़ा हुआ है।

सिन्ध, काश्मीर, नेपाल, बंगाल में पालवंश का साम्राज्य रहा। वह बौद्ध धर्मावलम्बी था। उसके राजा देवपाल ने तो जैन कला-केन्द्र भी नष्ट-भ्रष्ट किये। बंगाल में जैन धर्म का अस्तित्व 11-12 वीं शती तक विशेष रहा है।

दक्षिण में पल्लव और पाल्य राज्य में प्रारम्भ में तो जैन धर्म उत्कर्ष पर रहा परन्तु शैव धर्म के प्रभाव से बाद में उनके साहित्य और कला के केन्द्र नष्ट कर दिये गये। चोल राजा (985-1016 ई.) के समय यह अत्याचार कम हुआ। बाद में चालुक्य वंश ने जैन कला और साहित्य का प्रचार-प्रसार किया। इसी समय जैन महाकवि जोइन्दू, जटासिंहनन्दि, रविषेण, पद्मनन्दि, धनंजय, आर्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, परवादिमल्ल अनन्तवीर्य, विद्यानन्दि आदि प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं जिन्होंने तमिल, कन्नड, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में जैन साहित्य का निर्माण किया। चामुण्डराय भी इसी समय हुआ जिसने श्रवणबेलगोल में 978 ई. में गोमटेश्वर बाहुबलि की विशाल उत्तुंग प्रतिमा निर्मित करायी।

राष्ट्रकूट वंश जैनधर्म का विशेष आश्रयदाता रहा है। स्वयं, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पाल्यकीर्ति, पुष्पदन्त आदि जैनाचार्यों ने इसी राज्य काल में जैन साहित्य को रचा। कल्याणी के कलचुरीकाल में वासव ने जैन धर्म के सिद्धान्त और शैव धर्म की कतिपय परम्पराओं का मिश्रण कर 12वीं शती में लिंगायत धर्म की स्थापना की। उन्होंने जैनों पर कठोर अत्याचार किये। बाद में वैष्णवों ने भी उनके मन्दिर और पुस्तकालय जलाये। फलतः अधिकांश जैन शैव अथवा वैष्णव बन गये।

अरबों, तुर्कों और मुगलों के भीषण आक्रमणों से जैन साहित्य और मन्दिर भी बच नहीं सके। उन्हें या तो मिट्टी में मिला दिया गया अथवा वे मस्जिदों के रूप में परिणित कर दिये गये। इन्हीं परिस्थितियों के प्रभाव से भट्टारक प्रथा का विशेष अभ्युदय हुआ। मूर्ति पूजा का भी विरोध हुआ। लोदी वंश के राज्य काल में तारण स्वामी (1448–1515 ई.) हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा का निषेध कर 'तारण-तरण' पंथ प्रारम्भ किया। इस समय तक दिल्ली, जयपुर आदि स्थानों पर भट्टारक गद्दियां स्थापित हो चुकी थीं। सूरत, भड़ौच, ईडर आदि अनेक स्थानों पर भी इन भट्टारकीय गद्दियों का निर्माण हो चुका था। आचार्य सकलकीर्ति, ब्रह्मजयसागर आदि विद्वान इसी समय हुए। इसी काल में प्रबन्धों और चरितों को सरल संस्कृत

और हिन्दी में लिखकर जैन साहित्यकारों ने साहित्य के क्षेत्र में एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया जिसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर काफी पड़ा ।

मुगलों के आक्रमणों से यद्यपि जैन साहित्य की बहुत हानि हुई फिर भी अकबर (1556-1605 ई.) जैसे महान शासकों ने जैनाचार्यों को सम्मानित किया। अध्यात्म शैली के प्रवर्तक बनारसीदास, पांडे रूपचन्द, पांडे राममल्ल, ब्रह्मरायमल्ल, कवि परमल्ल आदि हिन्दी के जैन विद्वान इसी समय हुए । साहु टोडरमल अकबर की टकसाल के अध्यक्ष थे। अकबर के राज्य काल में हिन्दी जैन साहित्य की प्रभूत अभिवृद्धि हुई । जहांगीर के समय में भी रायमल्ल, ब्रह्मगुलाल, सुन्दरदास, भगवतीदास आदि अनेक प्रसिद्ध हिन्दी जैन साहित्यकार हुए । रीतिकालीन साहित्य परम्परा के विपरीत भैया भगवतीदास, आनंदघन, लक्ष्मीचन्द्र, जगतराय आदि जैन कवियों ने शान्त रस से परिपूर्ण विरागात्मक आध्यात्मिक साहित्य का सृजन किया । एक ओर जहाँ जैनेतर कवि तत्कालीन परिस्थितियों के वश मुगलों और अन्य राजाओं को शृंगार और प्रेम-वासना के सागर में डुबो रहे थे, वहीं दूसरी ओर जैन कवि ऐसे राजाओं की दूषित वृत्तियों को अध्यात्म और वैराग्य की ओर मोड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। जैन धर्म, साहित्य और संस्कृति की यह अप्रतिम विशेषता थी। शान्तरस उसका अंगी रस था। समूचा साहित्य उससे आप्लावित रहा है ।[1]

3. बौद्धधर्म

सप्तम शताब्दी के आसपास तक बौद्ध धर्म हीनयान और महायान के रूप में देश-विदेशों में बंट गया था। साधारणतः दक्षिण में हीनयान और उत्तर में महायान का जोर था। भारत में इस समय महायानी परम्परा अधिक फली-फूली। महाराजा हर्षवर्धन संभवतः पहले हीनयानी थे और बाद में महायानी बने। ह्यून-सांग ने इसी के राज्य काल में भारत यात्रा की थी। इस समय बौद्ध धर्म में अवनति के लक्षण दिखाई देने लगे थे। नालन्दा, बलभी आदि स्थान बौद्ध धर्म के केन्द्र बन चुके थे। हर्ष के बाद बौद्ध धर्म का पतन प्रारंभ हो गया।

यहाँ तक आते-आते बुद्ध में लोकोत्तर तत्व निहित हो गये। श्रद्धा और भक्ति का आन्दोलन तीव्रतर हो गया। अवदान साहित्य और वैपुल्य सूत्र का निर्माण हो चुका था। सौत्रांतिक और वैभाषिक तथा योगाचार-विज्ञानवाद और शून्यवाद-माध्यमिक सम्प्रदाय अपने दार्शनिक आयामों के साथ बढ़ रहे थे। असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, नागार्जुन, आर्यदेव, शान्तरक्षित आदि आचार्य अपनी साहित्यिक प्रतिभा का प्रदर्शन कर रहे थे। आत्मवाद अव्याकृत से लेकर अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद बन गया। साधक प्रतीत्य-समुत्पाद से स्वभाव-शून्यता और गुह्य साधना की ओर बढ़ने लगे। त्रिकायवाद का विकास हो गया। पारमितायें भी यथासमय बढ़ने-घटने लगीं।

---

1. विशेष देखिए—जैन दर्शन एवं संस्कृति का इतिहास—डॉ. भागचन्द्र भास्कर, पृ. 323-337,

महायानी सम्प्रदाय में इस प्रकार क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये। शाक्त सम्प्रदाय का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा। तदनुसार तंत्र, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, आसन, चक्र, मंडल, स्त्री, मदिरा तथा मांस आदि वाममार्गी आचरण बौद्ध धर्म में प्रचलित हो गये। शिव की पत्नि शक्ति की तरह प्रत्येकबुद्ध की भी शक्ति रूप पत्नि कल्पित हुई। इसकी तांत्रिक साधना में मैथुन को भी अध्यात्म से सम्बद्ध कर दिया गया। बंगाल में इसी को सहजमार्ग कहा जाता था इस तांत्रिक साधना ने बौद्ध धर्म को अप्रिय बना दिया। इसी समय मुसलमानों के आक्रमणों से भी बौद्ध धर्म को कठोर धक्का लगा। साथ ही नन्दिवर्धन पल्लवमल्ल के समय शंकराचार्य के प्रभाव से बौद्ध धर्म का निष्कासन हो गया। इन सभी कारणों से बौद्ध धर्म 11वीं, 12वीं शताब्दी तक अपनी जन्मभूमि से समाप्तप्राय हो गया। उत्तरकाल में एक तो वह विदेशों में फूला-फला और दूसरे भारत में उसने रूपान्तरणकर संतों को प्रभावित किया।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का भी प्रभाव पड़ा है। मध्यकाल तक आते-आते यद्यपि बौद्ध धर्म मात्र ग्रन्थों तक सीमित रह गया था, पर बौद्धेतर धर्म और साहित्य पर उसके प्रभाव को देखते हुए ऐसा लगता है कि बौद्ध धर्म को पूरी तरह से नष्ट नहीं किया जा सका। महाराष्ट्र के प्राचीन संतों पर और हिन्दी साहित्य की निर्गुणधारा के सन्तों पर इसका प्रभाव स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

डा० त्रिगुणायत ने मध्यकालीन धार्मिक परिस्थितियों को दो भागों में विभाजित किया है—(1) सामान्य जनता में प्रचलित अनेक नास्तिक और आस्तिक पंथ और पद्धतियां, (2) वे आस्तिक पद्धतियां जो उच्च वर्ग की जनता में मान्य थीं। इन धर्म पद्धतियों के प्रवर्तक तथा प्रतिपादक अधिकतर शास्त्रज्ञ आचार्य लोग थे। आगे वे लिखते हैं, जगद्गुरू शंकराचार्य का उदय भारत के धार्मिक इतिहास में एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। उनके प्रभाव से सोया हुआ ब्राह्मण धर्म फिर एक बार जाग उठा। उसे उद्बुद्ध देखकर विलासप्रिय बौद्धधर्म के पैर उखड़ गये। शास्त्रज्ञ विद्वानों में उनका नाम कन्ह हो गया। समाज के नैतिक पतन का कारण वाममार्गीय दूषित बौद्ध पद्धतियाँ ही थीं। अच्छा हुआ कि 11 वीं शताब्दी के लगभग यवनों के प्रभाव से इन दूषित धर्मों के प्रति प्रतिक्रिया जाग्रत हो गयी और उत्तर भारत में आचरण प्रवण नाथ पंथ का तथा दक्षिण में वैष्णव और लिंगायत आदि धर्मों का उदय हो गया, नहीं तो भारत और भी अधिक दीनावस्था को पहुंच गया होता। कबीर तथा उनके गुरु रामानन्द ने इस प्रतिक्रिया को और भी अधिक मूर्तरूप दिया। दूसरी धारा शास्त्रज्ञ आचार्यों की थी। इन आचार्यों का उदय शंकराचार्य की विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इन परवर्ती आचार्यों में रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य प्रमुख हैं। शंकराचार्य

अद्वैत वेदान्त के प्रधान प्रतिपादक माने जाते हैं। उन्होंने ज्ञान को अधिक महत्व दिया। मध्यकालीन प्रायः सभी सन्त शंकर और रामानुज दोनों से प्रभावित हुए हैं। मध्यकालीन सन्तों पर रामानुज की भक्ति और प्रपत्ति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य की छाप सगुणोपासक कवियों और भक्तों पर दिखाई पड़ती है। इन आचार्यों के क्रमशः द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत सिद्धान्तों ने हिन्दी साहित्य को काफी प्रभावित किया है।

जैनधर्म भी इन परिस्थितियों में अप्रभावित नहीं रह सका। उसके भक्ति आन्दोलन में और भी तीव्रता आई। निष्कल और सकल रूप, निर्गुण और सगुण-धारा समान रूप से प्रवाहित हुई। प्राचीन जैन आचार्यों के अनुरूप जैन साधकों ने आध्यात्मिक किंवा रहस्य साधना की। उत्तरकाल में वे वैदिक संस्कृति से कुछ रूप लेकर साधना-क्षेत्र में उतरे।

3. सामाजिक पृष्ठभूमि

मध्यकाल का समाज वर्ण व्यवस्था की कठोर भित्ति पर खड़ा था। उच्च वर्ण से निम्न वर्ण की ओर जाने की तो व्यवस्था थी पर निम्न वर्ण से उच्च वर्ण की ओर नहीं। शब्द मात्र जाति का सूचक नहीं रहा बल्कि उसे निम्न कोटि के व्यक्ति का प्रतीक माना जाने लगा। इस काल की स्मृतियों में सामाजिक नियमों का विधान किया गया। मुस्लिमों के आक्रमणों के कारण सामाजिक कट्टरता और अधिक बढ़ती गई। इसके बावजूद भारतीयता के नाते किसी में उसका विरोध करने की क्षमता नहीं रही। इस्लाम में जातिगत विभिन्नता होते हुए भी सामाजिक व्यवस्था से असन्तुष्ट व्यक्तियों के लिए इस्लाम का सहारा मिल गया।

इस समय धार्मिक स्वतंत्रता पर्याप्त रूप से दिखाई देती है। कोई भी व्यक्ति किसी धर्म को अंगीकार करने के लिए स्वतन्त्र था। इसके बावजूद स्मृतिगत वर्ण व्यवस्था को अधिक रूप से स्वीकार किया गया। अनुलोम, प्रतिलोम विवाह भी होते थे। सती प्रथा भी उस समय प्रचलित थी। बहुपत्नीत्व प्रथा होने से नारी की स्थिति दयनीय थी। उच्च कुलों में परदा प्रथा भी थी। कृषि कर्म प्रमुख व्यवसाय था और विशेषकर शूद्र वर्ग उसे किया करता था। सामाजिक रूढ़ियां विशृंखलित हो रही थीं। ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी संतों ने भी सामाजिक बंधन तोड़ने-तुड़ाने का साहस किया। इतने पर भी समाज स्मृति वर्णाश्रम व्यवस्था को अधिक उपयुक्त मानता था। इस समय स्वयंवर प्रथा भी प्रचलित थी, विशेषतः क्षत्रियों में।[1] गंधर्व तथा राक्षस विवाहों को विहित-सा माना जाने लगा था।

---

1. कबीर की विचारधारा, पृ. 74-84.

जैन धर्म मूलतः वर्ण और जाति पर विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में व्यक्ति के स्वयं के कर्म उसके सुख दुःख के उत्तरदायी होते हैं। ईश्वर जगत का कर्ता, हर्ता, धर्ता, नहीं; वह तो मात्र अधिक से अधिक मार्गदर्शक का काम कर सकता है। इसलिए वैदिक संस्कृति के विपरीत श्रमण संस्कृति में वर्णव्यवस्था "जन्मना" न मानकर 'कर्मणा' मानी गई है। परन्तु नवम् शती में जैनाचार्य जिनसेन ने वैदिक व्यवस्था में अन्य सामाजिक किंवा धार्मिक संकल्पों का जैनीकरण करके जैन धर्म और संस्कृति को वैदिक धर्म और संस्कृति के साथ लाकर खड़ा कर दिया। तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में प्रस्तुत की गई इस व्यवस्था ने काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। लगभग सौ वर्षों के बाद आचार्य सोमदेव ने उसके विरोध करने का साहस किया पर अन्ततः उन्हें जिनसेन के स्वर में ही अपना स्वर मिला देना पड़ा। बाद के जैनचार्यों ने जिनसेन और सोमदेव के द्वारा मान्य वर्ण-व्यवस्था को सहर्ष स्वीकार कर लिया। भट्टारक सम्प्रदाय में विशेष प्रगति हुई। आचार का परिपालन वहां कम होने लगा और बाह्य क्रियाकाण्ड बढ़ने लगा।

11-12 वीं शती से वैदिक और जैन समाज व्यवस्था में कोई बहुत अन्तर नहीं रहा। बौद्ध धर्म तो समाप्तप्राय हो गया पर जैन और जैनेतर सम्प्रदाय बदलती हवा में फलते-फूलते रहे। अनेक प्रकार के समाज सुधारक आन्दोलन भी हुए। कविवर बनारसीदास की अध्यात्मिक शैली को भी हम इसी श्रेणि में रख सकते हैं।

इस सामाजिक पृष्ठभूमि में हिन्दी जैन साहित्य का निर्माण हुआ। कविवर बनारसीदास, भैया भगवतीदास. द्यानतराय जैसे अध्यात्मरसिक कवियों ने साहित्य साधना की। जैन समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को उन्होंने समाप्त करने का प्रयत्न किया। ज्ञान का प्रचार किया और आचार से उसका समन्वय किया।

इधर जब वैष्णव सम्प्रदाय सामने आया तो भक्ति और अहिंसा की पृष्ठ-भूमि में उसका आचार-विचार बना। जैन धर्म का यह विशेष प्रभाव था। पूजा स्वाध्याय, योगसाधना आदि नैमित्तिक क्रियायें बनी। जैन-बौद्धों के चौबीस तीर्थंकरों के अनुसरण में उन्होंने चौबीस अवतार माने जिनमें ऋषभदेव और बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया गया। धीरे-धीरे वैष्णवी मूर्तियाँ भी बनने लगीं। वस्त्राभूषणों से उनकी सज्जा भी होने लगी। भक्ति भाव के कारण भक्त राजे-महाराजों ने मूर्तियों और मन्दिरों को सोने चान्दी से ढक दिया। फलतः आक्रमणकारियों की लोलुपी आंखों से वे न बच सके। शंकर के मायावाद, रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद, माधवाचार्य के द्वैतवाद और निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद ने वेदान्त की भूमिका से अध्यात्मवाद के बढ़ते हुए स्वर कुछ धीमे पड़ गये। बाद में हिन्दू और मुसलमानों

में एकता प्रस्थापित करने के लिए अनेक प्रयत्न प्रारम्भ हुए। कुतुबुद्दीन कुस्ती आदि कुछ मुसलमान फकीरों ने इस्लाम को भारतीयता के ढांचे में ढालने का प्रयत्न किया। जायसी जैसे सूफी कवियों ने हिन्दी भाषा मे ग्रंथ लिखे और हिन्दी कवियों ने उर्दू भाषा में। निर्गुण और सगुण भक्ति आन्दोलन अधिक विकसित हुए।

पूर्वोत्तर भारत में स्वामी रामानन्द, और सन्त कबीर पंजाब में गुरुनानक, मध्यभारत में सन्त सुन्दरदास, महाराष्ट्र में ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम और ज्ञानेश्वर थे। बंगाल में चैतन्यदेव, बिहार में विद्यापति ठाकुर, गुजरात में लोकोशाह और बुंदेलखंड में प्राणनाथ स्वामी थे। इन सभी सन्तों ने भारतीय जीवन को नई स्फूर्ति प्रदान की। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने समाज में व्याप्त अन्ध विश्वासों और कुरीतियों को दूर करने का भरपूर प्रयत्न किया। मूर्तिपूजा, जाति-पांति और कर्मकाण्ड का अपनी-अपनी बोली में विरोध कर निर्गुण भक्ति का प्रचार किया तथा हिन्दू-मुस्लिम के बीच उत्पन्न खाई को पाटकर नयी सांस्कृतिक संरचना में सराहनीय योगदान दिया।

मध्यकाल की उपर्युक्त सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जैन साहित्य और संस्कृति का क्षेत्र अप्रभावित नहीं रह सका। आचार्यों ने समय और आवश्यकता के अनुसार अपनी सीमा के भीतर ही उसमें परिवर्तन-परिवर्धन किये, साहित्य की नयी विधायें प्रारम्भ कीं और प्राचीन विधाओं को विकसित किया। परमार्थ प्राप्ति के लिए वे सगुण और निर्गुण भक्ति के माध्यम से रहस्य भावना को आंचल में बांधकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे। जिनोदयसूरि बनारसीदास, भैया भगवतीदास, आनन्दघन, विनोदीलाल, द्यानतराय, लक्ष्मीदास, पाण्डे लालचंद, दौलतराम, जिनसमुद्रसूरि, जिनहर्ष-आदि शताधिक कवि इस क्षेत्र के जाज्वल्यमान नक्षत्र रहे हैं जिन्होंने अपनी चिरन्तन जीवन कृतियों में अध्यात्मरस को बड़े प्रभावक ढंग से प्रस्तुत किया है।

आदिकाल से मध्यकाल तक की इस यात्रा में हिन्दी जैन साहित्यकारों ने अनेक पड़ाव बनाये, उन्हें समृद्ध किया और फिर वे आगे चल पड़े। उनकी गति कहीं रुकी नहीं। साहित्य साधना की अविरल धारा में उनका अध्यात्म जीवन सदैव रहस्यभावना में आप्लावित रहा है। इसी धारा में उन्होंने नई-नई विधाओं का सृजन किया, भाषा का विकास किया जिन्हें उत्तरकालीन सभी कवियों ने आभार स्वीकारा। यह तथ्य आगे के पृष्ठों में स्पष्ट होता चला जायेगा।

द्वितीय परिवर्त

आदिकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियाँ

मध्यकाल संस्कृत और प्राकृत की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद बाण और श्रीहर्ष तक कान्यकुब्ज संस्कृत का प्रधान केन्द्र रहा। इसी तरह मान्यखेट, माहिष्मती, पट्टण, धारा, काशी, लक्ष्मणावती आदि नगर भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस काल में संस्कृत साहित्य पाण्डित्य प्रदर्शन तथा शास्त्रीय वाद-विवाद के पजड़े में पड़ गया। वहां भावपक्ष की अपेक्षा कला पक्ष पर अधिक जोर दिया गया। इसे ह्रासोन्मुख काल की संज्ञा दी जाती है। उत्तरकाल में उसका कोई विकास नहीं हो सका।

इस युग में जिनभद्र, हरिभद्र, शीलांक, अभयदेव, मलयगिरि, हेमचन्द्र आदि का पूर्ण साहित्य, अमृतचन्द, जयसेन, मल्लिषेण, मेघनन्दन, सिद्धसेनसूरि, माघनंदि, जयशेखर, आशाधर, रत्नमन्दिरगणी आदि का सिद्धान्त साहित्य, हरिभद्र, अंकलंक, विद्यानंदि, माणिक्यनंदि, प्रभाचन्द, हेमचन्द, मल्लिषेण, यशोविजय आदि का न्याय साहित्य, अमितगति, सोमदेव, माघनंदि, आशाधर, वीरनंदि, सोमप्रभसूरि, देवेन्द्रसूरि, राजमल्ल आदि का आचार साहित्य, अकलंक, वप्पिभट्टि, धनंजय, विद्यानंदि, वादिराज, मानतुंग, हेमचन्द, आशाधर, पद्मनंदि, दिवाकरमुनि आदि का भक्ति परक साहित्य, रविषेण, जिनसेन, गुणभद्र, श्रीचन्द्र, दामनन्दि, मल्लिषेण, देवप्रभसूरि, हेमचन्द, आशाधर, जिनहर्षगणि, मेरुतुंगसूरि, विनयचन्दसूरि, गुणविजयगणि आदि का पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य, हरिषेण, प्रभाचन्द, सिद्धर्षि, रत्नप्रभाचार्य, जिनरत्नसूरि, माणिक्यसूरि आदि का कथा साहित्य, संस्कृत भाषा में निबद्ध हुए। इसी तरह ललित, ज्योतिष, कोश, व्याकरण, आयुर्वेद, अलंकार-शास्त्र आदि क्षेत्रों में जैन कवियों ने संस्कृत भाषा के साहित्य भण्डार को भरपूर समृद्ध किया।

इसी युग में प्राकृत भाषा में आगमों पर भाष्य, चूर्णि व टीका साहित्य लिखा गया। कर्म साहित्य के क्षेत्र में वीरसेन, जयसेन, नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती

शीरशेखरविजय, चन्दर्सि महत्तर, गर्गर्षि, जिनवल्लभगणि, देवेन्द्रसूरि, हर्षकुलगणि आदि आचार्यों ने, सिद्धान्त के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि, कुमार कार्तिकेय, शांतिसूरि, राजशेखरसूरि, अभयवल्लभ, गुणरत्नविजय आदि आचार्यों ने, आचार व भक्ति के क्षेत्र में हरिभद्रसूरि, वीरभद्र, देवेन्द्रसूरि. वसुनंदि, जिनप्रभसूरि, धर्मघोषसूरि आदि आचार्यों ने, पौराणिक और कथा के क्षेत्र में शीलाचार्य, भद्रेश्वरसूरि, सोमप्रभाचार्य, श्रीचन्दसूरि, लक्ष्मणगणि, संघदासगणि, धर्मदासगणि, जयसिंहसूरि, देवभद्रसूरि, देवेन्द्रगणि, रत्नशेखरसूरि, उद्योतनसूरि, गुणपालमुनि, देवेन्द्रसूरि आदि आचार्यों ने प्राकृत भाषा में सर्वाधिक ग्रन्थ लिखे। लाक्षणिक, गणित, ज्योतिष, शिल्प आदि क्षेत्रों में भी प्राकृत भाषा को अपनाया गया जिसने हिन्दी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

प्राकृत के ही उत्तरवर्ती विकसित रूप अपभ्रंश ने तो हिन्दी साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया है। स्वयंभू (7–8वीं शती) का पउमचरिउ और रिट्ठ-णेमिचरिउ, धवल (10–11वीं शती) और यशःकीर्ति (15वींशती) के हरिवंश-पुराण, पुष्पदत (10वीं शती) के तिसट्ठिपुरिसगुणालंकारु (महापुराण), जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ, धनपाल धक्कड़ (10वीं शती) का भविसयत्त-कहा, कनकामर, (10वीं शती) का करकण्डु चरिउ, धाहिल (10वी शती) का पउमसिरिचरिउ, हरिदेव का मयणपराजय, अब्दुल रहमान का सदेसरासक, रामसिंह का पाहुड़दोहा, देवसेन का सावयधम्मदोहा आदि सैकड़ों ग्रन्थ अपभ्रंश में लिखे गये हैं जिन्होंने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल को प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा स्वाभाविक वर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धान्तों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थों में सहजता पूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह आद्य कड़ी है। इसलिए अपभ्रंश की कतिपय मुख्य विशेषताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

अपभ्रंश जिसे आभीरोक्ति, भ्रष्ट और देशी भाषा कहा गया है, भाषा होने के कारण उसके बोली रूपों में वैविध्य होना स्वाभाविक था। प्राकृत सर्व-स्वकार मार्कण्डेय ने उसके तीन प्रमुख रूपों का उल्लेख किया है–नागर, व्राचड तथा उपनागर। डॉ. याकोबी ने उसे उत्तरी, पश्चिमी, पूर्वी तथा दक्षिणी के रूपों में विभाजित किया है। डॉ. तगारे ने इस विभाजन को तीन भेदों में ही समाहितकर निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

1. पूर्वी अपभ्रंश–सरह तथा कण्ह के दोहाकोश और चर्यापदों की भाषा। इसे मागधी अपभ्रंश भी कहा जाता है, प. बंगला, उड़िया, भोजपुरी, मैथिली आदि भाषायें इसी से निकली हैं।

2. दक्षिणी अपभ्रंश—पुष्पदंत कृत, महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहरचरिउ एवं कनकामर के करकंडुचरिउ की भाषा। [illegible] का पूर्वी अपभ्रंश भेद इसी में गर्भित हो जाता है।

3. पश्चिमी अपभ्रंश—कालिदास, जोइन्दु, रामसिंह, धनपाल, हेमचन्द्र आदि की अपभ्रंश भाषा, जिसका रूप विक्रमोर्वशीय, सावयधम्मदोहा, पाहुड़ दोहा, भविसयत्तकहा एवं हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश दोहों आदि में उपलब्ध होता है। इसे नागर अपभ्रंश कहा जाता है। यह शौरसेनी प्राकृत संबद्ध भाषा थी। इसे परिनिष्ठित अपभ्रंश भी कहा जाता है।

डॉ० भोलाशंकर व्यास ने जैसा कहा है, वस्तुतः लगभग 12वीं शती तक शौरसेनी (नागर) अपभ्रंश में ही साहित्य लिखा जाता रहा है। पुष्पदंत वगैरह कवियों की भाषा भी दक्षिणी न होकर पश्चिमी ही रही है। इसी शौरसेनी से पूर्वी राजस्थान, ब्रज, दिल्ली मेरठ आदि की बोलियों का विकास हुआ। गुर्जर और अवन्ती की बोलियां भी इसी के रूप हैं।

डॉ० व्यास ने शौरसेनी अपभ्रंश (नागर) की विशेषताओं को इस प्रकार से गिनाया है—

1. स्वर और ध्वनियाँ :

(i) महाराष्ट्री प्राकृत के समान यहां ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ ध्वनियां पायी जाती है। जिन संस्कृत शब्दों में ए-ऐ तथा ओ-औ ध्वनियां और उनके बाद संयुक्त व्यंजन आवें वे स्वर क्रमशः ह्रस्व ए (=अ॑) व ओ (=ऑ) हो जाते हैं। जैसे—पॅक्ख (प्रेक्ष), सोक्ख जॉव्वण में प्रथम स्वर ह्रस्व (एकमात्रिक) है।

(ii) ऋ, लृ, ऐ, औ का अभाव है। ऐ, औ की जगह अइ, अउ उच्चरित होने लगा।

(iii) 'य' श्रुति का प्रयोग अपभ्रंश की अन्यतम विशेषता है जैसे-णायकुमार, जुयल। 'व' श्रुति भी जहां-कहीं मिल जाती है। जैसे—रुवंति, सुहव, (रुदंति, सुभग)।

(iv) अन्त्य स्वर की ह्रस्वीकरण-प्रवृत्ति। जैसे—कोइ, होइ।

2. व्यंजन ध्वनियाँ :

(i) स्वर के मध्य रहने वाले क्, त्, प्, का ग्, द्, ब्, हो जाता है तथा ख्, थ्, फ्, का घ्, ध्, भ्, हो जाता है। जैसे—मदकल (मयगल), विप्रियकारक (विप्पिअगारउ), सापराध (सावराह)।

(ii) पद के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं रहता, मात्र, ण्ह, म्ह, ल्ह संयुक्त ध्वनियाँ ही आदि में आ सकती हैं। इसकी पूर्ति के लिए हेमचन्द्र ने 'रेफ' का आगम माना है। जैसे—व्यास (व्रासु), दृष्टि (द्रेट्ठि)। पर इनका प्रयोग कम मिलता है।

(iii) श और ष का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया। य के स्थान पर 'ज' का प्रयोग हुआ है।

(iv) संयुक्त व्यंजन की संख्या मात्र 31 रह गई।

(v) मध्यवर्ती 'म' का 'वँ' हो जाता है। प्रायः 'न' तत्सम शब्दों में सुरक्षित रहता था पर तद्भव रूपों में एक साथ 'म', 'वँ' दोनों रूप मिलते हैं। जैसे—गाम-गाँव, सामल-साँवल।

(vi) अन्त्य स्वर का ह्रस्वीकरण।

पद रचना :

(i) अपभ्रंश में व्यंजनांत (हलन्त) शब्द नहीं मिलते हैं। जैसे मण (मनस्), जग (जगत्), अप्पण (आत्मन्)। इसलिए अपभ्रंश के सभी शब्द स्वरांत होते हैं।

(ii) लिंग की कोई विशेष व्यवस्था नहीं रहती, फिर भी साधारणतः परम्परा का ध्यान रखा जाता रहा है।

(iii) वचन दो ही होते हैं।

विभक्तियाँ और शब्द रूप :

(i) प्राकृत में चतुर्थी और षष्ठी का अभेद स्थापित हुआ था पर अपभ्रंश मे इसके साथ ही द्वितीया और चतुर्थी, सप्तमी और तृतीया, पंचमी तथा षष्ठी के एक वचन तथा प्रथमा एवं द्वितीया का भेद समाप्त हो गया।

(ii) प्रथमा एकवचन मे प्राकृत का 'ओ' वाला रूप पुत्तो तथा 'उ' वाले रूप पुत्त, पुत्तु रूप मिलते हैं। कहीं-कहीं शून्य विभक्ति रूप 'पुत्त' भी मिलता है।

(iii) प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन में 'उ' विभक्ति चिन्ह मिलता है। कहीं-कहीं 'अ' वाला रूप 'पुत्त' तथा शुद्ध प्रतिपादिक रूप 'पुत्त' भी मिल जाता है।

(iv) प्रथमा—द्वितीया विभक्ति के बहुवचन रूपों में 'आ' वाले रूप 'पुत्ता' तथा शून्य रूप 'पुत्त' भी मिलते हैं।

(v) तृतीया तथा सप्तमी एकवचन के रूप मिश्रित हो गये हैं। इसमें

प्राकृत 'एण' वाले रूपों के अतिरिक्त 'इ' (पुत्ति), 'ए' (पुत्ते) तथा 'इ' (पुत्तइ) वाले रूप भी मिलते हैं।

(vi) चतुर्थी, पंचमी तथा षष्ठी के रूप 'हु' तथा 'हो' चिन्ह वाले 'पुत्तहु', 'पुत्तहो' मिलते हैं। साथ ही 'पुत्तस्स' रूप भी देखा जाता है।

(vii) तृतीया तथा सप्तमी बहुवचन में 'हिं' वाले रूप अधिक पाये जाते हैं, 'पुत्तहिं' (पुत्तहि)। तृतीया में 'एहिं' वाले रूप भी मिलते हैं–'पुत्तेहिं'

(viii) पंचमी और षष्ठी बहुवचन में पुत्तह, पुत्तहं जैसे रूप मिलते हैं।

(ix) नपुंसक लिंग के प्रथमा एवं द्वितीया बहुवचन में 'इ-ईं' (फलाइ-फलाइं) वाले रूप होते हैं।

(x) कारक में केवल तीन समूह शेष रह गये–(a) प्रथमा, द्वितीया, संबोधन, (b) तृतीया, सप्तमी, और (c) चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी।

सर्वनाम :

'अस्मत्' शब्द के प्रथमा एकवचन में 'हउं', मइ-मइं और बहुवचन में अम्हे, अम्हई, द्वितीया।

(ii) तृतीया व सप्तमी में मए-मई, पंचमी-षष्ठी में महु-मज्झु, रूप मिलते हैं। युष्मत् शब्द के प्रथमा के रूप तुहु-तुहुं, द्वितीया-तृतीया के पइ-पइं तइं; पंचमी-षष्ठी में तुह-तुज्झ-तुज्झु तथा तत्-यत्; के अपभ्रंश रूप सो-जो मिलते है।

धातु रूप :

(i) अपभ्रंश में आत्मने पद का प्रायः लोप हो गया है।

(ii) दस गणों का भेद समाप्त हो गया। सभी धातु भ्वादिगण के धातुओं की तरह चलते हैं।

(iii) लकारों में भी कमी आई। भूतकाल के तीनों लकार अदृष्ट हो गये तथा हेतु-हेतु मद्भूत भी नहीं दिखता। इनके स्थान पर भूतकालिक कृदन्त रूपों का प्रयोग पाया जाता है। मुख्यतः लट्, लोट् और लृट्, लकार बच गये।

(iv) णिजंत रूप, नाम धातु, च्वि रूप तथा अनुकरणात्मक क्रिया रूप भी पाए जाते हैं। धातु रूपों में वर्तमानकाल के उत्तम पुरुष एकवचन में 'उँ' वाले रूप करऊँ, बहुवचन में 'मो' व 'हुँ' वाले रूप; मध्यम पुरुष के एकवचन-बहुवचन में क्रमशः सि-हि तथा हु वाले रूप; अन्य पुरुष एकवचन में इ-एइ (करइ-करेइ) और बहुवचन में न्ति-हिं

(करंति-करहिं) विभक्ति चिन्ह पाए जाते हैं। आज्ञार्थक क्रिया रूपों में उत्तम पुरुष के रूप नहीं मिलते। मध्यम पुरुष एकवचन में विविध रूप पाए जाते हैं—शून्य रूप या धातुरूप (कर) उ, इ, ह, हि वाले रूप (करि, करु, करह, करहि, करिहि), बहुवचन में ह, हु, हो वाले रूप (करह, करहु, करहो) पाए जाते हैं। अन्य पुरुष एकवचन में 'उ' चिन्ह (करउ) पाया जाता है।

(v) विध्यर्थ में ज्ज का प्रयोग मिलता है–करिज्जउ, करिज्जहि, करिज्जहु आदि। इसका प्रयोग वर्तमान और भविष्य कालार्थ में भी होता है।

(vi) भविष्यकाल के रूप वर्तमान कालिक रूपों पर आधृत हैं। इन रूपों के बीच में स, ह का प्रयोग होता है। 'ह' रूपों के साथ वर्तमान कालिक तिङ् प्रत्ययों का ही प्रयोग होता है।

(vii) भूतकाल के लिए निष्ठा प्रत्यय से विकसित कृदन्त रूप कअ, कहिअ, हुव आदि रूप उपलब्ध होते हैं।

(viii) कर्मणि प्रयोगों में इज्ज (गणिज्जइ, ण्हाइज्जइ) के साथ अन्य तिङ् प्रत्ययों को जोड़ दिया जाता है।

परसर्गों का उदय :

(i) अपभ्रंश के प्रमुख परसर्ग हैं—होन्त-होन्तउ-होन्ति, ठिउ, केरअ-केर और तण। सप्तमी वाले रूप के साथ 'ठिउ' का प्रयोग होने पर पंचम्यर्थ की प्रतीति होती है। केर या केरअ परसर्ग का प्रयोग किसी वस्तु से सम्बद्ध होने के अर्थ मे पाया जाता है। षष्ठी विभक्ति के परसर्ग के रूप में इसका प्रयोग अपभ्रंश की ही विशेषता है। करण-कारक के लिए सहुं, तण, सम्प्रदान के लिए केहि, रेसि, अपादान के लिए होन्तउ, होन्त, थिउ, सम्बन्ध के लिए केरउ, केर, कर, की, का और सप्तमी के लिए मज्झ, महँ आदि परसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया।

वाक्य रचना :

(i) कारक-व्यत्यय अधिक देखा जाता है। षष्ठी का प्रयोग सभी कारकों के लिए हुआ है। सप्तमी का प्रयोग कर्म तथा करण के लिए पंचमी विभक्ति का प्रयोग करणकारक के लिए तथा द्वितीया का प्रयोग अधिकरण के लिए देखा जाता है।

(ii) अपभ्रंश में निर्विभक्तिक पदों के प्रयोग के कारण वाक्य रचना निश्चित-सी हो चली है।

प्रारम्भिक हिन्दी और उत्तरकालीन हिन्दी पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा हुआ है। हिन्दी का ढांचा अपभ्रंश की देन है। हिन्दी का परसर्ग प्रयोग, निर्विभक्तिक रूपों की बहुलता, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य प्रणाली के बीज अपभ्रंश में ही देखे जाते हैं। परवर्ती अपभ्रंश में स्थानीय भाषिक तत्व बढ़ते गये और लगभग तेरहवीं शती तक आते-आते पूर्व-पश्चिम देशवर्ती बोलियां स्वतन्त्र रूप से खड़ी हो गईं। गुजराती, मराठी, बंगला, राजस्थानी, ब्रज, मैथिली आदि क्षेत्रीय भाषाएँ इसी का परिणाम है। डॉ. नामवरसिंह ने इन भाषाओं के विकास में अपभ्रंश के योगदान की चर्चा की है। उनके अनुसार यह योगदान निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है, विशेषतः मध्यकालीन हिन्दी के क्षेत्र में।

1. निर्विभक्ति पदों का उपयोग।
2. उ विभक्ति का प्रयोग जिसका खड़ी बोली में लोप हो गया।
3. करण, अधिकरण के साथ ही कर्म, सम्प्रदान और अपादान में भी हि-हिं विभक्ति का प्रयोग।
4. न्हि-न्ह विभक्ति का प्रयोग सामान्यतः कर्म, सम्प्रदान, करण, अधिकरण और सम्बन्ध कारको में।
5. परसर्गों में सम्बन्ध कारक केरअ, केर, कर, का, की, अधिकरण कारक मज्झे, मज्झु, मांझ, सम्प्रदान कारक केहि, रेसि, तण प्रमुख हैं। प्रयत्न लाघव प्रवृत्ति के कारण इन परसर्गों में घिसाव भी हुआ है।
6. सर्वनाम—हउँ और हौ (उत्तम पु. एकव.), हम (उ.पु. बहुव.), मो और मोहि, मुज्झ-मुज्झु (सम्प्रदान), तुहुँ-तुउं-तुं-तू-तइँ-तै, तुम्ह-तुम (उत्तमपु.) तउ-तो-तोहि-तोर-तुज्झ (सम्बन्ध), ओ-ओइ-ओहु (अन्य पु.), अप्पण-आपन, आपु, (निजवाचक), एहु-यह-ये-इस-इन (निकट नि-स.), जो (सम्बन्ध वाचक), काइं-कवण-कौन (प्रश्न.), कोउ, कोऊ, (अनि.)।
7. सार्वनामिक विशेषण—अइसो, तइसो, कइसो, अइसो. एहुउ।
8. क्रमवाचक—पढम, पहिल, बिय, दूज, तीज आदि।
9. क्रिया—संहिति से व्यवहिति की ओर बढ़ी।
10. तिङन्ततद्भव—अच्छि, आछै, अहै-है; हुतो-हो, था।
11. सामान्य वर्तमान काल—ऐ (करैं), ए (करे), औं (वंदौं) रूप।
12. सामान्य भविष्यत काल—करिसइ, करिसहुँ, करिहइ, करिहउँ आदि।
13. वर्तमान आज्ञार्थ—सुमरि, बिलम्बु, करे जैसे रूप।
14. कृदन्त-तद्भव—करत, गयउ, कीनो, कियो आदि जैसे रूप।
15. अव्यय—आज, अबहिं, जांब, कहँ, जहँ, नाहिं, लौं, जइ आदि।

अपभ्रंश भाषा की तरह अपभ्रंश साहित्य ने भी हिन्दी, जैन व जैनेतर साहित्य को कम प्रभावित नहीं किया है। इसे समझने के लिए हमें संक्षेप में अपभ्रंश जैन साहित्य पर एक दृष्टिपात करना आवश्यक होगा। यह साहित्य मुख्यतः प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तककाव्य की प्रवृत्तियों से जुड़ा हुआ है। पुराणकाव्य और चरितकाव्य संवेतात्मक हैं। यहां जैन महापुरुषों के चरित का आख्यान करते हुए आध्यात्मिकता और काव्यत्व का समन्वय किया गया है। समूचे जैन साहित्य में ये दोनों तत्व आपादमग्न हैं।

अपभ्रंश का आदिकाल भरत के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है जहाँ छन्दःप्रकरण में उकार प्रवृत्ति देखी जाती है (मोरल्लउ, नच्चतंउ)। आगे चलकर कालिदास तक आते-आते इस प्रवृत्ति का और विकास हुआ। उनके विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश की विविध प्रवृत्तियां परिलक्षित होती हैं। संस्कृत-प्राकृत के छन्द तुकान्त नहीं थे। जबकि अपभ्रंश के छन्द तुकान्त मिलने लगे। गाथासे दोहा का विकास हुआ। दण्डी के समय तक अपभ्रंश साहित्य अपने पूर्ण विकासकाल में आ चुका था। साथ ही कुछ ऐसी प्रवृत्तियां भी बढ़ गई थीं जिनका सम्बन्ध हिन्दी के आदिकाल से हो जाता है। सम्भवतः इसी कारण से उद्योतन सूरि ने अपभ्रंश को संस्कृत-प्राकृत के शुद्धा-शुद्ध प्रयोगों से मुक्त माना है। कुवलयमाला से 'देसी भासा' के कुछ उदाहररण दिये भी जाते हैं जो नाटक साहित्य से लिए गए हैं।

ताव इमं गीययं गीयं गामनडीए,

जो जसु माणुसु वल्लहउ तंजइ अण रमेइ।
जइ सो ज्जाणइ जीवइ वि तो तहु पाण लएइ॥

नाटकों में भी अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। शूद्रक ने उसका प्रयोग हीन पात्रों के लिए किया है। वहाँ माथुर की उक्ति में उकार बहुलता दिखाई देती है। स्वयंभू, पुष्पदंत आदि की भी अपभ्रंश रचनाएँ हमारे सामने हैं ही। इन्हीं रचनाओं में देशी भाषा के भी कतिपय रूप दिखाई देते हैं। राष्ट्रकूट और पाल राजाओं के आश्रय से अपभ्रंश का विकास अधिक हुआ। इधर मम्मट (11वीं शती), वाग्भट्ट (12वीं शती), अमरचन्द (13वीं शती), भोज, आनन्दवर्धन जैसे आलंकारिकों ने अपभ्रंश के दोहों को उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया जो उस भाषा की महत्ता की ओर स्पष्ट इंगित करते हैं। हेमचन्द (12वीं शती) द्वारा उल्लिखित दोहों को देखकर तो अपभ्रंश के पाणिनि डॉ. रिचार्ड पीशेल भावविभोर हो गये और उन्हीं के आधार पर उन्होंने उसकी विशेषताओं का आकलन कर दिया जो आज भी यथावत् है। डॉ. याकोबी ने भी 'भविसयत्तकहा' की भूमिका में अपभ्रंश साहित्य की विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

इन विदेशी विद्वानों के गहन अध्ययन के कारण हमारे देश के विद्वानों का भी ध्यान अपभ्रंश साहित्य की ओर आकर्षित हुआ। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचंद

शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, रामकुमार वर्मा, भोलाशंकर व्यास, नामवरसिंह, शिवप्रसादसिंह, रामचन्द्र तोमर, हीरालाल जैन आदि विद्वानों ने अपभ्रंश का अध्ययन किया और उसे पुरानी हिन्दी अथवा देशी भाषा कहकर सम्बोधित किया। सरहपा, कण्ह आदि बौद्ध संतों के, स्वयंभू, पुष्पदंत आदि जैन विद्वानों और चन्दवरदाई तथा विद्यापति जैसे वैदिक कवियो ने भी इसको इसी रूप में देखा। अपभ्रंश और अवहट्ट ने हिन्दी के विकास में अनूठा योगदान दिया है। इसलिए हमने अपभ्रंश और अवहट्ट को हिन्दी के आदिकाल का प्रथमभाग तथा पुरानी हिन्दी को आदिकाल का द्वितीय भाग माना है।

अपभ्रंश ने कालान्तर में साहित्यिक रूप ले लिया और भाषा के विकास की गति के हिसाब से वह आगे बढ़ी जिसको अवहट्ट कहा गया। इसी को हम पुरानी हिन्दी कहना चाहेंगे। विद्वानों ने इसकी कालसीमा 11 वीं शती से 14 वीं शती तक रखी है। अब्दुल रहमान का संदेसरासक, शालिभद्र सूरि का बाहुबली रास, जिनपद्म सूरि का थूलिभद्द फागु आदि रचनाएं इसी काल में आती हैं।

इस काल की अवहट्ट किंवा पुरानी हिन्दी में सरलीकरण की प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई। विभक्तियों का लोप-सा होने लगा। परसर्गों का प्रयोग बढ़ गया। ध्वनि परिवर्तन और रूप परिवर्तन तो इतना अधिक हुआ कि आधुनिक भाषाओं के शब्दों के समीप तक पहुंचने का मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा। विदेशी शब्दों का उपयोग बढ़ा। इल्ल, उल्ल आदि जैसे प्रत्ययों का प्रयोग अधिक होने लगा। संभवतः इसीलिए डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपभ्रंश साहित्य को भाषाकी दृष्टि से हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है। "चूंकि भाषा को साहित्य से पृथक् नहीं किया जा सकता इसलिए अपभ्रंश साहित्य भी हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध होना चाहिये भले ही वह संक्रान्तिकालीन रहा है।" विद्वानों के इस मत को हम पूर्णतः स्वीकार नहीं कर सकते। हाँ, प्रवृतियों के सन्दर्भ में उसका आकलन अवश्य किया जा सकता है।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, आदिकाल का काल निर्धारण और उसकी प्रामाणिक रचनाएं एक विवाद का विषय रहा है। जार्ज ग्रियर्सन से लेकर गणपति चन्द्र गुप्त तक इस विवाद ने अनेक मुद्दे बनाये पर उनका समाधान एक मत से कहीं नहीं हो पाया। जार्ज ग्रियर्सन ने चारणकाल (700-1300 ई.) की संज्ञा देकर उसके जिन नौ कवियों का उल्लेख किया है उनमें चन्दवरदायी को छोड़कर शेष कवियों की रचनायें ही उपलब्ध नहीं होतीं। इसके बाद मिश्रबन्धुओं ने "मिश्र बन्धु विनोद" के प्रथम संस्करण में इस काल को आरम्भिक काल (सं. 700-1444) कह कर उसमे 19 कवियों को स्थान दिया है। पर उन पर मन्थन होने के बाद अधिकांश कवि प्रामाणिकता की सीमा से बाहर हो जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में आदिकाल को दो भागों में विभाजित किया– अपभ्रंश और देश भाषा की रचनाएं। इनमें जैन काव्यों को कोई स्थान नहीं दिया गया। डॉ.

रामकुमार वर्मा ने भी हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को दो खण्डों में विभाजित किया- संधिकाल (सं. 750-1200) एवं चारणकाल (1000-1375सं.)। इसमें जैन साहित्य को समाहित करने का प्रयत्न हुआ है। उन्होंने उसे दो वर्गों में विभक्त किया है[1]-साहित्यिक अपभ्रंश रचनाएं, और (2) अपभ्रंश परवर्ती लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी रचनाएं। प्रथम वर्ग में स्वयंभूदेव, देवसेन, पुष्पदंत, धनपाल, मुनि रामसिंह, अभयदेव सूरि, चन्द्रमुनि, कनकामर मुनि, नयनन्दि, जिनदत्त सूरि, योगचन्द्र, हेमचन्द्र, हरिभद्रसूरि, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुंग आदि कवियों की रचनाएं आती हैं और द्वितीय वर्ग में शालिभद्र सूरि, जिनपद्म सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धर्मसूरि, विजयसेन सूरि, अम्बदेव सूरि, राजशेखर सूरि, आदि कवियों की रचनाओं को स्थान दिया गया है। इन कवियों का काल 8 वीं शदी से 14 वीं शदी तक आता है। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दी साहित्य के आदिकाल' में जैन, सिद्ध एवं नाथ साहित्य को स्थान देना उचित नहीं समझा। फिर भी उन्होंने हिन्दी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न माना है। हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक इतिहास में इस संदर्भ में कुछ प्रयास अवश्य हुआ है पर उसमे भी कुछ उत्तम कोटि की रचनाएं रह गई हैं। अगर चन्द नाहटा ने "प्राचीन काव्यों की रूप परंपरा में आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की परवर्ती रचनाओं को समाहित का करने प्रयत्न किया है। इधर इस काल की विविध विधाओं पर स्वतन्त्र रूप से भी काफी काम हुआ है। गोविन्द रजनीश, नरेन्द्र भानावत, महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, पुरुषोत्तम मेनारिया, शम्भूनाथ पाण्डेय, भोलाशंकर व्यास, वासुदेव सिंह, पुरुषोत्तम प्रसाद आसोया, रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' परमानन्द शास्त्री, गणपतिचन्द्र गुप्त, डॉ. हरीश आदि विद्वानों के कार्य इस संदर्भ मे उल्लेखनीय हैं। गणपति चन्द्र गुप्त ने "आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएं" पुस्तक में इस काल के हिन्दी जैन साहित्य को अच्छे ढंग से समायोजित किया है।

यहां हम इन सभी विद्वानों द्वारा उल्लिखित रचनाओं के आधार पर हिन्दी की आदिकालीन जैन कृतियों पर संक्षिप्त प्रकाश डाल रहे हैं। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयंभू, पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश कवियों के ग्रंथों को भी हमने इस काल में समेटा है। यह इसलिए कि इस काल में लोकभाषा के प्रचलित तत्व इन ग्रन्थों में यत्र-तत्र उभर आये हैं। इसी काल के द्वितीय भाग में ये तत्व आधुनिक हिन्दी के काफी नजदीक आते दिखाई देते हैं। कुछ विद्वानों ने इसे अवहट्ट का रूप कहा है और कुछ ने देशी भाषा का। हम इसे आदिकालीन ही कहना उपयुक्त समझते हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यद्यपि अपभ्रंश और हिन्दी को पृथक्-पृथक् माना जाता है और माना जाना चाहिये। पर चूंकि हिन्दी की संरचना में अपभ्रंश काल में प्रचलित देशी भाषा के तत्वों ने विशेष योगदान दिया है जो

---

1. हिन्दी साहित्य, पृ. 15,

अपभ्रंश साहित्य में परिलक्षित होता है। इसीलिए हमने आदिकाल की सीमा को स्वयंभू से प्रारम्भ करने का सुझाव दिया है। वैसे हिन्दी का यह आदिकाल सही रूप में मुनि शालिभद्र सूरि से प्रारम्भ होता है जिन्होंने भरतेश्वर बाहुबली रास (वि. सं. 1241 सन् 1184) लिखा है। यह रचना इस संदर्भ में प्रतिनिधि रूप से प्रथम मानी जा सकती है। श्री अगरचन्द नाहटा ने वज्रसेन सूरि विरचित भरतेश्वर बाहुबली घोर को प्रथम रचना मानने का आग्रह किया है पर वह अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण प्रातिनिधिक रचना नहीं कहीं जा सकती। डॉ. दिनेश ने सरहपा को हिन्दी का प्रथमतम कवि प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है पर अपने पक्ष में प्रस्तुत तर्क तो फिर स्वयंभू को प्रथमतम कवि मानने को बाध्य कर देते हैं। यहां हमने इन दोनों मतों को समाहितकर हिन्दी के आदिकाल को दो भागों में विभाजित किया है प्रथम अपभ्रंश बहुल हिन्दी काल और दूसरा प्रारम्भिक हिन्दी काल प्रथम काल भाग का प्रारम्भ स्वयंभू से होता है और दूसरे को शालिभद्र सूरि से प्रारम्भ किया है।

स्वयंभू यापनीय संघ के आचार्य थे। वे कोसल के मूल निवासी थे पर उनका कार्य क्षेत्र मान्यखेट अधिक रहा जहां वे राष्ट्रकूट राजा ध्रुव (वि. सं. 837-851) के मंत्री रयडा धनंजय के आग्रह पर पहुंचे। स्वयंभू के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं– पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंश पुराण)। इन दोनों के अन्तिम भागों को वे पूरा नहीं कर सके। उन्हें पूरा किया उनके कनिष्ठ पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने। ब्राह्मण परम्परा में पले-पुसे कवि ने जैन परम्परा को स्वीकारा और उसी के अनुरूप ग्रन्थ रचना की। अलौकिकता से दूर उनके ग्रन्थ राम, कृष्ण, अरिष्टनेमि जैसे महापुरुषों की मानवीय दुर्बलताओं को अभिव्यक्त करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। संस्कृत काव्य परम्परा से जुड़े हुये इन अलंकृत काव्यों में सभी रसों का समान प्रवाह हुआ है। इन काव्यों की भाषा में लोक भाषा का भी प्रयोग काफी हुआ है। सेहरु, थवथवंति, घोलइ, भिडिय, खलइ, बलइ, गुंजा, आदि जैसे शब्द प्रारम्भिक हिन्दी की ओर यात्रा करते हुए प्रतीत होते हैं। उदाहरणतः—

> तो भिडिय परोप्परु रणकुसल। विण्णि वि णव-णाय सहास बल।
> विण्णि वि गिरि तुंग-सिंग-सिहर। विण्णि वि जल-हर-रव-गहिर-गिर॥
>
> (हरिवंशपुराण)

स्वयंभू के बाद पुष्पदंत अपभ्रंश भाषा के द्वितीय कवि हुये। वे मूलतः [illegible] या [illegible] (दिल्ली) के आस पास के निवासी काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण और शैव धर्म के उपासक थे। पर बाद में जैन धर्म के अनुयायी हो गये। इन्हें भी मान्यखेट राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (सं. 996-1025) के मंत्री भरत और उसके पुत्र नन्न का आश्रय मिला था। प्रकृति से स्वाभिमानी होने के कारण वे आपत्तियों के शिकार अधिक रहे।

संस्कृत काव्य परम्परा से प्रभावित होने के कारण डॉ. भयाणी ने इन्हें संस्कृत का भवभूति कहा है। कवि की विशिष्ट रचनाएं तीन हैं। (1) तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार (महापुराण), (2) णायकुमार चरिउ, और (3) जसहर चरिउ। महापुराण में 63 शलाका महापुरुषों का चरित्र चित्रण है। स्वयंभू ने विमलसूरि की परम्परा का पोषण किया तो पुष्पदंत ने गुणभद्र के उत्तरपुराण की परम्परा का अनुसरण किया। वर्णन के संदर्भ में उन पर त्रिविक्रम भट्ट का प्रभाव परिलक्षित होता है। णायकुमार चरिउ में श्रुतपंचमी के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुये मगध राजकुमार नागकुमार की कथा निबद्ध है। तृतीय ग्रंथ जसहर चरिउ प्रसिद्ध यशोधर कथा का आख्यान करता है। वार्णिक और मात्रिक दोनों तरह के छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा के विकास की दृष्टि से अधोलिखित कडवक देखिए।

जलु गलइ, झल झलइ। दरि भरइ, सरि सरइ।
तडयडइ, तडि पडइ, गिरि फुडइ, सिहि णडइ॥
मरु चलइ, तरु धुलइ। जलु थलुवि गोउलु वि।
णिरु रसिउ, भय तसिउ। थर हरइ, किर मरइ॥

(महापुराण)

इसके बाद मुनि कनकामर (1122 सं.) का करकंडु चरिउ, नयनंदि (सं. 1150) का सुदंसण चरिउ, धक्कड़वंशीय धनपाल की भविसयत्त कहा, धाहिल का पउमसिरि चरिउ, हरिभद्र सूरि का णेमिणाह चरिउ, यश: कीर्ति का चन्दप्पह चरिउ आदि जैसे कथा और चरित काव्यों में हिन्दी के विकास का इतिहास छिपा हुआ है। इन कथा चरित काव्यों में जैनाचार्यों ने व्यक्ति के सहज विकास को प्रस्तुत किया है और काल्पनिकता से दूर हटकर प्रगतिवादी तथा मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया है।

अध्यात्मवादी कवियों में दसवीं शताब्दी के देवसेन और जोइन्दु तथा रामसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। देवसेन का सावय धम्म दोहा श्रावकों के लिये नीतिपरक उपदेश प्रस्तुत करता है। जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और योगसार में सरल भाषा में संसारी आत्मा को परमात्मपद प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। रामसिंह ने पाहुड़ दोहा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के व्यावहारिक स्वरूप को प्रतिपादित किया है। इन तीनों आचार्यों के ग्रन्थों की भाषा हिन्दी के आदिकाल की ओर झुकती हुई दिखायी देती है। हेमचन्द्र (1088-1172 ई.) तक आते-आते यह प्रवृत्ति और अधिक परिलक्षित होने लगती है—

भल्ला हुआ जो मारिआ, बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेज्जन्तु वयंसियहु, जइ भग्गा घरु एंतु॥

हिन्दी के आदिकाल को अधिकांश रूप में जैन कवियों ने समृद्ध किया है। इनमें गुजराती और राजस्थानी कवियों का विशेष योगदान रहा है। आदिकाल के १८८

हिन्दी कवि के रूप में भरतेश्वर बाहुबली के रचयिता (सं. 1241) शालिभद्र सूरि को स्वीकार किया जाने लगा है। यह रचना पश्चिमी राजस्थानी की है जिसमें प्राचीन हिन्दी का रूप उद्घाटित हुआ है। इसमें 203 छन्द है। कथा का विभाजन वस्तु, ठवणि, धउल, त्रूटक में किया गया है। नाटकीय संवाद सरस, सरल और प्रभावक हैं। भाषा की सरलता उदाहरणीय है—

चन्द्र चूड विज्जाहर राउ, तिणि वातइं मनि विहीय विसाउ।
हा कुल मण्डण हा कुलवीर, हा समरंगणि साहस धीर॥ ठवणि 13॥

जिनदत्त सूरि के चर्चरी उपदेश, रसावनरास और काल स्वरूप कुलकम अपभ्रंश की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कवि आसिग का जीवदया रास (वि. सं. 1257, सन् 1200) यद्यपि आकार में छोटा है पर प्रकार की दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। इसमें संसार का सुन्दर चित्रण हुआ है। इन्हीं कवि का चन्दनवाला रास है जिसमें उसने नारी की संवेदना को बड़े ही सरस ढंग से उकेरा है, अभिव्यक्त किया है। भाषा की दृष्टि से देखिये—

मुंभर भोली ता सुकुमाला, नाउ दीन्हु तसु चंदण बाला॥ 21॥
आधो खंडा तप किआ, किव आभइ बहु सुक्ख निहाणु॥ 26॥

विजयसेन सूरि का रेवंतगिरि रास (वि. सं. 1287, सन् 1230) ऐतिहासिक रास है जिसमें रेवंतगिरि जैन तीर्थ यात्रा का वर्णन है। यह चार कडवों में विभक्त है। इसमें वस्तुपाल, तेजपाल के संघ द्वारा तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति-प्रतिष्ठा का गीतिपरक वर्णन है। भाषा प्राञ्जल और शैली आकर्षक है। इसी तरह सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (सं 1295), देवेन्द्र सूरि का गयसुकुमाल रास (सं. 1300), पल्हण का आबूरास (13 वीं शती), प्रज्ञातिलक का कछूली रास (सं. 1363), अम्बदेव का समरा रासु (सं. 1371) शालिभद्र सूरि का पंचपांडव चरित रास (स. 1410), विनयप्रभ का गौतम स्वामी रास (सं. 1412), देवप्रभ का कुमारपाल रास (सं. 1450), आदि कृतियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इस काल की कुछ फागु कृतियां भी इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं। इन फागु कृतियों में जिनपद्म की सिरि थूलिभद्द फागु (सं. 1390), राजशेखर सूरि का नेमिनाथ फागु (सं. 1405), कतिपय अज्ञात कवियों की जिन चन्द्र सूरि फागु (सं. 1341), व वसन्त विलास फागु सं. 1400) का भी उल्लेख करना आवश्यक है। भाषा की दृष्टि यहाँ देखिए कितना सामीप्य है—

सोम मरुव धूव परिणाविय, जायवि तहि जन तह आविय।
नच्चइ हरिसिय वज्जहिं तूरा, देवइ ताम्ब मणोरह पूरा॥

गय सुकुमाल रास। 22।

मेरु ठामहु न चलइ जाव, जां चंद दिवायर।
सेषुनागु जां धरइ भूमि जां सातई सायर॥

धम्मह् विसउ जां अगह् मही, धीर निश्चल होए।
कुमरउ रायहं तराउ रासु तां नंदउ लोए ॥

—कुमारपाल रास

आदिकाल की इस भाषिक और साहित्यिक प्रवृत्ति ने मध्यकालीन कवियों को बेहद प्रभावित किया। विषय, भाषा शैली और परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने आध्यात्मिक और भक्ति मूलक रचनाएं लिखीं। इन रचनाओं में उन्होंने आदिकालीन काव्य शैलिओं और काव्य रूढियों का भी भरसक उपयोग किया। हिन्दी के आख्यानक काव्य अपभ्रंश साहित्य में ग्रथित लोक कथाओं पर खड़े हुए हैं। देवसेन, जोइन्दु और रामसिह् जैसे रहस्यवादी जैन कवियों के प्रभाव को हिन्दी संत साहित्य पर आसानी से देखा जा सकता है। भाषा, छन्द, विधान और काव्य रूपों की दृष्टि से भी अपभ्रंश काव्यगत वस्तु वर्णन और प्रकृति चित्रण उत्तर-कालीन हिन्दी कवियों के लिए उपजीवक सिद्ध हुये हैं। जायसी और तुलसी पर उनका अमिट प्रभाव दृष्टव्य है। छन्दविधान, काव्य और कथानक रूढ़ियों के क्षेत्र में यह प्रभाव अधिक देखा जाता है। प्रभाव ही क्या प्राय: समूचा हिन्दी जैन साहित्य अपभ्रंश साहित्य की रूढ़ियों पर लिखा गया है।

इस प्रकार अपभ्रंश और अवहट्ट से संक्रमित होकर आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य प्राचीन दाय के साथ सतत बढ़ता रहा और मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य को वह परम्परा सौंप दी। मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने अपभ्रंश भाषा और साहित्य की लगभग सभी विशेषताओं का आचमन किया और उन्हें सुनियोजित ढंग से संवारा, बढ़ाया और समृद्ध किया। इस प्रवृत्ति में जैन कवियों ने आदान-प्रदान करते हुए कतिपय नये मानों को भी प्रस्तुत किया है जो कालान्तर में विधा के रूप में स्वीकृत हुए हैं। यही उनका योगदान है।

———

तृतीय परिवर्त

मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्तियां

विगत पृष्ठों में हमने हिन्दी के मध्ययुग का काल क्षेत्र और सांस्कृतिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त अवलोकन किया। इस सन्दर्भ में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल) के रूप में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। चूंकि भक्तिकाल में निर्गुण और सगुण विचारधारायें समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही हैं तथा रीतिकाल में भक्ति सम्बन्धी रचनायें उपलब्ध होती हैं, अतः इस मध्यकाल का धारागत विभाजन न करके काव्य प्रवृत्त्यात्मक वर्गीकरण करना अधिक सार्थक लगता है। जैन साहित्य का उपर्युक्त विभाजन और भी सम्भव नहीं क्योंकि वहां भक्ति से सम्बद्ध अनेक धारायें मध्यकाल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रही हैं। इतना ही नहीं, भक्ति का काव्य-स्रोत जैन आचार्यों और कवियों की लेखनी से हिन्दी के आदिकाल में भी प्रवाहित हुआ है। अतः हिन्दी के मध्ययुगीन जैन काव्यों का वर्गीकरण कलात्मक न होकर प्रवृत्त्यात्मक किया जाना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

जैन कवियों और आचार्यों ने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पैठकर अनेक साहित्यिक विधाओं को प्रस्फुटित किया है। उनकी इस अभिव्यक्ति को हम निम्नांकित काव्य रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं :—

1. प्रबन्ध काव्य—महाकाव्य, खण्डकाव्य, पुराण, कथा चरित, रासा, संधि आदि।
2. रूपक काव्य—होली, विवाहलो, चेतनकर्मचरित आदि।
3. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य—स्तवन, पूजा, चौपई, जयमाल, चांचर, फागु, चूनड़ी, वेलि, संख्यात्मक, बारहमासा आदि।

4. गीतिकाव्य, और

5. प्रकीर्णक काव्य—रीतिकाव्य, कोश, आत्मचरित, गुर्वावली आदि।

श्री अगरचन्द नाहटा ने भाषा काव्यों का परिचय प्रस्तुत करने के प्रसंग में उनकी विविध संज्ञाओं की एक सूची प्रस्तुत की है[1]—1. रास, 2. संधि, 3. चौपाई, 4. फागु, 5. धमाल, 6, विवाहलो, 7. धवल, 8. मंगल, 9. वेलि, 10. सलोक, 11. संवाद, 12. वाद, 13. झगड़ो, 14. मातृका, 15. बावनी, 16. कक्क, 17. बारहमासा, 18. चौमासा, 19. पवाड़ा, 20. चर्चरी (चाचरि), 21. जन्माभिषेक, 22. कलश, 23. तीर्थमाला. 24. चैत्यपरिपाटी. 25. संघवर्णन, 26. ढाल, 27. ढालिया, 28. चौढालिया, 29. छढालिया, 30. प्रबन्ध, 31. चरित, 32. सम्बन्ध, 33. आख्यान. 34. कथा, 35. सतक, 36. बहोत्तरी, 37. छत्तीसी, 38. सत्तरी, 39. बत्तीसी, 40. इक्कीसो, 41. इकतीसो, 42. चौबीसी, 43. बीसी, 44. अष्टक, 45. स्तुति, 46. स्तवन, 47. स्तोत्र. 48. गीत, 49. सज्झाय, 50. चैत्यवंदन, 51. देववंदन, 52 वीनती, 53 नमस्कार, 54. प्रभाती, 55. मंगल, 56. सांझ, 57. बधावा, 58. गहूंली, 59. हीयाली, 60. गूढा, 61. गजल, 62. लावणी, 63. छंद, 64. नीसाणी, 65. नवरसो, 66. प्रवहण, 67. पारणो, 68. वाहण, 69. पट्टावली, 70. गुर्वावली, 71. हमचड़ी, 72. हींच, 73. मालामालिका, 74. नाममाला, 75. रागमाला, 76. कुलक, 77. पूजा, 78. गीता, 79. पट्टाभिषेक, 80. निर्वाण, 81. संयमश्री विवाह वर्णन, 82. भास, 83. पद, 84. मंजरी, 85. रसावलो, 86. रसायन, 87. रसलहरी, 88. चन्द्रावला, 89. दीपक, 90. प्रदीपिका, 91. फुलडा, 92. जोड़, 93. परिक्रम, 94. कल्पलता, 95. लेख, 96. विरह, 97. मूंकड़ी, 98. सत, 99. प्रकाश, 100. होरी 101. तरंग, 102. तरंगिणी, 103. चोक, 104. हुंडी, 105. हरण, 106. विलास, 107. गरबा, 108. बोली, 109. अमृतध्वनि, 110. हालरियो, 111. रसोई, 112. कड़ा, 113. झूलणा, 114. जकड़ी, 115. दोहा, 116. कुंडलिया. 117. छप्पय आदि।

मध्यकालीन जैन काव्य की इन प्रवृत्तियों को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी प्रवृत्तियां मूलतः आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर प्रस्तुत हुई हैं। जहाँ आध्यात्मिक उद्देश्य प्रधान हो जाता है, वहां स्वभावतः कवि की लेखनी आलंकारिक न होकर स्वाभाविक और सात्विक हो जाती है। उसका मूक साधक रहस्यात्मक अनुभव और भक्ति करता रहा है।

1, प्राचीन काव्यों की रूप-परम्परा—अगरचंद नाहटा, भारतीय विद्या मंदिर शोध प्रतिष्ठान बीकानेर, 1962।

1. प्रबन्ध काव्य :

प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों आते हैं। यहां उनके स्वरूप का विश्लेषण करना हमारा अभीष्ट नहीं है पर इतना कथन अवश्यक है कि उनके आख्यानों का वस्तु-तत्व पौराणिक, निजन्धरी, समसामयिक तथा कल्पित होता है। उनमें लोकतत्व का प्राधान्य रहता है। लोकतत्व गाथात्मक और कथात्मक रहता है। उनके पीछे धार्मिक अनुश्रुतियां, इतिहास और मान्यतायें छिपी रहती हैं। सृष्टि, प्रलय, वंशपरम्परा, मन्वन्तर और विशिष्ट वंशों में होने वाले महापुरुषों का चरित ये पांच विषय पौराणिक सीमा में आते हैं :—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंच लक्षणम्॥

जैन साहित्य में प्रबन्धकाव्य की परम्परा आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही है। जैन आचार्यों ने 63 शलाका महापुरुषों के चित्रांकन को अपना विशेष लक्ष्य बनाया है। उनकी जीवन गाथाओं के माध्यम से कवियों ने जैन धर्म और दर्शन सम्बन्धी विचार अभिव्यक्त किये हैं। इसके बावजूद प्रबन्ध काव्य में अपेक्षित क्रमबद्धता, गतिशीलता और भावव्यंजना में किसी प्रकार की कमी नहीं आई। कवियों ने भाषा के क्षेत्र में राजस्थानी, गुजराती और ब्रजभाषा के मिश्रित रूप का प्रयोग किया है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से ये काव्य जायसी और तुलसी के काव्यों से हीन नहीं हैं बल्कि कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि जायसी और तुलसी ने प्राचीन जैन प्रबन्ध काव्यों से प्रभूत सामग्री ग्रहणकर अपनी प्रतिभा से अपने समूचे साहित्य को उन्मेषित किया है।

पुराण, कथा और चरित काव्य भी प्रबन्ध के अन्तर्गत आते है। आचार्यों ने इन्हें भी जैन तत्वों को प्रस्तुत करने का माध्यम बनाया है। फिर भी यथावश्यक रसों के संयोजन में कोई व्यवधान नहीं आ पाया। कवियों ने यथासमय शृंगार और वीररस का भरपूर वर्णन किया है। पर उसमें भी शान्तरस का भाव सूख नहीं पाया बल्कि कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि शृंगार और वीररस की पृष्ठ-भूमि में आध्यात्मिक अनुभूति के कारण संसार का चित्रण कहीं अधिक सक्षम रूप से प्रस्तुत हुआ है। इनमें सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की कथाओं और चरित्रों का आलेखन मिलता है। इस आलेखन में कवियों ने लोक तत्वों की काव्यात्मक रूढ़ियों का भी भरपूर उपयोग किया है।

जहां तक रासो काव्य परम्परा का सम्बन्ध है उसके मूल प्रवर्तक जैन आचार्य ही रहे हैं। जैन रासो काव्य गीत नृत्य परक अधिक दिखाई देते हैं। इन्हें हम खण्डकाव्य के अन्तर्गत ले सकते हैं। कवियों ने इनमें तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और आचार्यों के चरित का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं ये रासो उपदेश परक भी हुये हैं।

इनमें साधारणतः पौराणिकता का अंश अधिक है, काव्य का कम। संयोग-वियोग का का चित्रण भी किया गया है पर विशेषता यह है कि वह वैराग्यमूलक और शान्तरस से आपूरित है। आध्यात्मिकता की अनुभूति वहां टपकती हुई दिखाई देती है। राजुल और नेमिनाथ का सन्दर्भ जैन कवियों के लिए अधिक अनुकूल-सा दिखाई दिया है।

इस भूमिका के साथ जैन प्रबन्ध काव्यों को हम समासतः इस प्रकार आलेखित कर सकते हैं— 1. पुराण काव्य (महाकाव्य और खण्ड काव्य), 2. चरित काव्य, 3. कथा काव्य, और 4. रासो काव्य।

2. पौराणिक काव्य :

पौराणिक काव्य में महाकाव्य और खण्ड काव्य सम्मिलित होते हैं। हिन्दी जैन कवियों ने दोनों काव्य विधाओं में तदनुकूल लक्षणों एवं विशेषताओं से समन्वित साहित्य की सर्जना की है। उनके ग्रंथ सर्ग अथवा अधिकारों मे विभक्त हैं, नायक कोई तीर्थंकर, चक्रवर्ती अथवा महापुरुष है, शांतरस की प्रमुखता है तथा शृंगार और वीर रस उसके सहायक बने है। कथा वस्तु ऐतिहासिक अथवा पौराणिक है, चतुर्पुरुषार्थों का *यथास्थान वर्णन है, सर्गों की संख्या आठ से अधिक है सर्ग के अंत* में छन्द का परिवर्तन तथा यथास्थान प्राकृतिक दृश्यों का संयोजन किया गया है। महाकाव्य के इन लक्षणों के साथ ही खण्ड काव्य के लक्षण भी इस काल के साहित्य में पूरी तरह से मिलते हैं। वहाँ कवि का लक्ष्य जीवन के किसी एक पहलु को प्रकाशित करना रहा है। घटनाओं, परिस्थितियों तथा दृश्यों का संयोजन अत्यन्त मर्मस्पर्शी हुआ है। ऐसे ही कुछ महाकाव्यों और खण्डकाव्यों का यहाँ हम उल्लेख कर रहे हैं। उदाहरणार्थ—

ब्रह्मजिनदास के आदिपुराण और हरिवंशपुराण (वि. सं. 1520), वादिचन्द्र का पाण्डवपुराण (वि. सं. 1654), शालिवाहन का हरिवंशपुराण (वि. सं. 1695) बुलाकीदास का पाण्डवपुराण (वि. सं. 1754, पद्य 5500), खुशालचन्द्रकाला के हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण और पद्मपुराण (सं. 1783), भूधरदास का पार्श्वपुराण (सं. 1789), नवलराम का वर्धमान पुराण (सं. 1825), धनसागर का पार्श्वनाथपुराण (सं. 1621), ब्रह्मजित का मुनिसुव्रतनाथ पुराण (सं. 1645), वैजनाथ माथुर का वर्धमानपुराण (सं. 1900), सेवाराम का शान्तिनाथ पुराण (सं. 1824). जिनेन्द्रभूषण का नेमिपुराण। ये पुराण भाव और भाषा की दृष्टि से उत्तम हैं। इस दृष्टि से—कविवर भूधरदास का पार्श्व पुराण दृष्टव्य है—

किलकिलंत वेताल, काल कज्जल छवि सज्जहिं।
भौं कराल विकराल, भाल मदगज जिमि गज्जहिं।।
मुंडमाल गल धरहिं लाय लोयननि डरहिंजन।
मुख फुलिंग फुंकरहिं करहिं निर्दय धुनि हन हन।।

इहि विधि अनेक दुर्धर धरि, कमठ जीव उपसर्ग किय।
तिहुं लोक वंद जिनचन्द्र प्रति धूलि डाल निज सीस लिय ॥[1]

हिन्दी जैन साहित्य में पौराणिक प्रबन्ध काव्य की धारा लगभग आठवीं शती से प्रारम्भ हुई और मध्यकाल आते-आते उसमें और अधिक वृद्धि हुई। कवियों ने तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, नारायणों आदि महापुरुषों के चरितों को जीवन-निर्माण के लिए अधिक उपयोगी पाया और फलतः उन्होंने अपनी प्रतिभा को यहां प्रस्फुटित किया। यद्यपि उनमें जैन धर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न किया गया है पर उससे कथा प्रवाह में कहीं बाधा नहीं दिखाई देती। भावव्यंजना संवाद, वस्तुवर्णन, परिस्थिति संयोजन आदि सभी तत्व यहां सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं।

जिन्हें आज खण्डकाव्य कहा जाता है उन्हें मध्यकाल में 'संधि' काव्य की संज्ञा दी गई। संधि वस्तुतः सर्ग के अर्थ में प्रयुक्त होता था पर उत्तरकाल में एक सर्ग वाले खण्ड काव्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा प्रमुख जैन संधि काव्यों में उल्लेखनीय काव्य हैं–जिन प्रभसूरि का अनस्थि संधि (सं. 1297) और मयणरेहा संधि, जयदेव का भावना संधि विनयचन्द का आनन्द सधि (14 वीं शती), कल्याण तिलक का मृगापुत्र संधि (सं. 1550), चारुचन्द्र का नन्दन मणिहार संधि, (सं. 1587), संयममूर्ति की उदाह राजर्षि संधि (सं 1590), धर्ममेरु का सुख-दुःख विपाक संधि (सं. 1604), गुणप्रभसूरि का चित्रसंभूति संधि (सं. 1608), कुशल लाभ का जिनरक्षित संधि (सं. 1621), कनकसोम का हरिकेशी संधि (सं. 1640), गुणराज का सम्मति संधि (सं. 1630), चारित्र सिंह का प्रकीर्णक संधि (सं. 1631), विमल विनय का अनाथी संधि (सं. 1647), विनय समुद्र का नमि सधि(सं. 17 वीं शती), गुणप्रभ सूरि का चित्र संभूति संधि (सं. 1759) आदि। ऐसे पचासों संधि काव्य भण्डारों में बिखरे पड़े हुए हैं।

2. चरित काव्य :

हिन्दी जैन कवियों ने जैन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के लिए महापुरुषों के चरित का आख्यान किया है। कहीं-कहीं व्यक्ति के किसी गुण-अवगुण को लेकर भी चरित ग्रन्थों की रचना की गई है जैसे ठकुरसी का कृष्ण चरित्र। इन चरित ग्रन्थों में कवियों ने मानव की सहज प्रकृति और रागादि विकारों का सुन्दर वर्णन किया है। मध्यकालीन कतिपय चरित काव्य इस प्रकार हैं—

सधारु का प्रद्युम्नचरित (सं. 1411), ईश्वरसूरि का ललितांग चरित (सं. 1561), ठकुरसी का कृष्ण चरित (सं. 1580), जयकीर्ति का भवदेवचरित (सं. 1661), गौरवदास का यशोधर चरित (सं. 1581), मालदेव का भोजप्रबन्ध

1. पार्श्वपुराण, 8. 23. पृ. 65.

(सं. 1612, पद्य 2000), पाण्डे जिनदास का जम्बूस्वामी चरित (सं. 1642), नरेन्द्रकीर्ति का सगर प्रबन्ध (सं. 1646), वादिचन्द्र का श्रीपाल आख्यान (सं. 1651), परिमल्ल का श्रीपाल चरित्र (सं. 1651), पामे का भरतभुजबलि चरित्र (सं. 1616), ज्ञानकीर्ति का यशोधर चरित्र (सं. 1658), पार्श्वचन्द्र सूरि का राजचन्द्र प्रवहण (सं. 1661), कुमुदचन्द्र का भरत बाहुबली छन्द (सं. 1670), नन्दलाल का सुदर्शन चरित (सं. 1663) बनवारी लाल का भविष्यदत्त चरित्र (सं. 1666), भगवतीदास का लघुसीता सतु (सं. 1684), कल्याण कीर्तिमुनि का चारुदत्त प्रबन्ध (सं. 1612), लालचन्द्र का पद्मिनी चरित्र (सं. 1707), रामचन्द्र का सीता चरित्र (सं. 1713), जोधराज गोदीका का प्रीतंकर चरित्र (सं. 1721), जिनहर्ष का श्रेणिक चरित्र (सं. 1724), विश्वभूषण का पार्श्वनाथ चरित्र (सं. 1738), किशनसिंह के भद्रबाहु चरित्र (सं. 1783), और यशोधर चरित (सं. 1781), लोहट का यशोधर चरित्र (सं. 1721), अजयराज का यशोधर चरित्र (सं. 1721), अजयराज पाटणी का नेमिनाथ चरित्र (सं. 1793), दौलत राम कासलीवाल का जीवन्धर चरित्र (सं. 1805), भारमल का चारुदत्त चरित्र (सं. 1813), शुभचन्द्रदेव का श्रेणिक चरित्र (सं. 1824), नाथमल मिल्ला का नागकुमार चरित्र (सं. 1810), चेतन विजय के सीता चरित्र और जम्बूचरित्र (सं. 1853), पाण्डे लालचन्द का वरांगचरित्र (सं. 1827), हीरालाल का चन्द्रप्रभ चरित, टेकचन्द का श्रेणिक चरित्र (सं. 1883), और ब्रह्म जयसागर का सीताहरण (सं. 1835)।

इन चरित काव्यों में तीर्थंकरों अथवा महापुरुषों के चरित का चित्रण कर मानवीय भावनाओं का बड़ी सुगमता पूर्वक चित्रण किया गया है। यद्यपि यहां काव्य की अपेक्षा चारित्रांकन अधिक हुआ है परन्तु चरित्र प्रस्तुत करने का ढंग और उसका प्रवाह प्रभावक है। आनन्द और विषाद, राग और द्वेष तथा धर्म और अधर्म आदि भावों की अभिव्यक्ति बड़ी सरस हुई है। कवि भगवतीदास का लघु सीता सतु उल्लेखनीय है जहां उन्होंने मानसिक घात-प्रतिघातों का आकर्षक वर्णन किया है—

तब बोलइ मन्दोदरी रानी, सखि अषाढ़ घनघट घहरानी।
पीय गये ते फिर घर आवा, पामर नर नित मंदिर छावा ॥
लवहि पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमग घरत नहीं धीरा ॥
बादर उमहि रहे चौमासा, तिय पिय बिनु लिहि उरुन उसासा।
नन्हीं बून्द झरत झर लावा। पावस नभ आगमु दरसावा ॥
दामिनि दमकत निशि अंधियारी। बिरहिनि काम बाण उरमारी।
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोरी। जानति काहे भई मति बौरी ॥
मदन रसायनु इह जग सारू। संजमु नेमु कथन विवहारू।
तब लग हंस शरीर महि, तब लग कीजइ भोगु।
राज तजहि भिक्षा भ्रमहि, इह भूला कछु लोगु ॥

इसी प्रकार कृपण चरित्र में कवि ठकुरसी ने कन्जस धनी का जो आखों देखा हाल चित्रित किया है वह दृष्टव्य है—

कृपणु एक परसिद्ध नयरि निवसंतु निलक्खणु ।
कही करम संयोग तासु घटि, नाटि विचक्खणु ।।
देखि दुहू की जोड़, सयलु जगि रहिउ तमासै ।
याहि पुरिष कै याहि, दई किम दे इम भासै ।।
वह रह्यौ रीति चाहे भली, दाण पुज्ज गुणसील सति ।
यह दे न खाण खरचण किवै, दुवै करहि दिणि कलह अति ।।

कवि हीरालाल द्वारा रचित चन्द्रप्रभचरित काव्य चमत्कार की दृष्टि से अति मनोहर है । इस सन्दर्भ में निम्न पद्य दर्शनीय है—

कवल बिना जल, जल बिन सरवर, सरवर बिन पुर, पुर बिन राय ।
राय सचिव बिन, सचिव बिना बुध, बुध विवेक बिन बिन शोभ न पाय ।।

इसी प्रकार नवलशाह विरचित वर्द्धमान चरित्र मे अंकित महारानी प्रियकारिणी के रूप सौन्दर्य का चित्रण (नख शिख वर्णन) जैनेतर कवियों से हीन नहीं है ।

अम्बुज सौं जुग पाय बेने, नख देख नखन्त भयौ भय भारी ।
नूपुस की झनकार सुनै, दृग शीरर भयौ दशहू दिश भारी ।
कंदल थंभ बनै जुग जंग, सुचाल चलै गज की पिय प्यारी ।
क्षीन बनौ कटि केहरि सौ, तन दामिनी होय रही लज सारी ।।
नाभि निवौरियसी निकसी, पढ़हावत पेट संकुचन धारी ।
काम कपिच्छ कियौ पट रन्तर, शील सुधीर धरै अविकारी ।।
भूषण बारह भांतिन के अन्त, कण्ठ मे ज्योरित लसै अधिकारी ।
देखत सूरज चन्द्र छिपै, मुख दाडिम दंद महाछविकारी ।।

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन चरित काव्व भाव, भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से उच्च कोटि के है । वस्तु और उद्देश्य बड़ी सूक्ष्मता से समाहित है । पात्रों के व्यक्तित्व को उभारने मे जैन सिद्धान्तो का अवलम्बन जिस ढंग से किया गया है वह प्रशंसनीय है । सांसारिक विषमताओ का स्पष्टीकरण और लोकरंजनकारी तत्वों की अभिव्यंजना जैन साधक कवियो की लेखनी की विशेषता है । प्राचीन काव्यों में चरितार्थक पवोड़ो काव्य भी उपलब्ध होते हैं । इसी सन्दर्भ में भगवतीदास के बृहद् सीता सतु और लघु सीता सतु जैसे सत शतक काव्य भी उल्लेखनीय हैं ।

3. कथा काव्य :

मध्यकालीन हिन्दी जैन कथा काव्य विशेष रूप से व्रत, भक्ति और स्तवन के महत्व की अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं । वहां इन कथाओं के माध्यम से विषय-कषायों की निवृत्ति, भौतिक सुखों की अपेक्षा तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति

का मार्ग दर्शाया गया है। उनमें चित्रित पात्रों के भाव चरित्र, प्रकृति और वृत्ति को स्पष्ट करने में ये कथा काव्य अधिक सक्षम दिखाई देते हैं। ऐसे ही कथा काव्यों में ब्रह्मजिनदास (वि. सं. 1520) की रविव्रत कथा, विद्याधर कथा सम्यक्त्वकथा आदि, विनयचन्द्र की निर्झरपंचमी कथा (सं. 1576), ठकुरसी की मेघमालाव्रत कथा (सं. 1580), देवकलश की ऋषिदत्ता (सं. 1569), रायमल्ल की भविष्यदत्तकथा (सं. 1633), वादिचन्द्र की अम्बिकाकथा (सं. 1651), छीतर ठोलिया की होलिकाकथा (सं. 1660), ब्रह्मगुलाल की कृपण जगावनहार कथा (सं. 1671), भगवतीदास की सुगन्धदसमी कथा, पांडे हेमराज की रोहणीव्रत कथा, महीचन्द की आदित्यव्रत कथा, टीकम की चन्द्रहंस कथा (सं 1708), जोधराज गोदीका का कथाकोश (सं. 1722), विनोदीलाल की भक्तामरस्तोत्र कथा (सं. 1747), किशनसिंह की रात्रिभोजन कथा (सं. 1773), टेकचन्द का पुण्याश्रवकथाकोश (स. 1822), जगतराय की सम्यक्त्व कौमुदी (सं 1721) उल्लेखनीय हैं। ये कथा काव्य कवियों की रचना-कौशल्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं। 'सम्यक्त्व कौमुदी' की कथाओ मे निबद्ध काव्य वैशिष्ट्य उल्लेख्य है—

> तबहि पावड़ी देखि चोर भूपति निज जान्यौ।
> देखि मुद्रिका चोर तबै मन्त्री पहिचान्यौ॥
> सूत जनेऊ देखि चोर प्रोहित है भारी।
> पंचनि लखि विरतान्त यहै मन मे जु विचारी॥
> भूपति यह मन्त्री सहित प्रोहित युत काढी दयौ।
> इह भांति न्याव करि भलिय विधि धर्म थापि जग जसलयौ॥

इस प्रकार का काव्य वैशिष्ट्य मध्यकालीन हिन्दी जैन कथा काव्यों में अन्यत्र भी देखा जा सकता है। इसके साथ ही यहाँ जैन सिद्धान्तों का निरूपण कवियों का विशेष लक्ष्य रहा है।

4. रासा साहित्य

हिन्दी जैन कवियों ने रासा साहित्य के क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान दिया है। सर्वेक्षण करने से स्पष्ट है कि रासा साहित्य को जन्म देने वाले जैन कवि ही थे। जन्म से लेकर विकास तक जैनाचार्यों ने रासा साहित्य का सृजन किया है। रासा का सम्बन्ध रास, रासा, रासु, रासौ आदि शब्दों से रहा है जो 'रासक' शब्द के ही परिवर्तित और विकसित रूप है। 'रासक' का सम्बन्ध नृत्य, छन्द अथवा काव्य विशेष से है। यह साहित्य गीत-नृत्य परक और छन्द वैविध्य परक मिलता है। जैन कवियों ने गीत-नृत्य परक परम्परा को अधिक अपनाया है। इनमें कवियों ने धर्म प्रचार को विशेष महत्त्व दिया है। इस सन्दर्भ में शालिभद्रसूरि का पांच पाण्डव रास

(सं. 1410), विनयप्रभ उपाध्याय का गौतमरास (सं. 1412), सोमसुन्दरसूरि का आराधनारास (सं. 1450), जयसागर के वयरस्वामी गुरुरास और गौतमरास, हीरानन्दसूरि के वस्तुपाल तेजपाल रासादि (सं. 1486), सकलकीर्ति (सं. 1443) के सोलहकारणरास आदि उल्लेखनीय हैं। ब्रह्मजिनदास (सं. 1445–1525) का रासा साहित्य कदाचित् सर्वाधिक है। उनमें रामसीतारास, यशोधररास, हनुमतरास (725 पद्य) नागकुमाररास, परमहंसरास (1900 पद्य) अजितनाथ रास, होली रास (148 पद्य) धर्मपरीक्षारास, ज्येष्ठजिनवर रास (120 पद्य), श्रेणिकरास, समकितमिथ्यात्वरास (70 पद्य), सुदर्शनरास (337 पद्य), अम्बिका रास (158 पद्य), नागश्रीरास (233 पद्य), जम्बूस्वामी रास (10005 पद्य), भद्रबहुरास, कर्मविपाक रास, सुकौशल स्वामी रास, रोहिणीरास, सोलहकारणरास, दशलक्षणरास, अनन्तव्रतरास, अंकचूल रास, धन्यकुमाररास, चारुदत्त प्रबन्ध रास, पुष्पांजलि रास, धनपालरास (दानकथा रास), भविष्यदत्तरास, जीवंधररास, नेमीश्वररास, करकण्डुरास, सुभौमचक्रवर्तीरास और अट्ठमूलगुण रास प्रमुख हैं। इनकी भाषा गुजराती मिश्रित है। इन ग्रन्थों की प्रतियां जयपुर, उदयपुर दिल्ली आदि के जैनशास्त्र भण्डारों मे उपलब्ध हैं।

इनके अतिरिक्त मुनिसुन्दरसूरि का सुदर्शन श्रेष्ठिरास (सं. 1501), मुनि प्रतापचन्द का स्वप्नावलीरास (सं. 1500), सोमकीर्ति का यशोधररास (सं. 1526), संवेर सुन्दर उपाध्याय का सारसिखामनरास (सं. 1548), ज्ञानभूषण का पोसहरास (सं. 1558), यशःकीर्ति का नेमिनाथरास (स. 1558), ब्रह्मज्ञानसागर का हनुमंतरास (सं. 1630), मतिशेखर का धन्नारास (सं. 1514), विद्याभूषण का भविष्यदत्तरास (सं. 1600), उदयसेन का जीवंधररास (सं. 1606), विनयसमुद्र का चित्रसेन पद्मावतीरास (सं. 1605), रायमल्ल का प्रद्युम्नरास (सं. 1668), पांडे जिनदास का योगीरासा (सं. 1660), हीरकलश का सम्यक्त्व कौमुदीरास (सं. 1626), भगवतीदास (सं. 1662) के जोगीरासा आदि, सहजकीर्ति के शीलरासादि (सं. 1686) भाऊ का नेमिनाथ रास (सं. 1759), चेतनविजय का पालरास जैन रासा ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं।

इन रासा ग्रन्थों में श्रृंगार, वीर, शान्त और भक्ति रस का प्रवाह दिखाई देता है। प्रायः सभी रासों का अन्त शान्तरस से रंजित है। फिर भी प्रेम और विरह के चित्रों की कमी नहीं है। इस सन्दर्भ में 'अञ्जना सुन्दरी रास' उल्लेख्य है जिसमें अञ्जना के विरह का सुन्दर चित्रण किया गया है। इस सन्दर्भ में वन्सत का चित्रण देखिए, कितना मनोहारी है—

मधुकर करइ गुंजारव मार विकार वहंति।
कोयल करइ पटहूकड़ा टूकड़ा मेलवा कन्त॥
मलयाचल थी चलकिरा पुलकिउ पवन प्रचण्ड।
मदन महानृप पाझइ विरहीनि सिर दण्ड॥

अध्यात्म रस से युक्त पं. भगवतीदास का 'जोगीरासा' भी दृष्टव्य है जिसमें जीव को अपने ही अन्दर विराजमान चिदानन्द रूपी शिवनायक का दर्शन कर संसार-समुद्र से पार होने की अभिव्यंजना की है—

पेखहु ही तुम देखहु भाई, जोगी जगमहि [सोई ।
घट-घट अन्तरि बसइ चिदानन्दु, अलखु न लखिए कोई ।।
भव-वन-भूल रह्यौ भ्रमिरावलु, सिवपुर-सुध विसराई ।
परम अतीन्द्रिय शिव-सुख-तजि करि, विषयनि रहिउ लुभाइ ।।
अनन्त चतुष्टय-गुण-मय राजहि तिन्हकी हउ बलिहारी ।
अंतिमहरि ध्यानु धरहु शिवनायक, जिउ उतरहु भवपारी ।।

इसी प्रकार भक्ति रस से ओतप्रोत सहजकीर्ति के 'सुदर्शनश्रेष्ठिरास' की निम्न पंक्तियां दृष्टव्य हैं :—

केवल कमलाकर सुर, कोमल वचन विलास,
कवियण कमल दिवाकर, पणमिय फलविधि पास ।
सुरनर किंनर अर भ्रमर, सुन चरणकंज जास,
सरस वचन कर सरसती, नमीयइ सोहाग वास ।
जासु पसायइ कवि लहर, कविजनमई जसवास,
हंसगमणि सा भारती, देउ मुझ वचन विलास ।

इस प्रकार जैन रासा साहित्य एक ओर जहां ऐतिहासिक अथवा पौराणिक महापुरुषों के चरित्र का चित्रण करता है वहीं साथ ही आध्यात्मिक अथवा धार्मिक आदर्शों को भी प्रस्तुत करता है। जैनों की धार्मिक रास परम्परा हिन्दी के आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही है। मध्ययुगीन रासा साहित्य मे आदिकाल रासा साहित्य की अपेक्षा भाव और भाषा का अधिक सौष्ठव दिखाई देता है। आध्यात्मिक रसानुभूति की दृष्टि से यह रासा साहित्य अधिक विवेचनीय है।

2. रूपक काव्य

आध्यात्मिक रहस्य को अभिव्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन प्रतीक और रूपक होते हैं। जैन कवियों ने सांसारिक चित्रण, आत्मा की शुद्धाशुद्ध अवस्था, सुख-दुःख की अवस्थायें, रागात्मक विकार और क्षणभंगुरता के दृश्य जिस सूक्ष्मान्वेक्षण और गहन अनुभूति के साथ प्रस्तुत किये हैं, वह अभिनन्दनीय है। रूपक काव्यों का उद्देश्य वीतरागता की सहज प्रवृत्ति का लोकमांगलिक चित्रण करता रहा है। आत्मा की स्वाभाविक समता मिथ्यात्व आदि के बन्धन से किस प्रकार ग्रसित होकर भवसागर में भ्रमण करता रहता है और किस प्रकार उससे मुक्त होता है, इस प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का विश्लेषण कर जैन कवियों ने आत्मा की अतुल शक्ति को

रूपकों के माध्यम से उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। इस विधि से जैन तत्वों के निरूपण में नीरसता नहीं आ पायी। बल्कि भाव-व्यंजना कहीं अधिक गहराई से उभर सकी है। इस दृष्टि से त्रिभुवनदीपक प्रबन्ध, विद्याविलास पवाड़ा, नाटक समयसार, चेतनकर्मचरित, मधु बिन्दुक चौपई, उपशम पच्चीसिका, परमहंस चौपई, मुक्तिरमणी चूनड़ी, चेतन पुद्गल धमाल, मोहविवेक युद्ध आदि रचनायें महत्वपूर्ण हैं। रूपकों के माध्यम से विवाहलउ भी बड़े सरस रचे गये हैं।

इन रूपक काव्यों में दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म भावनाओं का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। नाटक समयसार इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। कवि बनारसीदास ने रूपक के माध्यम से मिथ्यादृष्टि जीव की स्थिति का कितना सुन्दर चित्रण किया है यह देखते ही बनता है—

काया चित्रसारी मैं करम परजक भारी,
माया की सवारी सेज चादरि कलपना।
सैन करै चेतन अचेतना नीद लियै,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढपना॥
उदै बल जोर यहै स्वासको सबद घोर,
विषै-सुख कारज की दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दसा मैं मगन रहै तिहूँकाल,
धावै भ्रम जाल मैं न पावै रूप अपना॥14॥

इसी प्रकार 'मधुबिन्दुक चौपाई' में कवि भगवतीदास ने रूपक के माध्यम से संसार का सुन्दर चित्रण किया है :—

यह संसार महावन जान। तामहि भयभ्रम कूप समान॥
गज जिम काल फिरत निशदीस। तिहँ पकरन कहुँ विस्वावीस॥
वट की जटा लटकि जो रही। सो आयुर्दा जिनवर कही॥
तिहँ जर काटत मूसा दोय। दिन अरु रैन लखहु तुम सोय॥
मांखी चूंटत ताहि शरीर। सो बहु रोगादिक की पीर॥
अजगर पर्यो कूप के बीच। सो निगोद सबतैं गति बीच॥
याकी कछु मरजादा नाहिं। काल अनादि रहै इह माहिं॥
तातैं भिन्न कही इहि ठौर। चहुँगति महितैं भिन्न न और॥
चहुँदिश चारहु महाभुजंग। सो गति चार कही सरबंग॥
मधु की बून्द विषै सुख जान। जिहँ सुख काज रह्यौ हितमान॥
ज्यों नर त्यों विषयाश्रित जीव। इह विधि संकट सहै सदीव॥
विद्याधर तहँ सुगुरु समान। दे उपदेश सुनावत ज्ञान॥

इस प्रकार रूपक काव्य आध्यात्मिक चिन्तन को एक नयी दिशा प्रदान करते है। साधकों ने आध्यात्मिक साधनों में प्रयुक्त विविध तत्त्वों को भिन्न-भिन्न रूपकों में खोजा है और उनके माध्यम से चिन्तन की गहराई में पहुँचे हैं। इससे साधना में निखार आ गया है। रूपकों के प्रयोग के कारण भाषा में सरसता और आलंकारिकता स्वभावतः अभिव्यंजित हुई है।

3. अध्यात्म और भक्तिमूलक काव्य

हिन्दी जैन साहित्य मूलतः अध्यात्म और भक्तिपरक है। उसमें श्रद्धा, ज्ञान और आचार, तीनों का समन्वय है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों की भक्ति में साधक कवि सम्यक् साधना पथ पर चलता है और साध्य की प्राप्ति कर लेता है। इस सम्यक् साधन और साध्य की अनुभूति कवियों के निम्नांकित साहित्य में विविध प्रकार से हुई है।

1. जैन कवियों ने जैन सिद्धान्तों का विवेचन कहीं-कहीं गद्य में न कर पद्य में किया है। वहाँ प्रायः काव्य गौण हो गया है और तत्त्व-विवेचन मुख्य। उदाहरणतः भ. रत्नकीर्ति के शिष्य सकलकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार, यशोधर का तत्त्वसारदूहा, वीरचन्द की संबोधसत्ताणु भावना आदि। इन्हें हम आध्यात्मिक काव्य कह सकते हैं।

2. स्तवन जैन कवियों का प्रिय विषय रहा है। भक्ति के क्षेत्र में वे किसी से कम नहीं रहे। इन कवियो और साधकों की आराध्य के प्रति व्यक्त निष्काम भक्ति है। उन्होंने पंचपरमेष्ठियों की भक्ति में स्तोत्र, स्तुति, विनती, धूल आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं। पंचकल्याणक स्तोत्र, पंचस्तोत्र आदि रचनायें विशेष प्रसिद्ध है। इन रचनाओं में मात्र स्तुति ही नहीं प्रत्युत वहां जैन सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन भी निबद्ध है।

3. चौपाई, जयमाल, पूजा आदि जैसी रचनाओं में भी भक्ति के तत्त्व निहित है। दोहा और चौपाई अपभ्रंश साहित्य की देन है। ज्ञानपंचमी चौपाई, सिद्धान्त चौपाई, ढोला मारु चौपाई, कुमति विध्वंस चौपाई जैसी चौपाइयां जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं। यहां एक ओर जहां सिद्धान्त की प्रस्तुति होती है दूसरी ओर ऐतिहासिक तथ्यों का उद्घाटन भी। मूलदेव चौपाई इसका उदाहरण है।

4. पूजा साहित्य जैन कवियों का अधिक है। पंचपरमेष्ठियों की पूजा, पंचम दशलक्षण, सोलहकारण, निर्दोषसप्तमीव्रत आदि व्रत सम्बन्धी पूजा, देवगुरु-शास्त्रपूजा, जयमाल आदि अनेक प्रकार की भक्तिपरक रचनायें मिलती हैं। द्यानतराय का पूजा साहित्य विशेष लोकप्रिय हुआ है।

5. चांचर, होली, फागु, यद्यपि लोकोत्सवपरक काव्य रूप हैं पर उनमें जैन कवियों ने बड़े ही सरस ढंग से आध्यात्मिक विवेचन किया है। चांचर या चर्चरी में

स्त्री-पुरुष हाथों में छोटे-छोटे डण्डे लेकर टोली नृत्य करते हैं। रास में भी लगभग यही होता है। हिण्डोलना होली और फागु में तो कवियों ने आध्यात्मिकता का सुन्दर पुट दिया है। कहीं-कहीं सुन्दर रूपक तत्त्व भी मिलता है।

6. वेलिकाव्य राजस्थान की परम्परा से गुंथा हुआ हैं। वहां चारण कवियों ने इसका उपयोग किया हैं। बाद में वेलि काव्य का सम्बन्ध भक्ति काव्य से हो गया। जैन कवियों ने इन वेलि काव्यों में भक्ति तत्त्व विवेचन और इतिहास प्रस्तुत किया हैं।

7. संख्यात्मक और वर्णनात्मक साहित्य का भी सृजन हुआ है। छन्द संख्या के आधार पर काव्य का नामकरण कर दिया जाना उस समय एक सर्वसाधारण प्रथा थी। जैसे मदनशतक, नामबावनी, समकित वत्तीसी आदि।

8. बारहमासा यद्यपि ऋतुपरक गीत है पर जैन कवियों ने इसे आध्यात्मिक-सा बना लिया हैं। नेमिनाथ के वियोग मे राजुल के बारहमास कैसे व्यतीत होते इसका कल्पनाजन्य चित्रण बारहमासों का मुख्य विषय रहा है। पर साथ ही अध्यात्म-बारहमासा, सुमति-कुमति बारहमासा आदि जैसी रचनायें भी उपलब्ध होती है।

1. आध्यात्मिक काव्य

कतिपय आध्यात्मिक काव्य यहां उल्लेखनीय हैं—रत्नकीर्ति का आराधना प्रतिबोधसार (सं 1450), महनन्दि का पाहुड़ दोहा (सं. 1600), ब्रह्मगुलाल की त्रेपनक्रिया (सं 1665), बनारसीदास का नाटक समयसार (सं. 1693) और बनारसीविलास, मनोहरदास की धर्म परीक्षा (सं. 1705), भगवतीदास का ब्रह्मविलास (सं 1755), विनयविजय का विनयविलास (सं 1739), द्यानतराय की संबोधपंचासिका तथा धर्मविलास (सं. 1780), भूधरविलास का भूधरविलास, दीपचंद शाह के अनुभव प्रकाश आदि (सं. 1781), देवीदास का परमानन्द विलास और पदपंकत (सं. 1812), टोडरमल्ल की रहस्यपूर्ण चिट्ठी (सं. 1811), बुधजन का बुधजनविलास, पं. भागचन्द की उपदेश सिद्धान्त माला (सं. 1905), छत्रपति का मनमोहन पंचशती सं. 1905) आदि।

संवाद भी एक प्राचीन विधा रही है जिसमें प्रश्नोत्तर के माध्यम से आध्यात्मिक जिज्ञासा का समाधान किया जाता था। नरपति (16वीं शती) का [illegible] संवाद, सहज सुन्दर (सं. 1572) का आंख-कान संवाद, यौवन जरा संवाद जैसी आकर्षक ऐसी सरस रचनाएँ हैं जिनमें दो इन्द्रियों में संवाद होता है जिसकी परिसमाप्ति अध्यात्म में होती है। अन्य रचनाओं में रावण मन्दोदरी संवाद (सं. 1562), मोती कपासिया संवाद, उद्यम कर्म संवाद, समकितशील संवाद, केशिगौतम संवाद, मनसांत

संग्राम, सुमति-कुमति का झगड़ा, [illegible] संवाद, चेतन कर्म संवाद, कृपण-नारी संवाद, पञ्चेन्द्रिय संवाद, रावण मन्दोदरी संवाद, ज्ञान दर्शन चारित्र संवाद, आदि बीसों रचनाएँ हैं जिनमें रहस्यात्मकता के तत्त्व इतने अधिक मुखरित हुए हैं कि संवाद गौण हो गये हैं।

इन आध्यात्मिक काव्यों में कवियों ने जैन सिद्धान्तों को सरस भाषा में प्रस्तुत किया है। इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने में एक ओर जहाँ दार्शनिक छटा दिखाई देती है वहीं काव्यात्मक भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय भी मिलता है। विलास काव्य इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। कवि बनारसीदास ने 'परमार्थहिंडोलना' में आत्मतत्त्व का विवेचन काव्यात्मक शैली में चित्रित किया है—

सहज हिंडना हरख हिंडोलना, झुकत चेतनराव।
जहाँ धर्म कर्म संवेग उपजत, रस स्वभाव॥
जहं सुमन रूप अनूप मंदिर, सुरुचि भूमि सुरंग।
तहं ज्ञान दर्शन खंभ अविचल, चरन आड अभंग॥
मरुवा सुगुन परजाय विचरन, भौर विमल विवेक।
व्यवहार निश्चय नय सुदण्डी, सुमति पटली एक॥1।

कवि भगवतीदास ने ब्रह्मविलास की शतअष्टोत्तरी में विशुद्ध आत्मा कर्मों के कारण किस प्रकार अपने मूल स्वभाव को भूल जाता है इसका सरस चित्रण खींचा है—

कायासी जु नगरी में चितानन्द राज करै,
मायासी जु रानी पै मगन बहु भयो है।
मोहसो है फोजदार क्रोध सो है कोतवार,
लोभ सो वजीर जहाँ लूटिवे को रह्यो है॥
उदैको जु काजी मानै, मान को अदलजावै,
कामसेवा कानवीस आइ वाको कह्यो है।
ऐसी राजधानी में अपने गुण भूल गयो,
सुधि जब आई तबै ज्ञान आय गह्यो है॥29।

भेदविज्ञान के महत्त्व को अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में स्पष्ट करने का जो प्रयत्न किया है वह स्पृहणीय है—

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढै,
पावक कनक काढि दाहत उपलकौं।

पंक के गरभ मैं ज्यौं डारिये कुतलफल,
नीर करै उज्ज्वल नितारि डारै मालकौं ।।
दधि कौ मथैया मथि काढै जैसे माखनकौं,
राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकौं ।
तैसें ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै परदल कौं ।।[1]

2. स्तवन पूजा और जयमाल साहित्य

आध्यात्मिक साधन में स्तवन, पूजा और जयमालका अपना महत्त्व है। साधक रहस्य की भावना की प्राप्ति के लिए इष्टदेव की स्तुति और पूजा करता है। भक्ति के सरस प्रवाह में उसके रागादिक विकार प्रशान्त होने लगते हैं और साधक शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की ओर बढ़ने लगता है। पंचपरमेष्ठियों का स्तवन, तीर्थंकरों की पूजा और उनकी जयमाल तथा आरती साधना का पथ-निर्माण करते हैं। इस साहित्य विद्या की सीमंधर स्वामी स्तवन, मिथ्या दुक्करा विनती गर्भविचार स्तोत्र, गजानन्द पंचासिका, पंच स्तोत्र, सम्मेदशिखिर स्तवन, जैन चौबीसी, विनती संग्रह, नयनिक्षेप स्तवन आदि शताधिक रचनाएँ हैं जो रहस्य भावना की अभिव्यक्ति में अन्यतम साधन कही जा सकती है। भक्तिभाव से ओतप्रोत होना इनकी स्वाभाविकता है।

उपर्युक्त स्तवन साहित्य में कुछ पदों का रसास्वादन कीजिए। कवि भूदरदास की जिनेन्द्रस्तुति अन्तःकरण को गहराई से छूती हुई निकल रही है—

अहो जगत गुरु देव, सुनिए अरज हमारी।
तुम प्रभु दीनदयाल, मैं दुखिया संसारी ।।
इस भव-वन के मांहि, काल अनादि गमायो।
भ्रम्यो चतुर्गति माहिं, सुख नहिं दुख बहु पायो ।।
कर्म महारिपु जोर, एक न काम करै जी।
मन माने दुख देहिं, काहू सों नाहिं डरै जी ।।

इसी प्रकार द्यानतराय का 'स्वयंभू स्तोत्र' भी उल्लेखनीय है जिसमें तीर्थंकरों की महिमा का गान है। इसमें पार्श्वनाथ और वर्द्धमान की महिमा के पद्य दृष्टव्य हैं—

---

1. नाटक समयसार, संवरद्वार, पृ. 10

दैत्य कियो उपसर्ग अपार, ध्यान देखि आयो फनिधार।
गयो कमठ शठ मुख कर श्याम, नमों मेरु सम पारस स्वाम ॥23.
भवसागर तें जीव अपार, धरम पोत में धरे निहार।
डूबत काढ़े दया विचार, वर्द्धमान वंदौं बहुवार ॥24.

पूजा और जयमाल साहित्य में भी कतिपय उदाहरण दृष्टव्य हैं जो रहस्यात्मक तत्त्व की गहनता को समझने में सहायक बनते हैं। अर्जुनदास, अजयराज पाटनी, द्यानतराय, विश्वभूषण, पांडे जिनदास आदि अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने संगीतपरक साहित्य लिखा है। देखिए, कविवर द्यानतराय की सोलहकारण पूजा में कितनी भाव विभोरता है—

कंचन झारी निर्मल नीर, पूजों जिनवर गुन-गंभीर।
परमगुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥
दरशविशुद्ध भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय।
परमगुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो॥

इसी प्रकार भगवतीदास ने ब्रह्मविलास में परमात्मा की जयमाला में ब्रह्म रूप परमात्मा का चित्रण किया है—

एक हि ब्रह्म असंख्यप्रदेश। गुण अनंत चेतनता भेश।
शक्ति अनंत लसै जिह माँहि। जासम और दूसरा नाँहि॥
दर्शन ज्ञान रूप व्यवहार निश्चय सिद्ध समान निहार।
नहिं करता नहिं करि है कोय। सदा सर्वदा अविचल सोय॥

चउपई काव्यों में ज्ञानपंचमी, बलिभद्र, ढोलामारु, कुमतिविध्वंस, विवेक, मलसुन्दरी आदि रचनाएं उल्लेखनीय हैं जो भाषा और विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त मालदेव की पुरन्दर चौ., सुरसुन्दरी चौ., वीरांगद चौ., देवदत्त चौ. आदि, रायमल्ल की चन्द्रगुप्त चौ., साधुकीर्ति की नमिराज चौ., सहजकीर्ति की हरिश्चन्द चौ., नाहर जटमल की प्रेमविलास चौ., टीकम की चतुर्दश चौ., जिनहर्ष की ऋषिदत्ता चौ., यति रामचन्द्र की मूलदेव चौ.. लक्ष्मी बल्लभ की रत्नहास चउपई भी सरसता की दृष्टि से उदाहरणीय हैं।

चूनड़ी काव्य :

चूनड़ी काव्य में रूपक तत्त्व अधिक गर्भित रहता है। इसी के माध्यम से जैन धर्म के प्रमुख तत्त्वों को प्रस्तुत किया जाता है। विनयचन्द की चूनड़ी (सं. 1576), साधुकीर्ति की चूनड़ी (सं. 1648), भगवतीदास की मुकति रमणी चूनड़ी (सं. 1680), चन्द्रकीर्ति की चारित्र चूनड़ी (सं. 1655) आदि काव्य इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। विनयचन्द्र की चूनड़ी में पत्नी पति से ऐसी चूनड़ी चाहती है जो उसे भव-समुद्र से पार करा सके—

विगए बन्दवि पंचगुरु, मोह-महातम-तोडरण-दिरणयर।
राह हिन हावहि चूनडिय मुद्धउ पभरगइ पिउ जोडिवि कर ॥[1]

फागु, बेलि, बारहमासो और विवाहलो साहित्य :

फागु में भी कवि अत्यन्त भक्तविभोर और आध्यात्मिक संत-सा दिखाई देता है। इसमें कवि तीर्थंकर या आचार्य के प्रति समर्पित होकर भक्तिरस को उड़ेलता है। मलधारी राजशेखर सूरि की नेमिचन्द फागु (सं. 1405), हलराज की स्थूलिभद्र फागु (सं. 1409), सकलकीर्ति की शान्तिनाथ फागु (सं. 1480), सोमसुन्दर सूरि की नेमिनाथ वरस फागु (सं. 1450), ज्ञानभूषण की आदीश्वर फागु (1560) मालदेव की स्थूलभद्र फागु (सं. 1612), वाचक कनक सोम की मंगल कलश फागु (सं. 1649), रत्नकीर्ति, धनदेवगरिण, समधर, रत्नमण्डन, रायमल्ल, अंचलकीर्ति, विद्याभूषण आदि कवियों की नेमिनाथ तीर्थंकर पर आधारित फागु रचनाएं काव्य की नयी विधा को प्रस्तुत करती हैं जिसमें सरसता, सहजता और समरसता का दर्शन होता है। नेमिनाथ और राजुल के विवाह का वर्णन करते समय कवि अत्यन्त भक्तविभोर और आध्यात्मिक संत-सा दिखाई देता है। इसी तरह हेमविमल सूरि फागु (सं 1554), पार्श्वनाथ फागु (सं 1558), वसन्त फागु, सुरंगानिध नेमि फागु, अध्यात्म फागु आदि शताधिक फागु रचनाएँ आध्यात्मिकता से जुड़ी हुई हैं।

इनके अतिरिक्त फागुलमास वर्णन सिद्धिविलास (सं. 1763), अध्यात्म फागु, लक्ष्मीवल्लभ फागु रचनाओं के साथ ही धमाल-संज्ञक रचनाएँ भी जैन कवियों की मिलती है जिन्हें हिन्दी में धमार कहा जाता है। अष्टछाप के कवि नन्ददास और गोविन्ददास आदि ने वसंत और होली पदों की रचना धमार नाम से ही की है। लगभग 15-20 ऐसी ही धमार रचनाएँ मिलती हैं जिनमें जिन समुद्रसूरि की नेमि होरी रचना विशेष उल्लेखनीय है।

बेलि साहित्य में वाछा की चहुंगति बेलि (1520 ई०), सकलकीर्ति (16वीं शताब्दी) की कर्पूरकथ बेलि, भट्टारक वीरचंद की जम्बूस्वामी बेलि (सं, 1690), ठकुरसी की पंचेन्द्रिय बेलि (सं. 1578), मल्लदास की क्रोधबेलि (सं. 1588), हर्षकीर्ति की पंचगति बेलि (सं. 1683), ब्रह्म जीवंधर की गुरगणा बेलि (16वीं शताब्दी), अभयनंदि की हरियाल बेलि (सं. 1630), कल्याणकीर्ति की लघु-बाहुबली बेलि (सं. 1692), लाखाचरण की कृष्णरुक्मणि बेलि टब्बाटीका (सं. 1638), तथा 6वीं शती के वीरचन्द, देवानंदि, शांतिदास, धर्मदास की क्रमशः सुदर्शन बेलि, जम्बूस्वामिनी बेलि, बाहुबलिनी बेलि, भरत बेलि, लघुबाहुबलि बेलि, गुरुबेलि और 17वीं शती के ब्रह्मजयसागर की मल्लिदासिनी बेलि व साह लोहठ की षड्लेश्याबेलि

---

1. विनयचन्द्र की चूनड़ी, पहला ध्रुवक।

का विशेष उल्लेख किया जा सकता है जिसमें भक्त कवियों ने अपने सरस भावों को गुनगुनाती भाषा में उतारने का सफल प्रयत्न किया है ।

बारहमासा भी मध्यकाल की एक विधा रही है जिसमें कवि अपने श्रद्धास्पद देव या आचार्य के बारहमासों की दिनचर्या का विधिवत् आख्यान करता है । ऐसी रचनाओं में हीरानन्द सूरि का स्थूलिभद्र बारहमासा और नेमिनाथ बारहमासा (15वीं शती) डूंगर का नेमिनाथ फाग के नाम से बारहमासा (सं. 1535) ब्रह्म-बूचराज का नेमीश्वर बारहमासा (सं. 1581), रत्नकीर्ति का नेमि बारहमासा (सं. 1614), जिनहर्ष का नेमिराजमति बारहमासा (सं. 1713), बल्लभ का नेमिराजुल बारहमासा (सं. 1727), विनोदीलाल अग्रवाल का नेमिराजुल बारहमासा (सं. 1749) सिद्धिविलास का फागुणमास वर्णन (सं. 1763), भवानीदास के अध्यात्म बारहमास (सं. 1781), सुमति-कुमति-कुमति बारहमास, विनयचन्द्र का नेमिनाथ बारहमास (18वीं शती) आदि रचनाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं । ये रचनाएँ अध्यात्म और भक्तिपरक है । इसी तरह की और भी शताधिक रचनाएँ हैं जो रहस्य साधना की पावन सरिता को प्रवाहित कर रही हैं । स्वतन्त्र रूप से बारहमासा 16वीं शती के उत्तरार्ध से अधिक मिलते हैं ।

विवाहलो भी एक विधा रही है जिसमें साधक कवि ने अपने भक्तिभाव को पिरोया है । इस सन्दर्भ में जिनप्रभसूरि (14वीं शती) का अंतरंग विवाह, हीरानंद-सूरि (15वीं शती) के अठारहनाता विवाहलो और जम्बूस्वामी विवाहलो, ब्रह्म-विनयदेव सूरि (सं. 1615) का नेमिनाथ विवाहलो, महिमसुन्दर (सं. 1665) का नेमिनाथ विवाहलो, सहजकीर्ति का शांतिनाथ विवाहलड (सं. 1678), विजय रत्नसूरि का पार्श्वनाथ विवाहलो (सं. 8वीं शती) जैसी रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं । इन काव्यों में चरित नायकों के विवाह प्रसंगों का वर्णन तो है ही पर कुछ कवियों ने व्रतों के ग्रहण को नारी का रूपक देकर उसका विवाह किसी संयमी व्यक्ति से रचाया है । इस तरह द्रव्य और भाव दोनों विवाह के रूप यहां मिलते हैं । ऐसे काव्यों में उदयनंदि सूरि विवाहला, कीर्तिरत्न सूरि, गुणरत्न सूरि सुमतिसाधु सूरि और हेम विमल सूरि विवाहले हैं ।

ब्रह्म जिनदास (15वीं शती) ने अपने रूपक काव्य परमहंस रास' में शुद्ध स्वभावी आत्मा का चित्रण किया है । यह परमहंस आत्मा माया रूप रमणी के आकर्षण से मोह ग्रसित हो जाता है । चेतना महिषी के द्वारा समझाये जाने पर भी वह मायाजाल से बाहर नहीं निकल पाता। उसका मात्र बहिरात्मा जीव काया नगरी में बस रहता है । माया से मन-पुत्र पैदा होता है । मन की निवृत्ति व प्रवृत्ति रूप दो पत्नियों से क्रमशः विवेक और मोह नामक पुत्रों की उत्पत्ति होती है । ये सभी परम-हंस (बहिरात्मा) को कारागार में बन्द कर देते हैं और निवृत्ति तथा विवेक को घर

से बाहर कर देते हैं। इधर मोह के शासनकाल में पाप वासनाओं का व्यापार प्रारंभ हो जाता है। मोह की दासी दुर्गति से काम, राग, और द्वेष ये तीन पुत्र तथा हिंसा, घृणा और निद्रा ये तीन पुत्रियां होती हैं। विवेक सन्मति से विवाह करता है। सम्यक्त्व के खड्ग से मिथ्यात्व को समाप्त करता है। परमहंस आत्मशक्ति को जाग्रत कर स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त करता है। इसी तरह ब्रह्मजयराज, बनारसीदास आदि के काव्य भी इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति से ओतप्रोत हैं।

फागु साहित्य में नेमिनाथ फागु (भट्टारक रत्नकीर्ति) यहाँ उल्लेखनीय है कवि ने राजुल की सुन्दरता का वर्णन किया है—

चन्द्रवदनी मृगलोचनी, मोचनी खंजन मीन।
वासग नीत्यो वेणिइं, मेणिय मधुकर दीन॥
युगल गल दाये शशि, उपमा नासा कीट।
अधर विद्रुम सम उपमा, दंत नू निर्मल नीर॥
चिबुक कमल पर षट्पद, आनन्द करै सुधापान।
ग्रीवा सुन्दर सोभती कम्बु कपोलने वान॥[2]

कुछ फागुओं में अध्यात्म का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से बनारसीदास का अध्यातम फाग उल्लेखनीय है जिसमें कवि ने फाग के सभी अंग-प्रत्यंगों का सम्बन्ध अध्यात्म से जोड दिया है—

भवपरणति चाचरित भई हो, अष्टकर्म बन जाल।
अलख अमूरति आतमा हो, खेलै धर्म धमाल॥
नयपंकति चाचरि मिलि हो, ज्ञान ध्यान डफताल।
पिचकारी पद साधना हो संवर भाव गुलाल॥[3]

ऐतिहासिक बेलियो के साथ ही आध्यात्मिक बेलियाँ भी मिलती है। इन आध्यात्मिक बेलियो मे 'पंचेन्द्रिय वेलि' विशेष उल्लेखनीय है जिसमे कवि ठाकुरसी ने पंचेन्द्रिय-विषय वासना के फल को स्पष्ट किया है। स्पर्शेन्द्रिय में आसक्ति का परिणाम है कि हाथी लोह श्रृंखलाओ से बंध जाता है और कीचक, रावण आदि दारुण दुःख पाते हैं।

वन तरुवर फल सउँ फिरि, पय पीवत हु स्वच्छंद।
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुख सहे गयन्द॥

---

1. परमहंस रास, खंडेलवाल दि० जैन मन्दिर, उदयपुर में सुरक्षित है।
2. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 109
3. बनारसी विलास, अध्यातम फाग, 10-11, पृ. 155

बांध्यो पाय संकुल चाले, सो कियो मसकं चाले।
परसण प्रें रहं दुख पायो, तिनि अंकुश बाका बायो॥
परसण रस कीचक पूरयौ, गहि भीम शिलातल चूरयौ।
परसण रस रावण नामइ, मारयौ लंकेसुर रामइ॥
परसण रस शंकर राच्यौ तिय आगे नट ज्यौ नाच्यो॥[1]

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य में 'बारहमासा' बहुत लिखे गये हैं। उनमें से कुछ तो निश्चित ही उच्चकोटि के हैं। कवि विनोदीलाल का नेमि-राजुल बारहमासा यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। यहाँ राजुल अपने प्रिय नेमि को प्राप्य पौष माह की विविध कठिनाइयों का स्मरण दिलाया है—

पिय पौष में जाड़ौ परैगी घनो, बिन सौंढ़ के शीत कैसे भर हो।
कहा ओढ़ेंगे शीत लगे जब ही, किधौं पातन की धुवनीधर हो॥
तुम्हरो प्रभुजी तन कोमल है, कैसें काम की फौजन सौं लर हो।
जब आवेगी शीत तरंग सबै, तब देखत ही तिनकौं डर हो॥[2]

संख्यात्मक काव्य

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने संख्यात्मक साहित्य का विपुल परिमाण में सृजन किया है। कहीं यह साहित्य स्तुतिपरक है तो कहीं उपदेश परक, कहीं अध्यात्मपरक है तो कहीं रहस्य भावना परक। इस विधा में समासशैली का उपयोग दृष्टव्य है।

लावण्यसमय का स्थूलभद्र एकवीसो (सं. 1553), हीरकलश सिंहासनबत्तीसी (सं. 1631), समयसुन्दर का दसशील तपभावना संवादशतक (सं. 1662), दासो का मदनशतक (सं. 1645), उदयराज की गुणबावनी (सं. 1676), बनारसीदास की समकितबत्तीसी (सं. 1681), पांडे रूपचन्द का परमार्थ दोहाशतक, आनन्दघन का आनन्दघन बहत्तरी (सं. 1705), पाण्डे हेमराज का सितपट चौरासी बोल (सं. 1709), जिनरंग सूरि की प्रबोधबावनी (सं. 1731), रायमल्ल की अध्यात्म-बत्तीसी (17वीं शती), बिहारीदास की सम्बोधपंचासिका (सं. 1758), भूधरदास का जैनशतक (सं. 1781), बुधजन का चर्चाशतक आदि काव्य अध्यात्मरसता के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

---

1. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 87
2. नेमि-राजुल बारहमासा, पृ. 14

उपर्युक्त संख्यात्मक साहित्य में से कुछ मनोरम पद्य नीचे उद्धृत हैं। बनारसीदास विरचित ज्ञानबावनी के निम्न पद्य में आत्मज्ञानी की अवस्था और उसके जीवन की गतिविधियों का चित्रण देखते ही बनता है—

ऋतु बरसात नदी नाले सर जोर चढ़ै,
बाढ़ै नाहिं मरजाद सागर के फैल की।
नीर के प्रवाह तृण काठवृन्द बहे जात,
चित्रावेल आइ चढ़ै नाहीं कहू गैल की।।
बनारसीदास ऐसे पंचन के परपंच,
रंचक न संक आवै वीर बुद्धि छैल की।
कुछ न अनीत न क्यों प्रीति पर गुण केती,
ऐसी रीति विपरीति अध्यातम शैली।।

इसी प्रकार भैया भगवतीदास ने अनित्यपच्चीसिका के एक पद्य में स्पष्ट किया है कि दुर्लभ नरभव को पाकर सच्चा आत्मबोध न होने से प्राणी भौतिक सुखों में उलझा रहता है।

नर देह हाये कहा, पंडित कहाये कहा,
तीर्थ के न्हाये कहा तटि तो न जैहै रे।
लच्छि के कमाये कहा, अच्छ के अघाये कहा,
छत्र के धराये कहा छीनता न ऐहै रे।।
केश के मुंडाये कहा भेष के बनाये कहा,
जोवन के आये कहा, जराहू न खैहै रे।
भ्रम को विलास कहा, दुर्जन मे वास कहा,
आतम प्रकाश विन पीछें पछितैहै रे।।

गीतिकाव्य

हिन्दी जैन साहित्य मे गीतिकाव्य का प्रमुख स्थान रहा है। उसमें वैयक्तिक भावात्मक अनुभूति की गहराई, आत्मनिष्ठता, सरसता और संगीतात्मकता आदि तत्त्वों का सन्निवेश सहज ही देखने को मिल जाता है। लावनी, भजन, गीत, पद आदि प्रकार का साहित्य इसके अन्तर्गत आता है। इसमें अध्यात्म, नीति, उपदेश, दर्शन, वैराग्य, भक्ति आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है। कविवर बनारसीदास, बुधजन, द्यानतराय, दौलतराम, भैया भगवतीदास आदि कवियों का गीति साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। जैन गीतिकाव्य सूर, तुलसी, मीरा आदि के पद साहित्य से किसी प्रकार कम नहीं। भक्ति सम्बन्धी पदों में सूर, तुलसी के समान दास्य-सख्य भाव, दीनता, पश्चात्ताप आदि भावों का सुन्दर और सरस चित्रण है। जैन कवियों के आराध्य राम के समान शील, शक्ति और सौन्दर्य से समन्वित या कृष्ण के समान

भक्ति सौन्दर्य से युक्त नहीं हैं। वे तो पूर्ण वीतरागी हैं। अतः भक्त न उनसे कुछ अभीष्ट की कामना कर सकता है और न उसकी आकांक्षापूर्ण ही हो सकती है। इसके लिए तो उसे ही सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का परिपालन करना होगा। अतः यहां अभिव्यक्त भक्ति 'निष्काम अहेतुक भक्ति है। आवेश में कुछ कवियों ने अवश्य उनका पतितपावन रूप और उलाहना आदि से सम्बद्ध पद लिखे हैं। इन सभी विशेषताओं को हम शताधिक हिन्दी जैन पद और गीतिकाव्यों में देख सकते हैं। उदाहरणार्थ—णमोकारफलगीत, मुक्ताफलगीत, नेमीश्वरगीत, (भ. सकलकीर्ति, सं. 1443-1499), बारहव्रतगीत—जीवड़ागीत-जिणन्दगीत (ब्रह्मजिनदास, सं. 1445 से 1525), नेमीश्वरगीत (चतरुमल, सं. 1571), नेमनिश्वरगीत (भ. भीमसेन, सं. 1520), विजयकीर्तिगीत, टंडाणागीतनेमिनाथ वसंत (ब्रह्मबूचराज, सं. 1591), नेमिनाथगीत-मल्लिनाथगीत (यशोधर, सं. 1581), अष्टाह्निका गीत और पद (शुभचन्द्र), सीमंधर स्वामीगीत (भ. वीरचन्द्र, सं. 1580), वसन्तविलासगीत (सुमतिकीर्ति, सं. 1626), पंचसहेली—पंथिगीत—उदरगीत (छीहल, सं. 1574), पदसंग्रह (जिनदास पांडे), फुटकर शताधिक गीत (समयसुन्दर, सं. 1641-1700), पूज्यवाहनगीत (कुशललाभ), गीतसाहित्य (ब्रह्मसागर, सं. 1580–1655), कुमुदचन्द्र का गीतसाहित्य सं. 1645–1687), आराधनागीत वादिचन्द्र (सं 1651), जिनराजसूरिगीत (सहजकीर्ति, सं. 1662), नेमिनाथपद (हेमविजय, सं 1666), नेमिनाथराजुल आदि गीत (हर्षकीर्ति, सं. 1683), मुनि अभयचन्द्र का गीत साहित्य (सं 1685–1721), ब्रह्मधर्मरुचि का गीत साहित्य (16 वीं), संयम सागर का गीत साहित्य, (सं. 16वीं शती), कनककीर्ति का गीत साहित्य (16वी शती), जिनहर्ष का गीत साहित्य (17वी शती), जगतराम की जैन पदावली (सं 1724), किशनसिंह का गीत साहित्य (सं. 1771), भूधरदास का पद संग्रह, भवानीदास का गीत साहित्य (सं. 1791), माणिकचंद का पद साहित्य (सं. 1800) नवलराम का पद साहित्य (सं. 1825), ऐसे हजारों पद हिन्दी जैन कवियों के यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिनमें आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता के तत्त्व गुंजित हो रहे हैं।

यह काव्य विधा व्यष्टि और समष्टि चेतना का समहित किए हुए हैं। आध्यात्मिक विश्लेषण को ध्यानात्मकता के साथ जोड़कर कवियों ने सुन्दर और सरस भावबोध की सर्जना प्रस्तुत की है। आत्मा से परमात्मा तक की आयासमयी दीर्घ यात्रा में पूजा, उपासना, उलाहना, दास्यभक्ति, शरणागति, दाम्पत्यभाव, फाग, होली, वात्सल्यभाव, मन की चंचलता, स्नेहात्मिक विकारभावों की परिणति, सत्संगति, संसार की असारता, आत्मसंबोधन, भेदविज्ञान, आध्यात्मिक विवाह, चित्तशुद्धि आदि विषयों पर हिन्दी जैन कवियों ने जिस मार्मिकता और तन्मयता के साथ शब्दों में अपने भाव गूंथे हैं वे काव्य की दृष्टि से तो उत्तम हैं ही पर रहस्य साधना के क्षेत्र में भी वे अनुपमता लिये हुए हैं।

उपर्युक्त गीत अथवा पद में से कतिपय पदों की सरसता उल्लेखनीय है। अधिकांश पदों में आवश्यक सभी तत्त्व निहित हैं। संगीतात्मकता की दृष्टि से भैया भगवतीदास का निम्न पद कितना मधुर है! इसमें शरीर को परदेशी के रूप में दर्शाकर यथार्थता का चित्रण बड़ी कुशलता से किया है—

कहा परदेशी को पतियारो।
मनमाने तब चलै पंथ को, सांझ गिनै न सकारो।
सबै कुटुम्ब छांड़ इतही पुनि, त्याग चलै तन प्यारो॥
दूर दिशावर चलत आप ही, कोउ न रोकन हारो।
कोऊ प्रीति करो किन कोटिक, अन्त होयगा न्यारो॥
धन सौं राचि धरम सौ भूलत, झूलत मोह मंझारो।
इहि विधि काल अनन्त गमायो, पायों नहिं भव पारो॥
सांचैं सुखसो विमुख होत हो, भ्रम मदिरा मतवारो।
चेतहु चेत सुनहु रे भइया, आप ही आप संभारो॥

इसी प्रकार आत्माभिव्यक्ति का तत्त्व कवि दौलतराम के निम्न पद में अभिव्यंजित है—

मेरो मन ऐसी खेलत होरी।
मन मिरदंगसाज करि त्यारी, तन को तमूरा बनोरी।
सुमति सुरंग सारंगी बजाई, ताल दोउ करजोरी।
राग पांचों पद कोरी ॥मेरो मन॥1॥
समकिति रूप नीर भर झारी, करुना केशर घोरी।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ कर माहिं सम्होरी।
इन्द्री पांचो सखि बोरी। मेरो मन॥2॥

कविवर बनारसीदास के इस पद में भाव और अभिव्यंजना का कितना समन्वय है—

चेतन तू तिहुँकाल अकेला।
नदी नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला ॥चेतन॥
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पट पेखन खेला।
सुख सम्पत्ति शरीर जल बुदबुद, विनशत नाहीं बेला ॥चेतन॥
मोह मगन अति मगन भूलत, परी तोहि गलजेला।
मैं मैं करत चहुँ गति डोलत, बोलत जैसे छेला ॥चेतन॥
कहत बनारसि मिथ्यामत तजि, होय सगुरु का चेला।
तास वचन परतीत आनयि, होइ राहज सुरझेला ॥चेतन॥

प्रकीर्णक काव्य :—

प्रकीर्णक काव्य में यहां हमने लाक्षणिक साहित्य, कोश, गजल, गुर्वावली आत्मकथा आदि विधाओं को अन्तर्भूत किया है। इन विधाओं की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन कवि मात्र अध्यात्म और भक्ति की ओर ही आकर्षित नहीं हुए बल्कि उन्होंने छन्द, अलंकार, आत्मकथा, इतिहास आदि से सम्बद्ध साहित्य की सर्जना में भी अपनी प्रतिभा का उपयोग किया है।

लाक्षणिक साहित्य में पिंगल शिरोमणि, छन्दोविद्या, छन्द मालिका, रस-मंजरी, चतुरप्रिया, अनूपरसाल, रसमोह शृंगार, लखपति पिंगल, आलापिंगल, छन्दशतक, अलंकार आशय, आदि रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। इसी तरह अनस्तमितव्रत संधि, मदनयुद्ध, अनेकार्थ नाममाला, नाममाला, आत्मप्रबोधनाममाला, अर्ध-कथानक, अक्षरमाला, गोराबादल की बात, रामविनोद, वैद्यकसार, बचनकोष, चित्तौड़ की गजल, क्रियाकोश, रत्नपरीक्षा, शकुनपरीक्षा, रासविलास, लखपतमंजरी नाममाला, गुर्वावली, चैत्य परिपाटी आदि रचनाएँ विविध विधाओं को समेटे हुए हैं।

इसी तरह कुछ हियाली संज्ञक रचनाएँ भी मिलती हैं जो प्रहेलिका के रूप मे लिखी गई है। बौद्धिक व्यायाम की दृष्टि से इनकी उपयोगिता निःसंदिग्ध है। मध्यकालीन जैनाचार्यों ने ऐसी अनेक समस्या मूलक रचनाएँ लिखी हैं। इन रचनाओं में समयसुन्दर और धर्मसी की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त प्रकीर्णक काव्य में मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने कहीं रस के सम्बन्ध में विचार किया है तो कहीं अलंकार और छन्द के, कहीं कोश लिखे हैं तो कहीं गुर्वावलियां, कहीं गजलें लिखी हैं तो कहीं ज्योतिष पर विचार किया है। यह सब उनकी प्रतिभा का परिणाम है। यहां हम उनमे से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

कविवर बनारसीदास ने काव्य रसों की संख्या 9 मानी है—शृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत और शान्त। इनमें शान्त रसको 'रसनिको नायक' कहा है। उसका निवास वैराग्य में बताया है—माया की अरुचिता में शान्त रस मानिये।"[1] उन्होंने इन रसों के पारमार्थिक स्थानों पर भी विचार किया है—

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना समरस रीति, हास हिरदै उछाह सुख॥
अष्ट करम दल मलन, रुद्र बरतै तिहि थानक।
तन बिलेछ वीभच्छ द्वन्द मुख दसा भयानक॥

---

1. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, 133-134.

अद्‌भुत अनंत बल चितवन, सांत सहज वैराग धुव।
नवरसविलास परगास तब, जब सुबोध घट प्रगट हुव ॥[2]

रस के समान अलंकार पर भी हिन्दी जैन कवियों ने विचार किया है। इस संदर्भ में कुंवरकुशल का लखपतजयसिंधु और रामचन्द्र का अलंकार आशय मञ्जरी उल्लेखनीय है। यहां रस, वस्तु और अलंकार को स्पष्ट किया गया है। अलंकार के कारण वस्तु का चित्रण रमणीय बनता है। उससे रस उपकृत होता है और अर्थों की रमणीयता में निखार आता है।

छन्दोविधान की दृष्टि से भी हिन्दी जैन कवि स्मरणीय हैं। कविवर वृन्दावनदास ने अत्यन्त सरल भाषा में लघु-गुरु को पहचानने की प्रक्रिया बतायी है—

लघु की रेखा सरल है, गुरु की रेखा बंक।
इहिं क्रम सौं गुरु-लघु परखि, पढ़ियो छन्द निशंक ॥
कहुं-कहुँ सुकवि प्रबन्ध महुं, लघु को गुरु कह देत।
गुरु हूँ को लघु कहत हैं, समझत सुकवि सुचेत ॥

आठों गणों के नाम, स्वामी और फल का निरूपण कवि ने एक ही सवैये में कर दिया है—

मगन तिगुरु भूलच्छि लहावत नगन तिलघु सुर शुभ फल देत।
भगन आदि गुरु इन्दु सुजस, लघु आदि यगन जल वृद्धि करेत ॥
रगन मध्य लघु, अगिन मृत्यु, गुरुमध्य जगन रवि रोग निकेत।
सगत अन्त गुरु, वायु भ्रमन तगनत लघु नव शून्य समेत ॥

इसी प्रकार बनारसीदास की नाममाला, भगवतीदास की अनेकार्थ नाममाला आदि कोश ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। यह कोश साहित्य संस्कृत कोश साहित्य से प्रभावित है।

इस प्रकार आदि-मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साधक कवियों ने साहित्य की किसी एक विधा को नहीं अपनाया, बल्कि लगभग सभी विधाओं में अपनी प्रतिभा को उन्मेषित किया है। यह साहित्य भाव, भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी उच्चकोटिका है। यद्यपि कवियों का यहाँ आध्यात्मिक अथवा रहस्य भावनात्मक उद्देश्य मूलतः काम करता रहा पर उन्होंने किसी भी प्रकार से प्रवाह में गतिरोध नहीं होने दिया। रसचर्वणा, छन्द-वैविध्य, उपमादि अलंकार, ओजादि गुण स्वाभाविक रूप से अभिव्यंजित हुए है। भाषादि भी कहीं बोझिल नहीं हो पाई। फलतः पाठक सरसता और स्वाभाविकता के प्रवाह में लगातार बहता रहता है और रहस्य भावना के मार्ग को प्रशस्त कर लेता है। जैनेतर कवियों की तुलना से भी यही बात स्पष्ट होती है।

1. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ. 239.
2. वही।

चतुर्थ परिवर्त

रहस्यभावना : एक विश्लेषण

रहस्य-शाब्दिक अर्थ, अभिव्यक्ति और प्रयोग :

सृष्टि के सर्जक तत्व अनादि और अनन्त हैं, उनकी सर्जनशीलता प्राकृतिक शक्तियों के संगठित रूप पर निर्भर करती है। पर उसे हम प्रायः किसी अज्ञात शक्ति विशेष से सम्बद्ध कर देते हैं, जिसका मूल कारण मानसिक दृष्टि से स्वयं को असमर्थ स्वीकार करना है। इसी असामर्थ्य मे सामर्थ्य पैदा करने वाले 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' तत्त्व की गवेषणा और स्वानुभूति की प्राप्ति के पीछे हमारी रहस्यभावना एक बहुत बड़ा सम्बल है। साधक के लिए यह एक गुह्य तत्त्व बन जाता है जिसका सम्बन्ध पराबौद्धिक ऋषि-महर्षियों की गुह्य साधना की पराकाष्ठा और उसकी विशुद्ध तपस्या से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक द्रष्टा के साक्षात्कार की दिशा, अनुभूति और अभिव्यक्ति समान नहीं हो सकती। उसका ज्ञान और साधनागम्य अनुभव अन्य प्रत्यक्षदर्शियों के ज्ञान और अनुभव से पृथक् होने की ही सम्भावना अधिक रहा करती है। फिर भी लगभग समान मार्गों को किसी एक पन्थ या सम्प्रदाय से जोड़ा जाना भी अस्वाभाविक नहीं। जिस मार्ग को कोई चुम्बकीय व्यक्तित्व प्रस्तुत कर देता है, उससे उसका चिरन्तन सम्बन्ध जुड़ जाता है और आगामी शिष्य-परम्परा उसी मार्ग का अनुसरण करती रहती है। यथा समय इसी मार्ग को अपनी परम्परा के अनुकूल कोई नाम दे दिया जाता है, जिसे हम अपनी भाषा में धर्म कहने लगते हैं। रहस्यभावना के साथ ही उस धर्म का अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है और कालान्तर में भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायों की सीमा में उसे बांध दिया जाता है।

'रहस्य' शब्द 'रहस्' पर आधारित है। 'रहस्' शब्द 'रह्' त्यागार्थक धातु से असुन् प्रत्यय लगाने पर बनता है।[1] तदनंतर यत् प्रत्यय जोड़ने पर रहस्य शब्द निर्मित होता है। उसका विग्रह होगा—रहसि भवम् रहस्यम्।[2] अर्थात् रहस्य एक ऐसी मानसिक प्रतीति अथवा अनुभूति है, जिसमें साधक ज्ञेय वस्तु के अतिरिक्त ज्ञेयान्तर वस्तुओं की वासना से असंपृक्त हो जाता है।

'रहस्' शब्द का द्वितीय अर्थ विविक्त, विजन, छन्न, निःशलाक, रह, उपांशु और एकान्त है।[3] और विजन में होने वाले को रहस्य कहते है। (रहसिभवम् रहस्यम्)। गुह्य अर्थ में भी रहस्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] श्रीमद्भगवद् गीता और उपनिषदों में रहस्य शब्द का विशेष प्रयोग दिखाई देता है। वहां एकान्त अर्थ में 'योगी यु जीत सततमात्मानं रहसि स्थितम्', मर्म अर्थ मे 'भक्तो सि सखा चेति रहस्यम् ह्येतदमुत्तं' और गुह्यार्थ में 'गुह्ययाद् गुह्यतरं' (18. 63), 'परम गुह्य' (18. 38) आदि की अभिव्यक्ति हुई है। इस रहस्य को आध्यात्मिक क्षेत्र में अनुभूति के रूप में और काव्यात्मक क्षेत्र में रस के रूप में प्रस्फुटित किया गया है। रहस्य के उक्त दोनो क्षेत्रो के मर्मज्ञों ने स्वानुभूति को 'चिदानन्द चैतन्य' अथवा 'ब्रह्मानंद सहोदर' नाम समर्पित किया है। रस-निस्पति के सन्दर्भ में ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि प्राचीन काव्य ग्रन्थों में इसका गम्भीर विवेचन किया गया है।

जहां तक जैन साहित्य का प्रश्न है, उसमें रहस्य शब्द का प्रयोग अन्तराय कर्म के अर्थ मे हुआ है। धवलाकार ने इसी अर्थ को 'रहस्य मंतरायः', (1/1, 1, 1/44) कहकर स्पष्ट किया है। 'रहस्य' शब्द का यह अर्थ कहां से आया है, यह गुत्थि अभी तक सुलझ नहीं सकी। सम्भव है अन्तराय कर्म की विशेषता के सन्दर्भ मे 'रहस्य' शब्द को अन्तराय कर्म का पर्यायार्थक मान लिया गया हो। जो भी हो, इस अर्थ को उत्तरकालीन आचार्यों ने विशेष महत्व नहीं दिया अन्यथा उसका प्रयोग लोकप्रिय हो जाता। दूसरी ओर जैनाचार्यों ने रहस्य शब्द के इर्दगिर्द घूमने वाले अर्थ को अधिक समेटा है। गुह्य साधना के अर्थ में उन्होंने रहस्य शब्द का प्रयोग भले ही प्रथमतः न किया हो पर उसमें संनिहित आध्यात्मिक वस्तुनिष्ठता को

---

1. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उणादिसूत्र-चतुर्थपाद)।
2. तत्र भवः दिगादिभ्यो यत् (पाणिनि सूत्र, 4. 3. 53. 54)।
3. विविक्त विजनः छन्ननिःशलाकास्तथा रहः।
   रहस्योपांशु चालिडे रहस्यम् तद्भवे त्रिषु॥ अमरकोश 2. 8. 22–23.
   अभिधान चिन्तामणि कोश, 741,
4. गुह्ये रहस्यम्..........अभिधान चिन्तामणिकोश, 742.

को मूल भावना के रूप में स्वीकार किया ही है। हमें इस संदर्भ में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को प्रथम रहस्यवादी व्यक्तित्व स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होगा। उनकी ही परम्परा का प्रवर्तन करने वाले नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों का नाम भी अग्रगण्य है। इसी रहस्य साधना को जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयत्न करने वालों में आचार्य कुंद-कुंद, कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगेन्दु. मुनि रामसिंह, बनारसीदास, आनन्दघन आदि जैसे साधकों का नाम किसी भी तरह भुलाया नहीं जा सकता। उनके ग्रन्थों में आध्यात्मिक तत्त्व को रहस्य से जोड़ दिया गया है जहाँ जैन रहस्य साधना का स्पष्ट विश्लेषण दिखाई देता है। जैन साधक 'टोडरमल की रहस्यपूर्ण चिट्ठी' इसी अर्थ को व्यक्त करती है। इस चिट्ठी में उन्होंने अपने कतिपय मित्रों को आध्यात्मिकता का संदेश दिया है। इसी तरह पाइअलच्छिनाममाला, सुपासणाहचरिउ (318) तथा हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण (2.204) आदि ग्रन्थों में भी रहस्य शब्द को गुह्य अथवा आध्यात्म की परिधि में मंढ़ दिया है। अतएवं इस आधार पर यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि जैन साधकों ने भी 'रहस्य' के दर्शन को अध्यात्म से अछूता नहीं रखा। उन्होंने तो वस्तुतः यथासमय रहस्य शब्द का प्रयोग 'आध्यात्म' के अर्थ में ही किया है। आध्यात्म का अर्थ है—आत्मा को अर्थात् स्वयं को अधिश्रित करके वर्तमान होना (आत्मानमधिश्रिन्य वर्तमानोऽध्यात्मम्—अष्टसहस्री, कारिका 2.)। इसमें आत्मा को केन्द्रितकर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन अर्ध-मागधी जैनागमो में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

इस रहस्य तत्व की भावानुभूति वासना रूप भाव के माध्यम से भावक के मानस-पटल पर अंकित होती है। इसी को साक्षात्कार कहा जाता है। यह साक्षात्कार तभी हो पाता है, जब मिथ्यात्व या अज्ञान का आवरण साधक की आत्मा से हट जाये। तब इसको रहस्यानुभूति कहा जायेगा। भावानुभूति काव्यात्मक है और रहस्यानुभूति साधनात्मक या दार्शनिक है। एक का सम्बन्ध रस से है और दूसरे की परिधि आध्यात्मिक है। प्रथम प्रक्रिया विचार से प्रारम्भ होती है और भावना से होती हुई अनुभूति मे विराम लेती है। द्वितीय प्रक्रिया अनुभूति से अपनी यात्रा प्रारम्भ करती है और भावना से होती हुई विचार में गर्भित हो जाती है। प्रथम को विषय प्रधान (Objective) कहा जा सकता है और द्वितीय को आत्मप्रधान या भावात्मक (Subjective) माना जा सकता है।

---

1. सूय, 1.4.18; भगवती, 2.24, 37.38; 9. 137; 15.56, 157; 18. 40; नाया. 1.1. 16, 44; 1. 5. 90; 1. 7. 6. 42; 1.8. 139; 1.14.70; उवासक, 1.13. 57.59; पण्हा, 6.2; देखिए, आगम शब्द-कोश, पृ. 609.

भावना की न्याय प्रणाली में 'चिन्ता', वेदान्त में निदिध्यासन, योग में ध्यान और काव्य के क्षेत्र में साधारणीकरण व्यापार, भावना, आदि के रूप में चित्रित किया गया है। आध्यात्मि के क्षेत्र में भावना साधन मात्र है पर काव्य के क्षेत्र में वह साधन और साध्य दोनों है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रहस्य भावना का सम्बन्ध आत्मिक-आध्यात्मिक साधना से है। पर उसकी भावात्मक भावना काव्यात्मक क्षेत्र में आ जाती है।

वाद के साथ रहस्य (रहस्यवाद) शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में सर्व-प्रथम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1927 में सरस्वती पत्रिका के मई अंक में किया था। लगभग इसी समय अवधनारायण उपाध्याय तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस शब्द का उपयोग किया। जैसा ऊपर हम देख चुके हैं, प्राचीन काल में 'रहस्य' जैसे शब्द साहित्यिक क्षेत्र में आ चुके थे पर उसके पीछे अधिकांशतः [अध्यात्मरस से सिक्त साधना-पथ जुड़ा हुआ था। उसकी अभिव्यक्ति भले ही किसी भाव और भाषा में होती रही हो पर उसकी सहजानुभूति सार्वभौमिक रही है। जहां तक उसकी अभिव्यक्ति का प्रश्न है, उसे निश्चित ही साक्षात्कार कर्ता गूंगे के गुड़ की भांति पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाता। अपनी अभिव्यक्ति में सामर्थ्य लाने के लिए वह तरह-तरह के साधन अवश्य खोजता है। उन साधनों में हम विशेष रूप से संकेतमयी और प्रतीकात्मक भाषा को ले सकते हैं। ये दोनों साधन साहित्य मे भी मिल जाते हैं।

यद्यपि 'रहस्यवाद' जैसा शब्द प्राचीन भारतीय योग-साधनाओं में उपलब्ध नहीं होता, पर 'रहस्य' शब्द का प्रयोग अथवा उसकी भूमिका का विनियोग वहां सदैव से होता रहा है। इसलिए भारतीय साहित्य के लिए यह कोई नवीन तथ्य नहीं रहा। पर्यवेक्षण करने से आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'रस्यवाद' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य के अंग्रेजी शब्द Mysticism के रूपान्तर के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस (Mysticism) शब्द का प्रयोग भी अंग्रेजी साहित्य में सन् 1900 के आस-पास प्रारम्भिक हुआ।[1] उसकी रचना ग्रीक भाषा के Mystikes शब्द से होनी चाहिए।[2] जिसका अर्थ किसी गुह्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधनारत दीक्षित शिष्य है।[3] उस दीक्षित शिष्य द्वारा व्यक्त उद्गार अथवा

---

1. Bonquet, A., C., Comparative Religion, Pelican Series 1953, P. 286,
2. The Concise Oxford Dictionary, P. 782 (sq. Mystic), Oxford, 1960
3. देखिये, बुल्के का हिन्दी शब्द कोश.

सिद्धान्त को रहस्यवाद कहा गया है। इसमें साधना प्रधान है और अनुभूति या साक्षात्कार की व्यञ्जना गर्भित है।

रहस्यवाद की परिभाषा

वाद शब्द की निष्पत्ति वद् धातु + घञ् प्रत्यय = वद् + अ से हुई है। जिसका अर्थ कथन होता है। उत्तरकाल में इसका प्रयोग सिद्धान्त और विचारधारा के संदर्भ में होने लगा। आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद, अनेकान्तवाद, विज्ञानवाद, मायावाद आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। जहां वाद होता है, वहां विवाद की शृंखला तैयार हो जाती है। आत्मसाक्षात्कार की भावना से की गई योग-साधना के साथ भी वाद जुड़ा और रहस्यवाद की परिभाषा में अनेक रूपता आयी। इसलिए साहित्यकारों ने रहस्य भावना को कहीं दर्शन परक माना और कही साधनापरक, कहीं भावात्मक (प्रेमप्रधान) तो कहीं प्रकृतिकमूलक, कहीं यौगिक तो कही अभिव्यक्तिमूलक। परिभाषाओं का यह वैविध्य साधकों की रहस्यानुभूति की विविधता पर ही आधारित रहा है। इतना ही नहीं, कुछ विद्वानों ने तो रहस्य भावना का सम्बन्ध चेतना, संवेदन, मनोवृत्ति और चमत्कारिता से भी जोड़ने का प्रयत्न किया है। इसलिए आजतक रहस्यवाद की परिभाषा सर्वसम्मत नहीं हो सकी। रहस्यवाद की कतिपय परिभाषायें इस प्रकार हैं–

भारतीय विद्वानों की दृष्टि में रहस्यवाद:—

डॉ० एस. राधाकृष्णन् ने धर्म, अध्यात्म और रहस्यवाद के बीच सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि प्रत्येक धर्मों में बाह्य विधि- निषेधों का प्रावधान रहता है जबकि आध्यात्मिकता सर्वोच्च सत्ता को समझाने और उससे तादात्म्य स्थापित करने तथा जीवन के सर्वांगीण विकास की ओर संकेत करती है। आध्यात्मिकता धर्म और और उसके अन्तर्गत निहित तत्व का सार है और रहस्यवाद में धर्म के इसी पक्ष पर बल दिया गया है।[1]

डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार ने रहस्यवाद की परिभाषा को दार्शनिक रूप देते हुए कहा है कि रहस्यवाद सत्य एवं वास्तविक तथ्य तक पहुंचने का एक ऐसा माध्यम है जिसे निषेधात्मक रूप में तर्कशून्य कहा जा सकता है।[2] परन्तु डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने रहस्यवाद को कला बताते हुए कहा है कि वह एक ऐसा साधन है जिससे साधक अन्तःयोग द्वारा संसार को अखण्ड रूप में अनुभव करता है।[3] वासुदेव जग-

---

1. Eastern Religion and Western Thoughts, P. 61
2. Mysticism in Bhaguad Gita, Calcutta, 1944 P. 1. Preface,
3. Mysticism : Theory and Art, P. 12.

साथ कीर्तिकार ने रहस्यवाद को एक आधार प्रधान अनुशासन बनाकर उसे ईश्वर से एकता प्राप्त करने का एक साधन बताया है ।[1] प्रो. रानाडे के अनुसार रहस्यवाद अन्तर्ज्ञान के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कहा जा सकता है ।[2] आ० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है ।[3] जयशंकर प्रसाद के अनुसार काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद बताया है ।[4]

डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद को अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन बताते हुए कहा है–रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहां तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्दर नहीं रह जाता ।[5] आ० परशुराम चतुर्वेदी ने रहस्यवाद की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए लिखा है–"रहस्यवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है जिसका मूल आधार किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता वा परमात्म तत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो सकता है ।[6] महादेवी वर्मा–"रहस्यानुभूति में बुद्धि के ज्ञेय को ही हृदय का प्रेय मान लेती हैं ।"[7] डॉ. त्रिगुणायत के अनुसार जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजाकर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है ।[8] डॉ० प्रेमसागर ने रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के मिलन की भावात्मक अभिव्यक्ति कहा है ।[9] डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल आध्यात्मिकता की उत्कर्ष सीमा का नाम रहस्यवाद निश्चित करते हैं ।[3] डॉ० रामकुमार वर्मा के स्वर में स्वर मिलाकर डॉ०

---

1. Studies in Vedanta, Boumbay, PP, 150-160
2. Mysticism in Maharashtra, PP. 1-12.
3. हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, आ० रामचन्द्र शुक्ल
4. काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध-जयशंकर प्रसाद
5. कबीर का रहस्यवाद, पृ 6.
6. रहस्यवाद, पृ. 25.
7. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य,
10. कबीर की विचारधारा-डॉ० त्रिगुणायत,
11. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 476.
12. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 20. (प्रस्तावना)

रूपनारायण पाण्डे ने रहस्यवाद को मानव की उस आंतरिक प्रवृत्ति का प्रकाशन माना है जिससे वह परम सत्य परमात्मा के साथ सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़ना चाहता है।[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं को समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि विद्वानों ने रहस्यवाद को किसी एक ही दृष्टिकोण से विचार किया है। किसी ने उसे समाजपरक माना है तो किसी ने विचारपरक, किसी ने अनुभूतिजन्य माना है तो किसी ने उसकी परिभाषा को विशुद्ध मनोविज्ञान पर आधारित किया है तो किसी ने दर्शन पर, किसी ने उसे जीवन दर्शन माना है, तो किसी ने उसे व्यवहार प्रधान बताया है।

2. पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में रहस्यवाद

M. G. R. Alliert Forges ने रहस्यवाद को Theology (ईश्वरीय-शास्त्र) से सम्बद्ध कर कहा है कि ये दोनों विधायें विज्ञानों की राज्ञी कही जा सकती है।[2] R. L. Nettleship ने यथार्थ रहस्यवाद को अनुभूतिजन्य प्रतीति का एकांश बोध स्वीकार किया है जो किसी अधिक वस्तु का प्रतीक मात्र है–True mysticism is the consciousness that everything that we experience is an element and only an eliment in fact, i. e. that in being what it is, it is symbolic of some thing more.[3] Walter T. Stace ने रहस्यवाद को चेतना से सम्बद्ध कर उसे sensory intellectual consciousness कहा।[4] फ्लीडर (Fleiderer) ने रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति को उपस्थित करते हुए उसे आत्मा और परमात्मा के एकत्व का प्रतीक माना है। यहां उन्होंने रहस्यवाद का धार्मिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से विश्लेषण किया है—Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God; it is nothing but the fundamental feeling of religion. The religious life is at its very heart and centre."[5]

Pingle Panthison (पिंगले पान्थिजन) ने लिखा है—"रहस्यवाद उन मानवीय प्रयत्नों से सम्बद्ध है जो चरम सत्य को ग्रहण करने के प्रयत्न में होता है

---

1. भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. 349.
2. Mystical Phenomena, London, 1926, P. 3
3. Mysticism in Keligion by Dr. M. R. Inge, New-Yark, P. 25.
4. The Teachings of the Mystics, Newyark, 1960, P. 238.
5. Mysticism in Religion by Dr. Dean Inge, P. 25

और उस सर्वोच्च सत्ता के सान्निध्य से उत्पन्न एक आनन्द होता है। चरम सत्य का ग्रहण रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष है और सर्वोच्च सत्ता के साथ मिलने के आनन्द से उत्पन्न अनुभूति धार्मिक पक्ष है।"[1] E. Caird ने रहस्यवाद को एक मानसिक प्रवृत्ति माना है। जिसमें आत्मा और परमात्मा के सभी सम्बन्ध गर्भित हो जाते हैं।[2] Caird की यह परिभाषा रहस्यवाद और अध्यात्मवाद को एक मानकर चल रही है। William James ने परिभाषा को दिये बिना ही यह कहा है कि उसकी अनुभूति विशुद्धतम और अभूतपूर्व होती है और वह अनुभूति असंप्रेष्य है।[3] Von Hartman ने रहस्यवाद की व्यापकता और परिभाषा पर विचार करते हुए उसे चेतना का वह तृप्तिमय बांध बतलाया है जिसमें विचार, भाषा और इच्छा का अन्त हो जाता है तथा जहां अचेतनता से ही उसकी चेतना जाग्रत हो जाती है।[4] प्राय: ये सभी परिभाषायें मनोदशा से विशेष सम्बद्ध हैं। उन्होंने स्वानुभूति को किसी साधना विशेष से नहीं जोड़ा।

Ku. Under Hill (कुमारी अण्डहिल) ने रहस्यवाद की परिभाषा को मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के अतिरिक्त दार्शनिक क्षेत्र की ओर लाकर खड़ा किया है और कहा है कि—"रहस्यवाद तथ्य की खोज विषयक उस प्रणाली का सुनिदिष्ट रूप है जो उत्कृष्ट एवं पूर्ण जीवन के लिए काम में लाया जाता है और जिसे

---

1. Mysticism appears in connection with the endeavour of human-mind to grasp the devine essence or the ultimate reality of things and to enjoy the blessedsess of actual communion with the highest. The first is the philosophical side of mysticism. The Second is the religious side. God ceases to be an object and becomes an experience." Mysticism in Religion by Inge, P. 25.
2. Mysticism is a religion in the most concentrated and exelusive form. It is that aptitude of mind in which all other relations are swallowed up in the relation of the soul of God." ibid. P. 25
3. The Varities of Religious Experience, a study in human nature, Longmans, 1929, P. 429.
4. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ. 12 पर उद्धृत.

हमने अब तक मानवीय चेतना की एक सनातन विशेषता के रूप में पाया है।[1] एक अन्य स्थान पर उन्होंने रहस्यवाद की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए उसे भगवत सत्ता के साथ एकता स्थापित करने की कला कहा है, जिसने किसी सीमा तक इस एकता को प्राप्त कर लिया है अथवा जो उसमें विश्वास रखता है और जिसने इस एकता की सिद्धि को अपना चरम लक्ष्य बना लिया है।"[2] यहां व्यक्ति एवं भगवत् सत्ता, दोनों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है तथा दोनों में एकता-स्थापन की सम्भावना भी की गई है। अस्तु, अण्डर हिल वेदान्त में विशिष्टाद्वैत की भांति ईश्वर एवं जीव की एकता को स्वीकार करती प्रतीत होती हैं। Frank Gaynor ने उसे और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है—'रहस्यवाद दर्शन, सिद्धान्त, ज्ञान या विश्वास है जो भौतिक जगत् की अपेक्षा आत्मा की शक्ति पर अधिक केन्द्रित रहता है। विश्वजनीन आत्मा के साथ आत्मिक संयोग अथवा बौद्धिक एकत्व रहस्यवाद का लक्ष्य है। आत्मिक सत्य का सहज ज्ञान और भावात्मक बुद्धि तथा आत्मिक चिन्तन अनुशासन के विविध रूपों के माध्यम से उपस्थित होता है। रहस्यवाद अपने सरलतम और अत्यन्त वास्तविक अर्थ में एक प्रकार का धर्म है जो कि ईश्वर के साथ सम्बन्ध के सजगबोध (awareness) और ईश्वरीय उपस्थिति की सीधी और घनिष्ठ चेतना पर बल देता है। यह धर्म की अपनी तीव्रतम, गहनतम और सबसे अधिक सजीव अवस्था है। सपूर्ण रहस्यवाद का मौलिक विचार है कि जीवन और जगत् का तत्व वह आत्मिक सार है, जिसके अन्तर्गत सब कुछ है और जो प्राणिमात्र के अन्तर में स्थित वह वास्तविक सत्य है जो उसके बाह्य आकार अथवा क्रिया कलापों से सम्बन्धित नहीं है।[3] W. E. Hocking ने रहस्यवाद की अन्य परिभाषाओं का खण्डन करते हुए उसे धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र से सम्बद्ध किया है। उन्होंने कहा है कि रहस्यवाद ईश्वर के साथ व्यवहार करने का एक मार्ग है।[4] इसे हम भावार्थ में एक साधना विशेष कह सकते हैं।

---

1. Mysticism is seen to be a highly specialized form of that search for reality for heightened and completed life, which we have found to be a constant characteristic of human consciousness. Mysticism in Newyark, 1 I 55, P. 93 (Practical Mysticism by Under hill.
2. Practical Mysticism by Under Hill, P. 3, भक्ति काव्य में रहस्यवाद, से उद्धृत, पृ. 13.
3. Mysticism Dictionaries by Frank Gaynor; भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ. 13 से उद्धृत
4. Mysticism is a way of dealing with God. New Haven, 1912, P. 355; रहस्यवाद–परशुराम से उद्धृत, पृ. 20.

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भी प्रस्तुत की गई रहस्यवाद की ये परिभाषायें कथंचित ही सही हो सकती हैं। इनमें प्राय: सभी ने ईश्वर के साक्षात्कार को रहस्यवाद का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है और उसे मनोदशा से जोड़ रखा है। परन्तु जैन दर्शन इससे पूर्णत: सहमत नहीं हो सकेगा। एक तो जैन दर्शन में ईश्वर के उस स्वरूप को स्वीकार नहीं किया गया जो पाश्चात्य दर्शनों में है और दूसरे रहस्यवाद का सम्बन्ध मात्र मनोदशा से ही नहीं, वह तो वस्तुत: एक विशुद्ध साधन पथ पर आचरित होकर आत्मसाक्षात्कार करने का ऐकान्तिक मार्ग है। Frank Gaynor का यह कथन कि उसे विश्वजनीन आत्मा के साथ अनात्मिक संयोग अथवा बौद्धिक एकत्व का प्रतीक न होकर अनुभूतिजन्य सहजानन्द का प्रतीक माना जाना चाहिए, जहां व्यक्ति आत्मा के अशुद्ध स्वरूप को दूर करने में जुटा रहता है। Pringle Panthoison, Ku Under Hill आदि विद्वानों की परिभाषाओं में भी आत्मा और परमात्मा के मिलने को प्रमुख स्थान दिया है। यहां भी मैं सहमत नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर को सभी धर्मों में समान रूप से स्वीकार नहीं किया गया। अत: रहस्यवाद की ये परिभाषायें सार्वभौमिक न होकर किसी पन्थ विशेष से सम्बद्ध ही मानी जा सकेंगी।

रहस्यवाद की परिभाषा को एकांगिता के संकीर्ण दायरे से हटाकर उसे सर्वाङ्गीण बनाने की दृष्टि से हम इस प्रकार परिभाषा कर सकते हैं—रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक स्वानुभूतिपूर्वक आत्मतत्व से परम तत्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अध्यात्म की चरमोत्कर्षावस्था की भावाभिव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। इस अर्थ की पुष्टि में हम पीछे प्राकृत जैनागम तथा धवला आदि के उद्धरण प्रस्तुत कर चुके हैं।

इस परिभाषा में हम रहस्यवाद की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(1) रहस्यभावना एक आध्यात्मिक साधन है। अध्यात्म से तात्पर्य है चिन्तन। जैन दर्शन में प्रमुखत: सात तत्व माने जाते हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्ष। व्यक्ति इन सात तत्वों का मनन, चिन्तन और अनुपालन करता है। साधक सम्यक् चरित्र का परिपालन करता हुआ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना करता है। यहां सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र साधन के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

(2) रहस्यभावना की अन्यतम विशेषता है स्वानुभूति। बिना स्वयं की प्रत्यक्ष अनुभूति के साधक साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी को शास्त्रीय परिभाषा में सम्यग्दर्शन कह सकते हैं। अनुभूति के उपरान्त ही श्रद्धा दृढ़तर होती

चली जाती है। वह अनुभूति भावात्मक होती है और यह भावात्मक अनुभूति ही रहस्यवाद का प्राण है।[1]

आत्मानुभव से साधक षड्-द्रव्यों के अस्तित्व पर भलीभांति चिन्तन करता है, श्रद्धा करता है, कर्म उपाधि से मुक्त हो जाता है, दुर्गति के विषाद से दूर हो जाता है तथा उसका चित्त समता, सुधा रस से भर जाता है।[2] अनुभूति की दामिनी शील रूप शीतल समीर के भीतर से दमकती हुई सन्तापदायक भावों को चीरकर प्रगट होती है और सहज शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित करती है।[3]

बनारसीदास के गुरु रूप पण्डित रूपचन्द का तो विश्वास है कि आत्मानुभव से सारा मोह रूप सघन अन्धेरा नष्ट हो जाता है। अनेकान्त की चिर नूतन किरणों का स्वच्छ प्रकाश फैल जाता है, सत्तारूप अनुपम अद्भुत ज्ञेयाकार विकसित हो जाता है, आनन्द कन्द अमन्द अमूर्त आत्मा में मन बस जाता है तथा उस सुख के सामने अन्य सुख बासे से प्रतीत होने लगती हैं। इसलिए वे अनादिकालीन अविद्या को सर्वप्रथम दूर करना चाहते हैं ताकि चेतना का अनुभव घट-घट में अभिव्यक्त हो सके।[4]

कविवर द्यानतराय आत्मविभोर होकर यही कह उठे—"आतम अनुभव करना रे भाई।" यह आत्मानुभव भेदविज्ञान के बिना सम्भव नहीं होता। नव पदार्थों का ज्ञान, व्रत, तप, संयम का परिपालन तथा मिथ्यात्व का विनाश अपेक्षित है।[5] भैया भगवतीदास ने अनुभव को शुद्ध-अशुद्ध रूप में विभाजित करके शुद्धानुभव को उपलब्ध करने के लिए निवेदन किया है। यह शुद्धानुभव राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व तथा पर पदार्थों की संगति को त्यागने, सत्यस्वरूप को धारण करने और आत्मा (हंस) के स्वत्व को स्वीकार करने से प्राप्त होता है।[6] इसमें वीतराग भक्ति, अप्रमाद, समाधि, विषयवासना मुक्ति, तथा षट्द्रव्य-ज्ञान का होना भी आवश्यक है[7]। शुद्धानुभवी साधक आत्मा के निरंजन स्वरूप को सदैव समीप रखता

---

1. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 5
2. बनारसी विलास, ज्ञानबावनी पृ. 6
3. वही परमार्थ हिन्डोलना, पृ. 5
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 3(–37
5. वही, पृ. 111
6. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, 98.
7. वही, 101

है और पुण्य-पाप के भेदक तत्त्व से सुपरिचित रहता है।[1] एक स्थान पर तो भैया भगवती दास ने अनुभव का अर्थ सम्यग्ज्ञान किया है और स्पष्ट किया है कि कुछ थोड़े ही भव (जन्म-मरण) शेष रहने पर उसकी प्राप्ति होती है। जो उसे प्राप्त नहीं कर पाता वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[2] कविवर भूधरदास आत्मानुभव की प्राप्ति के लिए आगमाभ्यास पर अधिक बल देते हैं। उसे उन्होंने एक अपूर्व कला तथा भवदाघहारी घनसार की सलाक माना है। जीवन की अल्पस्थिति और फिर द्वादशांग की अगाधता हमारे कलाप्रेमी को चिन्तित कर देती है। इसे दूर करने का उपाय उनकी दृष्टि में एक ही है—श्रुताभ्यास। यही श्रुताभ्यास आत्मा का परम चिन्तक है।[3] कविवर द्यानतराय भी भवबाधा से दूर रहने का सर्वोत्तम उपाय आत्मानुभव मानते हैं। आत्मानुभव करने वाला साधक पुद्गल को विनाशीक मानता है। उसका समता-सुख स्वयं मे प्रगट रहता है। उसे किसी भी प्रकार की दुविधा अथवा भ्रम शेष नहीं रहता। भेदविज्ञान के माध्यम से वह स्व-पर का निर्णय कर लेता है।[4] दीपचन्द कवि भी आत्मानुभूति को मोक्ष प्राप्ति का ऐसा साधन मानते हैं जिसमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की आराधना की जाती है। फलतः अखण्ड और अचल ज्ञान-ज्योति प्रकाशित होती है।[5] डा० राधाकृष्णन ने भी इसी को रहस्यवाद कहा है। पर उन्होने विचारात्मक अनुभूति को दर्शन का क्षेत्र तो बना दिया पर उसका भावात्मक अनुभूति से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया।[6] अतः यहां हम उनके विचारो से सहमत नही हो सकेंगे। अनुभूति में भाव यद्यपि प्रधान और मूल अवश्य है पर उनका निकट सम्बन्ध विचार अथवा दर्शन से भी बना रहता है। बिना विचार और दर्शन के भावों मे सघनता नही आ सकती।

(3) आत्मतत्व आध्यात्मिक साधना का केन्द्र है। संसरण का मूल कारण है—आत्म तत्त्व पर सम्यक् विचार का अभाव। आत्मा का मूल स्वरूप क्या है? और वह मोहादि विकारों से किस प्रकार जन्मान्तरों में भटकता है? इत्यादि जैसे प्रश्नों का यहां समाधान खोजने का प्रयत्न किया जाता है।

---

1. वही, पुण्य पापजगमूल पच्चीसी, पृ. 18
2. वही, परमात्म शतक, पृ. 29
3. जैन शतक, पृ. 91
4. अध्यात्म पदावलि, पृ. 359
5. ज्ञानदर्पण, 4, 45, 128–130 आदि
6. Heart of Hindustan (भारत की अन्तरात्मा) अनुवादक-विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, 1953, पृ. 65

(4) परमपद में लीन हो जाना रहस्यवाद की प्रमुख अभिव्यक्ति है। इसमें साधक आत्मा की इतनी पवित्र अवस्था तक पहुंच जाता है कि वह स्वयं परमात्मा बन जाता है। आत्मा और परमात्मा का एकाकारत्व एक ऐसी अवस्था है जहां साधक समस्त दुःखों से विमुक्त होकर एक अनिर्वचनीय शाश्वत चिदानन्द चैतन्य का रसपान करने लगता है। इसी को शास्त्रीय परिभाषा में हम निर्वाण अथवा मोक्ष कहते हैं।

मुक्त अवस्था में आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य हो जाता है। इसी तादात्म्य को समरस कहा गया है। जैन धर्म में आत्मा और परमात्मा का यह तादात्म्य अखंड ब्रह्म के अंश के रूप में स्वीकार नहीं किया गया, वहां तो विकारों से मुक्त होकर आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। इस सन्दर्भ में हम आगे के अध्यायों में विशद विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। परन्तु यहां इतना अवश्य कहना चाहूंगी कि जैन धर्म में आत्मा के तीन स्वरूप वर्णित हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा मिथ्यादर्शन के कारण विशुद्ध नहीं हो पाता। अन्तरात्मा में विशुद्ध होने की क्षमता है पर वह विशुद्ध अभी हुआ नहीं तथा परमात्मा आत्मा का समस्त कर्मों से विमुक्त और विशुद्ध स्वरूप है। आत्मा के प्रथम दो रूपों को साधक और अन्तिम रूप को साध्य कहा जा सकता है। साधक अनुभूति करने वाला है और साध्य अनुभूति तत्त्व।

परमात्म स्वरूप को सकल और निष्कल के रूप में विभाजित किया गया है। सकल वह है जिसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का विनाश हो चुका हो और शरीरवान हो। जैन परिभाषा में इसे अर्हन्त अथवा अर्हत् कहा गया है। हिन्दी साहित्य में इसी को सगुण ब्रह्म कहा गया गया है। आत्मा की निष्कल अवस्था वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र इन चार अघातिया कर्मों का भी विनाश हो जाता है। और आत्मा निर्देही बन जाता है। इसी को हिन्दी साहित्य में निर्गुण ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। उत्तरकालीन जैन कवियों ने आत्मा के सकल और निष्कल अवस्था की भावविभोर होकर भक्ति प्रदर्शित की है और भक्ति भाव में प्रवाहित होकर दाम्पत्यमूलक अहेतुक प्रेम का चित्रण किया है, जिसमें आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए विरह में तड़पती है, समरस होने का प्रयत्न करती है। समरस हो जाने पर वह उस अनुभूतिगत आनन्द और चिदानन्द चैतन्य रस का पान करती है।

रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद के प्रमुख तत्त्व

रहस्यवाद का क्षेत्र असीम है। उस अनन्त शक्ति के स्रोत को खोजना ससीम शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है अतः ससीमता से असीमता और परम विशुद्धता तक

पहुंच जाना तथा चिदानन्द चैतन्य रस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इसलिए रहस्यवाद का प्रस्थान बिन्दु संसार है जहां प्रात्याक्षिक और अप्रात्याक्षिक सुख-दुःख का अनुभव होता है और परम विशुद्धावस्था रूप को प्राप्त करता है। वहां पहुंचकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। और उसका भवचक्र सदैव के लिए समाप्त हो जाता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग अत्यन्त रहस्य अथवा गुह्य है इसलिए साधक में विषय के प्रति जिज्ञासा और औत्सुक्य जितना अधिक जागृत (जागरित) होगा उतना ही उसका साध्य समीप होता चला जायगा।

रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तत्वों का आधार लिया जा सकता है—

1. जिज्ञासा और औत्सुक्य।
2. संसारचक्र में भ्रमण करने वाले आत्मा का स्वरूप।
3. संसार का स्वरूप।
4. संसार से मुक्त होने का उपाय (भेद विज्ञान)।
5. मुक्त अवस्था की परिकल्पना (निर्वाण)।

इन्हीं तत्वों पर प्रस्तुत प्रबन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

रहस्यभावना का साध्य, साधन और साधक

रहस्यभावना का प्रमुख साध्य परमात्मपद की प्राप्ति करना है जिसके मूल साधन हैं—स्वानुभूति और भेदविज्ञान। किसी विषय वस्तु का जब किसी प्रकार से साक्षात्कार हो जाता है तब साधक के अन्तरंग में तद्विषयक विशिष्ट अनुभूति जागरित हो जाती है। साधना की सुप्तावस्था में चराचर जगत साधक को यथावत् दिखाई देता है। उसके प्रति उसके मन मे मोह गर्भित आकर्षण भी बना रहता है। पर साधक के मन में जब रहस्य की यह गुत्थि समझ में आ जाती है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ अशाश्वत है, क्षणभंगुर है और यह सत्-चित् रूप आत्मा उस पदार्थ से पृथक् है, ये कभी हमारे नहीं हो सकते और न हम कभी इन पदार्थों के हो सकते हैं तब उसके मन में एक अपूर्व आनन्दाभूति होती है। इसे हम जैन शास्त्रीय परिभाषा मे 'भेदविज्ञान' कह सकते हैं। साधक को भेदविज्ञान की यथार्थ अनुभूति हो जाना ही रहस्यवादी साधना का साध्य कहा जा सकता है। विश्व सत्य का समुचित प्रकाशन इसी अवस्था में हो पाता है। भेदविज्ञान की प्रतीति कालान्तर में दृढ़तर होती चली जाती है और आत्मा भी उसी रूप में परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था मे पहुंचकर साधक अनिर्वचनीय अनुभूति का आस्वादन करता है। आत्मा की यह अवस्था शाश्वत और चिरन्तन सुखद होती है।

रहस्यवादी का यही साध्य है। शास्त्रीय परिभाषा में इसे हम 'निर्वाण' कह सकते हैं।

साध्य सदैव रहस्य की स्थिति में रहता है। सिद्ध हो जाने पर फिर वह रहस्यवादी के लिए अज्ञात अथवा रहस्य नहीं रह जाता। साधक के लिए वह भले ही रहस्य बना रहे। इसलिए तीर्थंकर, ऋषभदेव, महावीर, राम, कृष्ण आदि की परम स्थिति साध्य है। इसे हम ज्ञेय अथवा प्रमेय भी कह सकते हैं।

इस साध्य, ज्ञेय अथवा प्रमेय की प्राप्ति में जिज्ञासा मूल कारण है। जिज्ञासा ही प्रमेय अथवा रहस्य तत्त्व के अन्तस्तल तक पहुंचने का प्रयत्न करती है। तदर्थ साध्य के संदर्भ में साधक के मन में प्रश्न, प्रति-प्रश्न उठते रहते हैं। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इसी का सूचक है। 'नेति-नेति' के माध्यम से साधक की रहस्यभावना पवित्रतम होती जाती है और वह रहस्य के समीप पहुंचता चला जाता है। फिर एक समय वह अनिर्वचनीय स्थिति को प्राप्त कर लेता है—'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' यह अनुभूतिपरक जिज्ञासा ही अभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य बनकर उतरती है। इसी काव्य के माध्यम से सहृदय व्यक्ति साधारणीकरण प्राप्त करता है और शनैः शनैः साध्य दशा तक बढ़ता चला जाता है। अतएव इस प्रकार के काव्य में व्यक्त रहस्यभावना की गहनता और सघनता को ही यथार्थ मे काव्य की विधेयावस्था का केन्द्र बिन्दु समझना चाहिए।

परम गुह्य तत्व रूप रहस्य भावना के वास्तविक तथ्य तक पहुँचने के लिए साधक को कुछ ऐसे शाश्वत साधनों का उपयोग करना पड़ता है जिनके माध्यम से वह चिरन्तन सत्य को समझ सके। ऐसे साधनो में आत्मा और परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप पर चिन्तन और मनन करना विशेष महत्वपूर्ण हैं। जैन धर्म में तो इसी को केन्द्र बिन्दु के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। इसी को कुछ विस्तार से समझाने के लिए वहां समूचे तत्वों को दो भागों में विभाजित किया गया हैजीव और अजीव। जीव का अर्थ आत्मा है और अजीव का विशेष सम्बन्ध उन पौद्गलिक कर्मों से है जिनके कारण यह आत्मा संसार मे बारम्बार जन्म ग्रहण करता रहता है। इन कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से कैसे होता है, इसके लिए आश्रव और बन्ध शब्द आये हैं तथा उनसे आत्मा कैसे विमुक्त होता है, इसके लिए संवर और निर्जरा तत्वों को रखा गया है। आत्मा का कर्मों से सम्बन्ध जब पूर्णतः दूर हो जाता है तब उसका विशुद्ध और मूल रूप सामने आता है। इसी को मोक्ष कहा गया है।

इस प्रकार रहस्य भावना का सीधा सम्बन्ध जैन संस्कृति में उक्त सप्त तत्वों पर निर्भर करता है। इन सप्त तत्वों की समुचित विवेचना ही जैन ग्रन्थों की मूल भावना है। आचार शास्त्र और विचार शास्त्र इन्हीं तत्वों का विश्लेषण करते हुए दिखाई देते हैं। अध्यात्मवादी ऋषि-महर्षियों और विद्वान-आचार्यों ने रहस्यभावना

की साधना में अनुभूति के साथ विपुल साहित्य का सृजन किया है। जिसका उल्लेख हम यथास्थान करते गये हैं।

'एकं हि सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' के अनुसार एक ही परम सत्य को विविध प्रकार से अनुभव में लाते हैं और उसे अभिव्यक्त करते हैं। उनकी रहस्यानुभूतियों का धरातल पवित्र आत्मसाधना से मण्डित रहता है। यही साधक तत्वदर्शी और कवि बनकर साहित्य जगत् में उतरता है। उसका काव्य भावसौन्दर्य से निखरकर स्वाभाविक भाषा में निसृत होता है फिर भी पूर्ण अभिव्यक्ति में असमर्थ होकर वह प्रतीकात्मक ढंग से भी अपनी रहस्यभावना को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। उसकी अभिव्यक्ति के साधन स्वरूप भाव और भाषा में श्रद्धा, प्रेम भक्ति, उपलम्भ, पश्चात्ताप, दास्यभाव आदि जैसे भाव समाहित होते हैं। साधक की दृष्टि सत्संगति और सद्गुरु महिमा की ओर आकृष्ट होकर आत्म साधना के मार्ग से परमात्मपद की प्राप्ति की ओर मुड़ जाती है।

रहस्यभावना की साधना में साधक पूरे आत्मविश्वास के साथ आत्मशक्ति का दृढ़तापूर्वक उपयोग करता है। तदर्थ उसे किसी बाह्य शक्ति की भी प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यकता होती है जिसे वह अपने प्रेरक तत्व के रूप मे स्थिर रखता है। साधना में स्थिरता और प्रकर्षता लाने के लिए साधक भक्ति-ज्ञान और कर्म के समन्वित रूप का आश्रय लेकर साध्य को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाता है। भक्ति-परक साधना मे श्रद्धा और विश्वास, ज्ञानपरक साधना में तर्क-वितर्क की प्रतिष्ठा और कर्म परक साधना मे यथाविधि आचार-परिपालन होता है।

जैन साधनात्मक रहस्यवादी साधक भक्ति, ज्ञान और कर्म को समान रूप से अंगीकार करता है। दार्शनिक परिभाषा में इसे क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का परिपालन कहा जा सकता है। साधनावस्था में इन तीनों का सम्यक् मिलन निर्वाण की प्राप्ति के लिए अपेक्षित है।

साधक और कवि की रहस्यभावना में किंचित् अन्तर है। साधक रहस्य का स्वयं साक्षात्कार करता है पर कवि उसकी भावात्मक भावना करता है। यह आवश्यक नहीं कि योगी कवि नही हो सकता अथवा कवि योगी नहीं हो सकता। काव्य का तो सम्बन्ध भाव से विशेषतः होता है और साधक की रहस्यानुभूति भी वहीं से जुड़ी हुई होती है। अतः इतिहास के पन्ने इस बात के साक्षी हैं कि उक्त दोनों व्यक्तित्व समरस होकर आध्यात्मिक साधना करते रहे हैं। यही कारण है कि योगी कवि हुआ है और कवि योगी हुआ है। दोनों ने रहस्यभावना की भावात्मक अनुभूति को अपना स्वर दिया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने उक्त दोनों व्यक्तित्वों की प्रतिभा, अनुभूति और सजगता को परखने का प्रयत्न किया है। इसलिए रहस्यवाद के स्थान पर हमने

रहस्यभावना शब्द को अधिक उपयुक्त माना है। भावना अनुभूतिपरक होती है और वाद किसी धर्म, सम्प्रदाय अथवा साहित्य से सम्बद्ध होकर ससीमित हो जाता है। इस अन्तर के होते हुए भी रहस्यभावना का सम्बन्ध अन्ततोगत्वा चूंकि किसी साधना विशेष से सम्बद्ध रहता है इसलिए वह भी कालान्तर में अनुभूति के माध्यम से एक वाद बन जाता है। इसलिए 'रहस्यवाद' लोकप्रिय हो गया।

अध्यात्मवाद और दर्शन :

जहां तक अध्यात्मवाद और दर्शन के सम्बन्ध का प्रश्न है, वह परस्पराश्रित है। अध्यात्मवाद योग साधना है जो साक्षात्कार करने का एक साधन है और दर्शन उस योग साधना का बौद्धिक विवेचन है। अध्यात्मवाद अनुभूति पर आधारित है जबकि दर्शन ज्ञान पर आधारित है। अध्यात्मवाद तत्व ज्ञान प्रधान है और दर्शन उसकी पद्धति और विवेचन करता है। इस प्रकार दर्शन अध्यात्मवाद से भिन्न नहीं हो सकता। अध्यात्मवाद की व्याख्या और विश्लेषण दर्शन की पृष्ठभूमि में ही सम्भव हो पाता है। दोनों के अन्तर को समझने के लिए हम दर्शन के दो भेद कर सकते है—आध्यात्मिक रहस्यवाद और दार्शनिक रहस्यवाद। आध्यात्मिक रहस्यवाद आचार प्रधान होता है और दार्शनिक रहस्यवाद ज्ञानप्रधान। अतः आचार और ज्ञान की समन्वयावस्था ही सच्चा अध्यात्मवाद अथवा रहस्यवाद है। इसलिए हमने अपने प्रबन्ध मे जैन आचार और ज्ञान मीमांसा के माध्यम से ही रहस्यवाद को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

रहस्यवाद किसी न किसी सिद्धान्त अथवा विचार-पक्ष पर आधारित रहता है और उस विचार पक्ष का अटूट सम्बन्ध जीवन-दर्शन से जुड़ा रहता है जो एक नियमित आचार और दर्शन पर प्रतिष्ठित रहता है। साधक उसी के माध्यम से रहस्य का साक्षात्कार करता है। वही रहस्य जब अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आता है तो दर्शन बन जाता है। काव्य मे अनुभूति की अभिव्यक्ति का प्रयत्न किया जाता है और उस अभिव्यक्ति मे स्वभावतः श्रद्धा-भक्ति का आधिक्य हो जाता है। धीरे-धीरे अन्धविश्वास, रूढ़ियां, चमत्कार, प्रतीक, मंत्र-तंत्र आदि जैसे तत्व उससे बढ़ने और जुड़ने लगते हैं।

दूसरी ओर रहस्यभावना की प्रतिष्ठा जब तर्क पर आधारित हो जाती है तो उसका दार्शनिक पक्ष प्रारम्भ हो जाता है। दर्शन को न तो जीवन से पृथक् किया जा सकता है और न अध्यात्म से। इसी प्रकार काव्य का सम्बन्ध भी दर्शन से बिल्कुल तोड़ा नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक अध्यात्मवादी अथवा रहस्यवादी काव्य के क्षेत्र में आने पर दार्शनिक साहित्यकार हो जाता है। यहीं उसकी रहस्य भावना की अभिव्यक्ति विविध रूप से होती है। आदि कवि वाल्मीकि भी कालान्तर में दार्शनिक बन गये। वेदों और आगमों के रहस्य का उद्घाटन करने वाले ऋषि-महर्षि भी 'दार्शनिक' बनने से नहीं बच सके।

वस्तुतः यहीं उनके जीवन्त-दर्शन का साक्षात्कार होता है और यहीं उनके कवि रूप का उद्घाटन भी। काव्य की भाषा में इसे हम रहस्यभावना का साधारणीकरण कह सकते हैं। परम तत्त्व की गुह्यता को समझने का इससे अधिक अच्छा और कौन-सा साधन हो सकता है ?

रहस्यवाद और अध्यात्मवाद :

अध्यात्म अन्तस्तत्व की निश्छल गतिविधि का रूपान्तर है। उसका साध्य परमात्मा का साक्षात्कार और उससे एकरूपता की प्रतीति है। यह प्रतीति किसी न किसी साधनापथ अथवा धर्म पर आधारित हुए बिना सम्भव नहीं। साधारणतः विद्वानों का यह मत है कि धर्म या सम्प्रदाय को रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि धर्म या सम्प्रदाय ईश्वरीय शास्त्र (Thelogy) के साथ जुड़ा रहता है। इसमें विशिष्ट आचार, बाह्य पूजन पद्धति, साम्प्रदायिक व्यवस्था आदि जैसी बातों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है जो रहस्यवाद के लिए उतने आवश्यक नहीं।[1]

पर यह मत तथ्यसंगत नहीं। प्रथम तो यह कि ईश्वरीय शास्त्र का सम्बन्ध प्रत्येक धर्म अथवा सम्प्रदाय से उस रूप में नहीं जिस रूप में वैदिक अथवा ईसाई धर्म में है। जैन और बौद्ध दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-हर्ता नहीं माना गया। दूसरी बात, बाह्य पूजन पद्धति, कर्मकाण्ड आदि का सम्बन्ध भी जैन धर्म और बौद्ध धर्म के मूल रूपों मे नहीं मिलता। ये तत्त्व तो श्रद्धा और भक्ति के विकास के सूचक हैं। उक्त धर्मों का मूल तत्त्व तो संसरण के कारणों को दूर कर निर्वाण की प्राप्ति करना है। यही मार्ग उन धर्मों का वास्तविक आध्यात्म मार्ग है। इसी को हम तत्तद् धर्मों का 'रहस्य' भी कह सकते हैं।

रहस्यवाद और दर्शन :

यद्यपि दर्शन की अन्तिम परिणति अध्यात्म में होती है। पर व्यवहारतः अध्यात्म और दर्शन मे अन्तर होता है। अध्यात्म अनुभूतिपरक है जबकि दर्शन बौद्धिक चेतना का दृष्टा है। पहले में तत्त्वज्ञान पर बल दिया जाता है जबकि दूसरा उसकी पद्धति और विवेचना पर घूमता रहता है। इसलिए रहस्यभावना का विस्तार विविध दार्शनिक परम्पराओं तक हो जाता है चाहे वे प्रत्यक्षवादी हों अथवा परोक्षवादी। वह एक जीवन पद्धति से जुड़ जाती है जो व्यक्ति को परमपद तक पहुंचा देती है। अतएव रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद व्यक्ति के क्रियाकलाप में अर्थ से लेकर इति तक व्याप्त रहता है।

---

1. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृष्ठ, 9.

रहस्यवाद का सम्बन्ध जैसा हम पहले कह चुके हैं, किसी न किसी धर्म-दर्शन-विशेष से अवश्य रहेगा। ऐसा लगता है, अभी तक रहस्यवाद की व्याख्या और उसकी परिभाषा मात्र वैदिक दर्शन और संस्कृति को मानदण्ड मानकर ही की जाती रही है। ईसाई धर्म भी इस सीमा से बाहर नहीं है। इन धर्मों में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता आदि स्वीकार किया गया है और इसीलिए रहस्यवाद को उस ओर अधिक मुड़ जाना पड़ा। परन्तु जहां तक श्रमण संस्कृति और दर्शन का प्रश्न है वहां तो इस रूप में ईश्वर का कोई अस्तित्व है ही नहीं। वहां तो आत्मा ही परमात्मपद प्राप्त कर तीर्थंकर अथवा बुद्ध बन सकता है। उसे अपने अन्धकाराच्छन्न मार्ग को प्रशस्त करने के लिए एक प्रदीप की आवश्यकता अवश्य रहती है जो उसे प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर प्राप्त हो जाता है।

रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद के प्रकार :

रहस्य भावना अथवा रहस्यवाद के प्रकार साधनाओं के प्रकारों पर अवलम्बित हैं। विश्व में जितनी साधनायें होंगी, रहस्यवाद के भी उतने भेद होंगे। उन भेदों के भी प्रभेद मिलेंगे। उन सब भेदों-प्रभेदों को देखने पर सामान्यतः दो भेद किये जाते हैं— भावनात्मक रहस्यवाद और साधनात्मक रहस्यवाद। भावनात्मक रहस्यवाद अनुभूति पर आधारित है और साधनात्मक रहस्यवाद सम्य आचार-विचार युक्त योगसाधना पर। दोनों का लक्ष्य एक ही है। परमात्मपद अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में परमपद से विमुक्त आत्मा द्वारा उसकी प्राप्ति के संदर्भ में प्रेम अथवा दाम्पत्य भाव टपकता है। अभिव्यक्ति की असमर्थता होने पर प्रतीकात्मक रूप में अपना अनुभव व्यक्त किया जाता है। यौगिक साधनों को भी वह स्वीकार करता है और फिर भावावेश में आकर अन्य आध्यात्मिक तथ्यों किंवा सिद्धान्तों का निरूपण करने लगता है। अतः डॉ० त्रिगुणायत के स्वर में हम अपना स्वर मिलाकर रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद के निम्न प्रकार कह सकते हैं—

1. भावात्मक या प्रेम प्रधान रहस्य भावना,
2. अभिव्यक्तिमूलक अथवा प्रतीकात्मक रहस्यभावना,
3. प्रकृतिमूलक रहस्य भावना,
4. यौगिक रहस्य भावना, और
5. आध्यात्मिक रहस्य भावना।

रहस्य भावना के ये सभी प्रकार भावनात्मक और साधनात्मक रहस्यभावना के अन्तर्गत आ जाते हैं। उनकी साधना अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों होती हैं। अन्तर्मुखी साधना में साधक अशुद्धात्मा के मूल स्वरूप विशुद्धात्मा को प्रियतम अथवा प्रियतमा के रूप में स्वीकारकर उसे योगादि के माध्यम से खोजने का प्रयत्न करता है तथा बहिर्मुखी साधना में विविध आध्यात्मिक तथ्यों को स्पष्ट

करने का प्रयत्न करता है। जैन साधना में ये दोनों प्रकार की साधनायें उपलब्ध होती हैं। वस्तुतः कोई भी रहस्यभावना भावनात्मक और साधनात्मक क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकती।

रहस्य भावना का सम्बन्ध चरम तत्व को प्राप्त करने से रहा है और चरम तत्व का सम्बन्ध किसी एक धर्म अथवा योग साधना विशेष से रहना सम्भव नहीं। इसलिए रहस्यभावना की पृष्ठभूमि में साधक की जिज्ञासा और उसका आचरित सम्प्रदाय विशेष महत्व रखता है। सम्प्रदायों और उनके आचारों का वैभिन्य सम्भवतः विचारों और साधनाओं में वैविध्य स्थापित कर देता है। इसलिए साधारण तौर पर आज जो वह मान्यता है कि रहस्य ाद का सम्बन्ध भारतीय साधनाओं में मात्र वैदिक साधना से ही है, भ्रम मात्र है। प्रत्येक सम्प्रदाय का साधक अपने किसी न किसी आप्त पुरुष में अद्वैत तत्व की स्थापना करने की दृष्टि से उनके ही द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुगमन करता है और अलौकिक स्वसंवेद्य अनुभवों और रहस्यभावों को प्रतीक आदि माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि आधुनिक रहस्यवाद की परिभाषा मे भी मत वैभिन्य देखा जाता है।

इसके बावजूद अधिकांश साधनओं में इतनी समानता दिखाई देती है कि जैसे वे हीनाधिक रूप से किसी एक ही सम्प्रदाय से सम्बद्ध हों। यह अस्वाभाविक भी नही, क्योंकि प्रत्येक साधक का लक्ष्य उस अदृष्ट शक्ति विशेष को आत्मसात करना है। उसकी प्राप्ति के लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिवेणी-धारा का पवित्र प्रवाह अपेक्षित है। रहस्यवाद की भूमिका इन तीनों की सुन्दर संगम-स्थली है। परम सत्य या परमात्मा के आत्मसाक्षात्कार के स्वरूप का वर्णन सभी साधक एक जैसा नहीं कर सके क्योंकि वह अनादि, अनन्त और सर्वव्यापक है, और उसकी प्राप्ति के मार्ग भी अनन्त हैं। अतः अनेक कथनों से उसे व्यंजित किया जना स्वाभाविक है। उनमें जैन दर्शन के स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के अनुसार किसी का भी कथन गलत नहीं कहा जा सकता। रहस्यभावना में वैभिन्य पाये जाने का यही कारण है। सम्भवतः पद्मावत में जायसी ने निम्न छन्द से इसी भाव को दर्शाया है-

"विधना के मारग हैं तेते।
सरग नखत तन रोवां जेते।।"

इस वैभिय के होते हुए भी सभी का लक्ष्य एक ही रहा है–परम सत्य की प्राप्ति और परमात्मा से आत्मसाक्षात्कार।

रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद की परम्परा :

वैदिक रहस्यभावना—रहस्य भावना की भारतीय परम्परा वैदिक युग से प्रारम्भ होती है। इस दृष्टि से नासदीय सूक्त और पुरुष सूक्त विशेष महत्वपूर्ण

हैं। नासदीय सूक्त में एक ऋषि के रहस्यात्मक अनुभवों का वर्णन है। तदनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में न सत् था न असत् और न आकाश था। किसने किसके सुख के लिए आवरण डाला ? तब अगाध जल भी कहां था ? न मृत्यु थी न अमृत। न रात्रि को पहिचाना जा सकता था, न दिन को। वह अकेला ही अपनी शक्ति से श्वासोच्छ्वास लेता रहा इसके परे कुछ भी न था।[1] 'पुरुषसूक्त' में रहस्यमय ब्रह्म के स्वरूप की तो बड़ी सुन्दर कल्पना की गयी हैं।[2] यहां यज्ञ की प्रमुखता के साथ ही बहुदेवतावाद का जन्म हुआ और फिर जनमानस एक देवतावाद की ओर मुड़ गया।

उपनिषद् साहित्य में यह रहस्य भावना कुछ और अधिक गहराई के साथ अभिव्यक्त हुई है। वेदों से उपनिषदों तक की यात्रा में ब्रह्म विद्यापूर्ण रहस्यमयी और गुह्य बन चुकी थी। उसे पुत्र, शिष्य अथवा प्रशान्तचित्तवान् व्यक्ति को ही देने का निर्देश है।[3] जरत्कारु और याज्ञवल्क का संवाद भी हमारे कथन को पुष्ट करता है। कठोपनिषद् में आत्मा की उपलब्धि आत्मा के द्वारा ही सम्भव बताई गई है। वहां उस आत्मज्ञान को न प्रवचन से, न मेधा से और न बहुश्रुत से प्राप्त बताया गया है।[4] तर्क से भी वह गम्य नहीं।[5] वह तो परमेश्वर की भक्ति और स्वयं के साक्षात्कार अथवा अनुभव से ही गम्य है।[6] मुण्डकोपनिषद् की पराविद्या यही ब्रह्म विद्या है। यही श्रेय है। इसी को अध्यात्मनिष्ठ कहा गया है। अविद्या के प्रभाव से प्रत्येक आत्मा स्वयं को स्वतन्त्र मानता है परन्तु वस्तुतः वैदिक रहस्यवादी विचारधारा के अनुसार वे सभी ब्रह्म के ही अंश हैं। यही ब्रह्म शक्तिशाली और सनातन है।

यह ब्रह्मविद्या अविद्या से प्राप्त नहीं की जा सकती। परमात्म ज्ञान से ही यह अविद्या दूर हो सकती है।[7] श्वेताश्वतरोपनिषद् में कैवल्य प्राप्ति की चार सीढ़ियों का निर्देशन किया गया है।[8]

---

1. ऋग्वेद 10. 129. 1-2; भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. 24.
2. वही, 10.90.1.
3. वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
   नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ श्वेताश्वतर, 6. 22.
4. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन।
   यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ कठोप. 1. 2. 23,
5. वही, 1. 2. 9.
6. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6. 23, छान्दोग्योपनिषद्, 7. 1. 3.
7. कठोपनिषद्, 1. 3. 14.
8. ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्यु प्रहाणिः।
   तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलं आप्तकामः॥ श्वे, पृ. 1. 11

1. यौगिक साधनों और ध्यानयोग प्रक्रिया के माध्यम से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होना अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार होना।
2. ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर सम्पूर्ण क्लेशों का दूर होना।
3. क्लेशक्षय पोने पर जन्म-मृत्यु से मुक्त होना, और
4. जन्म मृत्यु से मुक्त होने पर कैवल्यावस्था प्राप्त होना।

वेद और उपनिषद् के बाद गीता, भागवत् पुराण, शाण्डिल्य भक्ति सूत्र और नारद भक्ति सूत्र वैदिक रहस्यवादी प्रवृत्तियों के विकासात्मक सोपान कहे जा सकते हैं। 'तत्त्वमसि, सोऽहं, अहं ब्रह्माऽस्मि' जैसे उपनिषद् के वाक्यों में अभिव्यक्त विचार-धारा उत्तरकालीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य को प्रभावित करती हुई आगे बढ़ती है। सिद्ध सम्प्रदाय और नाथ सम्प्रदाय का रहस्यवाद यद्यपि अस्पष्ट-सा रहा है पर उसका प्रभाव भक्तिकालीन कवि कबीर, दादू और जायसी पर पड़े बिना न रहा। ये कवि निर्गुणवादी भक्त रहे। सगुणवादी भक्ति कवियों में मीरा, सूर और तुलसी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें मीरा और सन्त कवियों की रहस्य भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं। तुलसी की रहस्य भावना में दाम्पत्य भावना उतनी गहराई तक नहीं पहुंच पाई जितनी जायसी के कवि में मिलती है। रीतिकाल में आकर यह रहस्य भावना शुष्क-सी हो गई। आधुनिक काल में प्रसाद, पन्त निराला और महादेवी जैसी कवियों में अवश्य वह प्रस्फुटित होती हुई दिखाई देती है जिसे आलोचकों ने रहस्यवाद कहा है।

बौद्ध रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद :

साधारणत: यह माना जाता है कि रहस्यवाद वहीं हो सकता है जहां ईश्वर की मान्यता है। पर यह मत श्रमण संस्कृति के साथ नहीं बैठ सकता। जैन और बौद्ध धर्म वेद और ईश्वर को नहीं मानते। वैदिक संस्कृति की कुछ शाखाओं ने भी इस संदर्भ में प्रश्न चिन्ह खड़े किये है। इसके बावजूद वहां हम रहस्य भावना पर्याप्त रुप में पाते हैं। अत: उपर्युक्त मत को व्याप्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बौद्ध दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को अव्याकृत से लेकर निरात्मवाद तक चलना पड़ा।[1] ईश्वर को भी वहां सृष्टि का कर्ता, हर्ता और धर्ता नहीं माना गया। फिर भी पुनर्जन्म अथवा संसरण से मुक्त होने के लिए व्यक्ति को चतुरार्य सत्य का सम्यग्ज्ञान होना आवश्यक है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रज्ञा, शील और समाधि ये

1. बौद्ध संस्कृति का इतिहास-डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर, पृ. 83-92.

तीन साधन दिये गये हैं। इतर साधनों के माध्यम से चित्त (आत्मा ?) अन्ततोगत्वा बुद्धत्व की प्राप्ति कर लेता है। आगे चलकर महायानी साधना अपेक्षाकृत अधिक गुह्य बन गई। उसने हठयोग और तांत्रिक साधना को भी स्वीकार कर लिया। महायान का शून्यवाद पूर्ण रहस्यवादी-सा बन जाता है। कबीर आदि कवियों पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव दिखाई देता है। समूची बौद्ध साधना का पर्यालोचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा, चित्त अथवा संस्कार को बुद्धत्व में मिला देने की साधना प्रक्रिया के रूप में रहस्य भावना बौद्ध साधकों में भली भांति रही है।

जैन रहस्य भावना :

साधारणतः जैन धर्म से रहस्य भावना अथवा रहस्यवाद का सम्बन्ध स्थापित करने पर उसके सामने आस्तिक-नास्तिक होने का प्रश्न खड़ा हो जाता है। परिपूर्ण जानकारी के बिना जैन धर्म को कुछ विद्वानों ने नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में बैठा दिया है। यह आश्चर्य का विषय है। इसी कल्पना पर यह मन्तव्य व्यक्त किया जाता है कि जैन धर्म रहस्यवादी हो नहीं सकता क्योंकि वह वेद और ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। यही मूल में भूल है।

प्राचीन काल में जब वैदिक संस्कृति का प्राबल्य था, उस समय नास्तिक की परिभाषा वेद-निन्दक के रूप में निश्चित कर दी गई। परिभाषा के इस निर्धारण में तत्कालीन परिस्थिति का विशेष हाथ था। वेदनिन्दक अथवा ईश्वर सृष्टि का कर्ता, हर्ता, धर्ता के रूप में स्वीकार न करने वाले सम्प्रदायों में प्रमुख सम्प्रदाय थे जैन और बौद्ध। इसलिए उनको नास्तिक कह दिया। इतना ही नहीं, निरीश्वरवादी मीमांसक और सांख्य जैसे वैदिक भी नास्तिक कहे जाने लगे।

सिद्धान्ततः नास्तिक की यह परिभाषा निन्तान्त असंगत है। नास्तिक और आस्तिक की परिभाषा वस्तुतः पारलौकिक अस्तित्व की स्वीकृति और अस्वीकृति पर निर्भर करती है। आत्मा और पारलोक के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला आस्तिक और उसे अस्वीकार करने वाला नास्तिक कहा जाना चाहिए था। पाणिनिसूत्र 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (4–4–60) से भी यह बात पुष्ट हो जाती है। जैन संस्कृति के अनुसार आत्मा अपनी विशुद्धतम अवस्था में स्वयं ही परमात्मा का रूप ग्रहण कर लेती है। दैहिक और मानसिक विकारों से वह दूर होकर परमपद को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार यहां स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि की व्यवस्था स्वयं के कर्मों पर आधारित है। अतः जैन दर्शन की गणना नास्तिक दर्शनों में करना नितान्त असंगत है।

जैन रहस्यभावना भी श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत आती है। बौद्ध साधनाने जैन साधना से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैन साधकों ने आत्मा को केन्द्र के रूप में स्वीकार किया है। यही आत्मा जब तक संसार में जन्म-मरण का चक्कर

लगाता है, उसे विशुद्ध अथवा विमुक्त कहा जाता है। आत्मा की इसी विशुद्धावस्था को परमात्मा कहा गया है। परमात्म पद की प्राप्ति स्व-पर विवेक रूप भेदविज्ञान के होने पर ही होती है। भेदविज्ञान की प्राप्ति मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के स्थान पर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित आचरण से हो पाती है। इस प्रकार आत्मा द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन रहस्यभावना की अभिव्यक्ति है। आगे के अध्यायों में हम इसी का विश्लेषण करेंगे।

यहां यह ध्यातव्य है कि रहस्यभावना आने के लिए स्वानुभूति का होना अत्यावश्यक है। अनुभूति का अर्थ है अनुभव। बनारसीदास ने शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध व्यवहारनय और आत्मानुभव को मुक्ति का मार्ग बताया है। उन्होंने अनुभव का अर्थ बताते हुए कहा है कि आत्मपदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित को जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिक रस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है, उसी को अनुभव कहा जाता है।

वस्तु विचारत ध्याव तें, मन पावै विश्राम।
रस स्वादन रस ऊपजै, अनुभौ याको नाम ॥[1]

कवि बनारसीदास ने इस अनुभव को चिन्तामणिरत्न, शान्ति रस का कूप, मुक्ति का मार्ग और मुक्ति का स्वरूप माना है। इसी का विश्लेषण करते हुए आगे उन्होंने कहा है कि अनुभव के रस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं। इसका आनन्द कामधेनु चित्रावेली के समान है। इसका स्वाद पंचामृत भोजन के समान है। यह कर्मों का क्षय करता है और परमपद से प्रेम जोड़ता है। इसके समान अन्य धर्म नहीं है।

अनुभौ चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभौ मारग मोख को, अनुभव मोख स्वरूप ॥ 18 ॥
अनुभौ के रस सो रसायन कहत जग।
अनुभौ अभ्यासयहु तीरथ की ठौर है ॥
अनुभौ की जो रसा कहावे सोई पोरसा सु।
अनुभौ अधोरसार्सों ऊरध की दौर है।
अनुभौ की केलि यहै, कामधेनु चित्रावेली।
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है ॥
अनुभौ करम तोरै परम सौ प्रीति जोरे।
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है ॥ 19 ॥[1]

---

1. नाटक समयसार, 17.
1. वही, 18–19 ॥

रूपचन्द पाण्डे ने इस अनुभूति को आत्म ब्रह्म की अनुभूति कहकर उसे दिव्यबोध की प्राप्ति का साधन बताया है। चेतन इसी से अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य प्राप्त करता है और स्वतः उसका साक्षात्कारकर चिदानन्द चैतन्य का रसपान करता है—

अनुभौ अभ्यास में निवास सुध चेतन को,
अनुभौ सरूप सुध बोध को प्रकाश है।
अनुभौ अपार उपरहत अनन्त ज्ञान;
अनुभौ अनीत त्याग ज्ञान सुखरास है।
अनुभौ अपार सार आप ही को आप जानै,
आप ही में व्याप्त दीसै जामें जड़ नास है।
अनुभौ अरूप है सरूप चिदानन्द चन्द,
अनुभौ अतीत आठ कर्म स्यौं अकास है ॥-॥[1]

जिस प्रकार वैदिक संस्कृति में ब्रह्मवाद अथवा आत्मवाद को अध्यात्मनिष्ठ माना है उसी प्रकार जैन संस्कृति में भी रहस्यवाद को आध्यात्मवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। पं. आशाधर ने अपने योग विषयक ग्रन्थ को 'अध्यात्मरहस्य' उल्लिखित किया है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनाचार्य अध्यात्म को रहस्य मानते थे। अत: आज के रहस्यवाद को अध्यात्मवाद कहा जा सकता है।

बनारसीदास ने इस अध्यात्म या रहस्य की अभिव्यक्ति के माध्यम को अध्यात्म शैली नाम दिया। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि जैसे साधकों ने इसी का अनुभव किया है और इसी को अपनी अभिव्यक्ति का साधन अपनाया है—

इस ही सुरस के सवादी भये ते तौ सुनो,
तीर्थंकर चक्रवर्ती शैली अध्यात्म की।
बल वासुदेव प्रति वासुदेव विद्याधर,
चारण मुनिन्द्र इन्द्र छेदी बुद्धि भ्रम की ॥[2]

अध्यात्मवाद का तात्पर्य है आत्म चिन्तन। आत्मा के दो भाव हैं—आगमरूप और अध्यात्मरूप। आगम का तात्पर्य है वस्तु का स्वभाव और अध्यात्म का तात्पर्य आत्मा का अधिकार अर्थात् आत्म द्रव्य। संसार में जीव के दो भाव विद्यमान रहते हैं—आगम रूप कर्म पद्धति और अध्यात्मरूप शुद्धचेतन पद्धति। कर्म पद्धति में द्रव्यरूप और भावरूप कर्म आते हैं। द्रव्यरूप कर्म पुद्गल परिणाम कहलाते हैं और भावरूप कर्म पुद्गलाकार आत्मा की अशुद्ध परिणति परिणाम कहलाते हैं। शुद्ध चेतना पद्धति का तात्पर्य है शुद्धात्म परिणाम वहाँ भी द्रव्य रूप और भाव रूप दो प्रकार

---

1. अध्यात्मसवैया, पृ. 1.
2. बनारसी विलास, ज्ञानवाणी, पृ. 8.

का है। द्रव्य रूप परिणाम वह है जिसे हम जीव कहते हैं और भाव रूप परिणाम में अनन्त चतुष्टय, अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की प्राप्ति मानी जाती है।[1] इस प्रकार अध्यात्म से सीधा सम्बन्ध आत्मा का है।

अध्यात्म शैली का मूल उद्देश्य आत्मा को कर्मजाल से मुक्त करना है। प्रमाद के कारण व्यक्ति उपदेशादि तो देता है। पर स्वयं का हित नहीं कर पाता। वह वैसा ही रहता है जैसा दूसरों के पंकयुक्त पैरों को धोने वाला स्वयं अपने पैरों को नहीं धोता।[2] यही बात कलाकार बनारसीदास ने अध्यात्म शैली की विपरीत रीति को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।[3] इस अध्यात्म शैली को ज्ञाता साधक की सुदृष्टि ही समझ पाती है—

> अध्यातम शैली अन्य शैली को विचार तैसो,
> ज्ञाता की सुदृष्टिमांहि लगे एतो अन्तरो ॥[4]

एक और रूपक के माध्यम से कविवर ने स्पष्ट किया है कि जिनवाणी को समझने के लिए सुमति और आत्मज्ञान का अनुभव आवश्यक है। सम्यक् विवेक और विचार से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। शुक्लध्यान प्रकट हो जाता है, और आत्मा अध्यात्म शैली के माध्यम से मोक्षरूपी प्रासाद में प्रवेश कर जाता है।[5]

> जिनवाणी दुग्ध मांहि। विजया सुमति डार,
> निजस्वाद कंद वृन्द चहल पहल में।
> 'मिथ्यासोफी' मिटि गये ज्ञान की गहल में ॥
> 'शीरनी' शुक्ल ध्यान अनहद 'नाद' तान,
> 'गान' गुणमान करे सुजस सहल में।
> 'बानारसीदास' मध्यनायक सभा समूह,
> अध्यातम शैली चली मोक्ष के महल में ॥

बनारसीदास को अध्यात्म के बिना परम पुरुष का रूप ही नहीं दिखाई देता। उसकी महिमा अगम और अनुपम है। वसन्त का रूपक लेकर कविवर ने पूरा अध्यातम फाग लिखा है। सुमति रूपी कोकिला मधुर संगीत गा रही है। मिथ्याभ्रम रूपी कुहरा नष्ट हो गया है। माया रूपी रजनी का स्थितिकाल कम हो गया, मोहपंक

---

1. वही, पृ. 210.
2. बनारसी विलास : ज्ञानबावनी, पृ. 29.
3. वही, पृष्ठ, 13.
4. वही, पृष्ठ, 38.
5. वही, पृष्ठ, 45.

घट गया, संशय रूपी शिशिर समाप्त हो गया, शुभ-दल-पल्लव लहलहा पड़े, अशुभ पतझर प्रारम्भ हो गई, विषयरति-मालती मलिन हो गई, विरति-वेलि फैल गई, विवेक शशि निर्मल हुआ, आत्म शक्ति-सुचन्द्रिका विस्तृत हुई, सुरति-अग्नि ज्वाला जाग उठी, सम्यक्त्व- सूर्य उदित हो गया, हृदय कमल विकसित हो गया, कषाय-हिमगिरी गल गया, निर्जरा-नदी में प्रवाह आ गया, धारणा-धारा शिव-सागर की ओर वह चली, नय पंक्ति-चर्चरी के साथ ज्ञानध्यान-डफ का ताल बजा, साधना-पिचकारी चली, संवरभाव-गुलाल उड़ा, दया-मिठाई, तप मेवा, शील-जल, संयम-ताम्बूल का सेवन हुआ, परम ज्योति प्रगट हुई, होलिका में आग लगी, आठ काठ-कर्म जलकर बुझ गये और विशुद्धावस्था प्राप्त हो गई।[1]

अध्यात्मरसिक बनारसीदास आदि महानुभावों के उपर्युक्त गम्भीर विवेचन से यह बात छिपी नहीं रही कि उन्होने अध्यात्मवाद और रहस्यवाद को एक माना है। दोनो का का प्रस्थान बिन्दु, लक्ष्य प्राप्ति तथा उसके साधन समान हैं। दोनों शान्त रस के प्रवाहक हैं। अतः हमने यहां दोनों को समान मानकर यात्रा की है।

"गूंगे का सा गुड़" की इस रहस्यनुभूति में तर्क अप्रतिष्ठित हो जाता है— 'कहत कबीर तरक दुइ साधं तिनकी मति है मोटी' और वाद-विवाद की ओर से मन दूर होकर भगवद् भक्ति में लीन हो जाता है।[2] उसकी अनुभूति साधक की आत्मा ही कर सकती है। रूपचन्द ने इसी को 'चेतन अनुभव घट प्रतिभास्यों,' 'चेतन अनुभव घन मन मीनो' आदि शब्दो से अभिव्यक्त किया है।[3] सन्त सुन्दरदास ने ब्रह्म साक्षात्कार का साधन अनुभव को ही माना है।[4] बनारसीदास के समान ही सन्त सुन्दरदास ने भी उसके आनन्द को 'अनिर्वचनीय' कहा है।[5] उन्होंने उसे साक्षात् ज्ञान और प्रलय की अग्नि माना है जिसमें सभी द्वैत, द्वन्द और प्रपंच विलीन हो जाते हैं।[6]

---

1. बनारसी विलास : अध्यात्म फाग, पृ. 1-18.
2. वाद-विवाद काहू सो नही मांहि, जगत थे न्यारा, दादूदयाल की वानी, भाग 2, पृ. 29.
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 36-37.
4. अनुभव बिना नहिं जान सके निरसन्ध निरन्तर नूर है रे। उपमा उसकी अब कौन कहै नहिं सुन्दर चन्दन सूर है रे॥ सन्त सुधासागर, पृ. 586.
5. सन्त चरनदास की बानी, भाग 2, पृ. 45.
6. सुन्दर विलास, पृ. 164.

कबीर ने उसे 'आप पिछानें आपै आप'[1] तथा सुन्दरदास ने 'आपेहु आपहि जानै' स्वीकार किया है।[2] भैया भगवतीदास ने इसी को शुद्धात्मा का अनुभव कहा है।[3] बनारसीदास ने पंचामृत पान को भी अनुभव के समक्ष तुच्छ माना है और इसलिए उन्होंने कह दिया—'अनुभौ समान धरम कोऊ और न'[4] अनुभव के आधार स्तम्भ ज्ञान, श्रद्धा और समता आदि जैसे गुण होते हैं।[5] कबीर और सुन्दरदास जैसे सन्त भी श्रद्धा की आवश्यकता पर बल देते हैं।

इस प्रकार अध्यात्म किंवा रहस्य साधना में जैन और जैनेतर साधकों ने समान रूप से स्वानुभूति की प्रकर्षता पर बल दिया है। इस अनुभूतिकाल में आत्मा को परमात्मा अथवा ब्रह्म के साथ एकाकारता की प्रतीति होने लगती है। यहीं समता और समरसता का भाव जागरित होता है। इसके लिए सन्तों और आचार्यों को शास्त्रों और आगमों की अपेक्षा स्वानुभूति और चिन्तनशीलता का आधार अधिक रहता है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने सन्तों के सन्दर्भ में सही लिखा है—ये तत्व सीधे शास्त्र से नहीं आये, वरन् शताब्दियों की अनुभूति-तुला पर तुल कर, महात्माओं के व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर, सत्संग और गुरु के उपदेशों से संगृहीत हुए। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि मधु की एक बुंद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगन्धित मधु में नहीं है, उस मधु निर्माण के भ्रमर में अनेक पुण्य तीर्थों की यात्रायें सन्निविष्ट है। अनेक पुष्पों की क्यारियां मधु के एक-एक कण में निवास करती करती हैं, उसी प्रकार सन्त सम्प्रदाय का-दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।[6]

जैन और जैनेतर रहस्य भावना में अन्तर

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन और जैनेतर रहस्य भावना में निम्नलिखित अन्तर है—

(1) जैन रहस्य भावना आत्मा और परमात्मा के मिलने की बात अवश्य करता है पर वहां आत्मा से परमात्मा मूलतः पृथक् नहीं। आत्मा की विशुद्धावस्था

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 318
2. सुन्दर विलास, पृ. 159.
3. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पृ. 98.
4. नाटक समयसार, उत्थानिका, 19, पृ. 14.
5. बनारसी विलास, ज्ञानबावनी
6. डॉ. रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृ. 77.

को ही परमात्मा कहा जाता है जबकि अन्य साधनाओं में अन्त तक आत्मा और परमात्मा दोनों पृथक् रहते हैं। आत्मा और परमात्मा के एकाकार होने पर भी आत्मा परमात्मा नहीं बन पाता। जैन साधना अनन्त आत्माओं के अस्तित्व को मानता है पर जैनेतर साधनाओं में प्रत्येक आत्मा को परमात्मा का अंश माना गया है।

(2) जैन रहस्य भावना में ईश्वर को सुख-दुःख दाता नहीं माना गया। वहां तीर्थंकर की परिकल्पना मिलती है जो पूर्णतः वीतरागी और आप्त है। अतः उसे प्रसाद-दायक नहीं माना गया। वह तो मात्र दीपक के रूप में पथ-दर्शक स्वीकार किया गया है। उत्तरकाल में भक्ति आन्दोलन हुए और उनका प्रभाव जैन साधना पर भी पड़ा। फलतः उन्हें भक्तिवश दुःखहारक और सुखदायक के रूप में स्मरण किया गया है। प्रेमाभिव्यक्ति भी हुई है पर उसमे भी वीतरागता के भाव अधिक निहित हैं।

(3) जैन साधना अहिंसा पर प्रतिष्ठित है। अतः उसकी रहस्य भावना भी अहिंसा मूलक रही। षट्चक्र, कुण्डलिनी आदि जैसी तान्त्रिक साधनाओं का जोर उतना अधिक नहीं हो पाया जितना अन्य साधनाओ मे हुआ।

(4) जैन रहस्य भावना का हर पक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के समन्वित रूप पर आधारित है।

(5) स्व-पर विवेक रूप भेदविज्ञान उसका केन्द्र है।

(6) प्रत्येक विचार निश्चय और व्यवहार नय पर आधारित है।

जैन और जैनेतर रहस्य भावना मे अन्तर समझाने के बाद हमारे सामने जैन साधको की एक लम्बी परम्परा आ जाती है। उनकी साधना को हम आदिकाल मध्यकाल और उत्तरकाल के रूप मे विभाजित कर सकते है। इन कालो मे जैन साधना का क्रमिक विकास भी दृष्टिगोचर होता है। इसे सक्षेप मे हमने प्रस्तुत प्रबन्ध की भूमिका मे उपस्थित किया है। अतः यहां इस सन्दर्भ मे अधिक लिखना उपयुक्त नही होगा। बस इतना कहना पर्याप्त होगा कि जैन रहस्य भावना तीर्थंकर ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर पार्श्वनाथ और महावीर तक पहुंची, महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द, उमा स्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, मुनि कार्तिकेय, अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द, मुनि योगेन्दु, मुनि रामसिंह, आनन्दतिलक, बनारसीदास, भगवतीदास, आनन्दघन, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम आदि जैन रहस्य साधकों के माध्यम से रहस्य भावना का उत्तरोत्तर विकास होता गया। पर यह विकास अपने मूल स्वरूप से उतना अधिक दूर नही हुआ जितना बौद्ध साधना का विकास। यही कारण है कि जैन रहस्य साधना ने जैनेतर रहस्य साधनाओं को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। इसका तुलनात्मक अध्ययन मध्यकालीन हिन्दी साहित्य से किया जाना अभी शेष है। इस अध्ययन के बाद विश्वास है, रहस्यवाद किंवा रहस्य भावना के क्षेत्र में एक नया मानदण्ड प्रस्थापित हो सकेगा।

अन्त में यहां यह कह देना भी आवश्यक है कि छायावाद मूलतः एक साहित्यिक आन्दोलन रहा है जबकि रहस्यवाद की परम्परा आद्य परम्परा रही है। इसलिए रहस्यवाद छायावाद को अपने सुकोमल अंग में सहजभाव से भर लेता है। फलतः हिन्दी-साहित्य के समीक्षकों ने यत्र-तत्र रहस्यवाद और छायावाद को एक ही तुला पर तौलने का उपक्रम किया है। वस्तुतः एक असीम है, सूक्ष्म है, अमूर्त है जबकि दूसरा ससीम है, स्थूल है और मूर्त है। रहस्य भावना में सगुण साकार भक्ति से निर्गुण निराकार भक्ति तक साधक साधना करता है। पर छायावाद में इस सूक्ष्मता के दर्शन नहीं होते। मानवतावाद और सर्वोदयवाद को भी रहस्यवाद का पर्यायार्थक नहीं कहा जा सकता। रहस्यवाद आत्मपरक है जबकि मानवतावाद और सर्वोदयवाद समाजपरक है।

रहस्यवाद वस्तुतः एक काव्यधारा है जिसमें काव्य की मूल आत्मा अनुभूति प्रतिष्ठित रहती है। रहस्य शब्द गूढ, गुह्य, एकान्त अर्थ में प्रयुक्त होता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्व को काव्य का 'उपनिषद्' कहा है[1] जिसे दार्शनिक दृष्टि से रहस्य कहा जा सकता है और काव्य की दृष्टि से 'रस' माना जा सकता है। रस का सम्बन्ध भावानुभूति से है जो वासनात्मक (चित्तवृत्तिरूपात्मक) अथवा आस्वादात्मक होती है। रहस्य की अनुभूति ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की अनुभूति है। कवि इस रहस्य की अनुभूति को तन्मयता से जोड़ लेता है जहां रस-सचरण होने लगता है। यह अनुभूति आत्मपरक होती है, भावना मूलक होती है।

भावना शब्द का प्रयोग जैन दर्शन मे अनुचिन्तन, ध्यान अनुप्रेक्षण के अर्थ मे हुआ है। वेदान्त मे इसी को निदिध्यासन माना है। व्याकरण में भावना को 'व्यापार' का पर्ययार्थक कहा है।[2] भट्टनायक इसी को भावकत्व अथवा साधारणीकरण के रूप मे स्वीकार करते हैं।[3] यही रसानुभूति है जो सहृदय के हृदय में व्याप्त हो जाती है। भावना के अभाव में अभिव्यक्ति किसी भी परिस्थिति में संभव नही है। इसलिए कवि के लिए भावना एक साधन का काम करती है। आध्यात्मिक ताव दृष्टा रहस्य की साक्षात् भावना करता है जबकि कवि उसकी भावात्मक अनुभूति करता है। जैन साधक अध्यात्मिक कवि हुए हैं जिनमें रहस्य भावना का संचार दोनों रूपो में हुआ है। उनका स्थायी भाव वैराग्य रहा है। और वे शान्तरस के पुजारी माने जाते हैं।[4]

---

1. ध्वनेः स्वरूपं सकल-सत्कवि काव्योपनिषद् भूतमृ०—ध्वन्यालोक, 1.1.
2. वैयाकरण भूषणसार, 106.
3. काव्य प्रकाश, तृतीय उल्लास, रसनिष्पत्ति,
4. काव्य में रहस्यवाद, डॉ. बच्चूलाल अवस्थी, ग्रन्थम, कानपुर 1965.

वाद के जाल में फंसकर यह रहस्य भावना रहस्यवाद के रूप में आधुनिक साहित्य में प्रस्फुटित हुई है। इसका वास्तविक सम्बन्ध अध्यात्मविद्या से है जो आत्म परक होती है। अन्तः साक्षात्कार केन्द्रीय तत्व है। अनुभूति उसका साधन है। मोक्ष उसका साध्य है जहां आत्मज्ञान के माध्यम से जिन तत्त्व और अहंतत्व में अद्वैत भाव पैदा हो जाता है।[1]

जैन कवि वाद के पचड़े में नहीं रहे वे तो रहस्य भावना तक ही सीमित रहे हैं। इसलिए हमने यहां दर्शन और काव्य की समन्वयात्मकता को आधार माना है जहां साधकों ने समरस होकर अपने भावों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। वे साधक पहले हैं, कवि बाद में हैं। जहां कहीं दार्शनिक कवि और साधक का रूप एक साथ भी दिखाई दे जाता है। वाद शैली का द्योतक है और भावना अनुभूति परक है। जैन कवि भावानुभूति में अधिक जुटे रहे हैं। इसलिए हमने यहां 'रहस्यवाद' के स्थान पर रहस्य भावना को ही अधिक उपयुक्त माना है। रहस्य भावना के विवेचन के कारण रहस्यवाद का काव्यपक्ष भी हमारे अध्ययन की परिधि से बाहर हो गया है।

---

1. जो जिण सो हउं, सो जि हउं, एहउ भाउ णिभन्तु
जोइया, कण्णु णतन्तु णमन्तु मोक्खहो कारणि–परमात्मा सार

पंचम परिवर्त

रहस्यभावना के बाधक तत्त्व

रहस्य-भावना का चरमोत्कर्ष ब्रह्मसाक्षात्कार है। साहित्य में इस ब्रह्म-साक्षात्कार को परमार्थ प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार परमपद प्राप्ति, परम सत्य, अजर-अमर पद आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। इसमें आत्म चिन्तन को रहस्यभावना का केन्द्र बिन्दु माना गया है। आत्मा ही साधना के माध्यम से स्वानुभूतिपूर्वक अपने मूल रूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिए उसे एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। सर्वप्रथम उसे स्वयं में विद्यमान राग-द्वेष-मोहादिक विकारो को विनष्ट करना पड़ता है। ये ही विकार संसारी को जन्म-मरण के दुःख सागर मे डुबाये रहते है। इनको दूर किये बिना न साधना का साध्य पूरा होता है। और न ब्रह्मसाक्षात्कार रूप परमरहस्य तत्त्व तक पहुचा जा सकता है। यही कारण है कि प्रायः सभी साधनाओ में उनसे विमुक्त होने का उपदेश दिया गया है।

सांसारिक विषय-वासना :

साधक कवि सांसारिक विषय-वासना पर विविध प्रकार से चिन्तन करता है। चिन्तन करते समय वह सहजभाव से भावुक हो जाता है। उस अवस्था में वह कभी अपने को दोष देता है तो कभी तीर्थंकरों को बीच में लाता है। कभी रागादिक पदार्थों की ओर निहारता है तो कभी तीर्थंकरों से प्रार्थना, बिनती और उलाहने की बात करता है। कभी पश्चात्ताप करता हुआ दिखाई देता है तो कभी सत्संगति और दास्यभाव को अभिव्यक्त करता है। इन सभी भावनाओं को हिन्दी जैन कवियों ने निम्न प्रकार से अपने शब्दों मे गूंथने का प्रयत्न किया है।

कविवर बनारसीदास संसार की नश्वरशीलता पर विचार करते हुए कहते है कि सारे जीवन तूने व्यापार किया, जुआ आदि खेला, सोना-चांदी एकत्रित किया, भोग वासनाओं में उलझा रहा। पर यह निश्चित है कि एक दिन यम आयेगा और

तुम्हें यहां से उठा ले जायेगा। उस समय यह सारा वैभव यहीं पड़ा रह जायेगा। आंधी-सी चलेगी। सब कुछ चला जायेगा। यह कराल काल की कृपाण सदैव तुम्हारे सिर पर लटकती रहती है। अब तो वृद्धावस्था भी आ गयी। इस समय तो कम से कम मन में यह सूझ आ जाय और जन्म-मरण की बात को सोचकर संसार के स्वभाव पर विचार कर ले :—

वा दिन को कर सोच जिय मन हैं।
बनज किया व्यापारी तूनें टांडा लादा भारी।
ओछी पूंजी जूआ खेला आखिर बाजी हारी रे॥
आखिर बाजी हारी, कर ले चलने की तैयारी।
इक दिन डेरा होयगा बन में॥ वा दिन॥1॥

झूठे नैना उलफत बांधी, किसका सोना किसका चांदी।
इक दिन पवन चलेगी आंधी, किसकी बीबी किसकी बांदी॥
नाहक चित्त लगा वै धन में॥ वा दिन॥2॥
मिट्टी सेती मिट्टी मिलियो, पानी से पानी।
मूरख सेती मूरख मिलियो, ज्ञानी से ज्ञानी॥
यह मिट्टी है तेरे तन में॥ वा दिन॥3॥
कहत बनारसि सुनि भवि प्राणी, यह पद है निरवाना रे।
जीवन मरन किया सो नाही, सिर पर काल निशाना रे॥
सूझ पड़ेगी बुढ़ापेपन में॥ वा दिन॥4॥[1]

संसरण का प्रबलतम कारण मोह और अज्ञान है जिनके कारण जीव की राग द्वेषात्मक प्रवृत्तियां उत्पन्न होती है। ये प्रवृत्तियां हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की ओर मन को दौड़ाती है। मन की चंचलता और वचनादि की असंयमता से शुभ अथवा कुशल कर्म भी दुःखदायी हो जाते है। मोह के शेष रहने पर कितना भी योगासन आदि किया जायें पर व्यक्ति का चित्त आत्म-दृष्टि की ओर नही दौड़ता। श्रुताभ्यास करने पर भी जाति, लाभ, कुल, बल, तप, विद्या प्रभुता और रूप इन आठ भेदों से जीव अभिमान ग्रस्त हो जाता है। फलत: विवेक जाग्रत नहीं होता और आत्मशक्ति प्रगट नहीं हो पाती। इसलिए बनारसीदास जीव पर करुणाद्र होकर कहते हैं :—

देखो भाई महाविकल संसारी
दुखित अनादि मोह के कारन, राग द्वेष भ्रम भारी॥[2]

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 55.
2. वही, पृ. 57.

संसारी जीव को अनंतकाल तक इस संसार में खेलते-भटकते हो गया पर कभी उसे इसका पश्चात्ताप नहीं हुआ। वह जुआ, आलस, शोक, भय, कुकथा, कौतुक, कोप, कृपणता, अज्ञानता भ्रम, निद्रा, मद और मोह इन तेरह काठियों में रमता रहा।[1] जिस संसार में सदैव जन्म-मरण का रोग लगा रहता है, आयु क्षीण होने का कोई उपाय नहीं रहता, विविध पाप और विलाप के कारण जुड़े रहते हैं, परिग्रह का विचार मिथ्या लगता रहता है, इन्द्रिय-विषय-सुख स्वप्नवत् रहता है, उस चंचल विलास में, रे मूढ़, तू अपना धर्म त्यागकर मोहित हो गया। ऐसे मोह और हर्ष-विषाद को छोड़। जो कुछ भी सम्पत्ति मिली है वह पुण्य प्रताप के कारण। पर उसके परिग्रह और मोह के कारण तूने कर्मबंध की स्थिति बढ़ा ली। जब अन्त आवेगा तो यहां से अकेले ही जाना पड़ेगा।[2] संसार की वास्तविक स्थिति पर साधक जब चिन्तन करता है तो उसे स्पष्ट आभास हो जाता है कि यह शरीर भी अन्य पदार्थों के समान शक्तिहीन होता चला जायेगा। बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक शरीर की गिरती हुई क्रमिक अवस्था को देखकर साधक विरक्त-सा हो जाता है। उसे सारा संसार नश्वर प्रतीत होने लगता है।[3]

जगजीवन को तो यह सारा संसार घन की छाया-सा दिखता है। उन्होंने एक सुन्दर रूपक में यह बात कही। पुत्र, कलत्र, मित्र, तन, सम्पत्ति आदि कर्मोदय के कारण जुड़ जाते हैं। जन्म-मरण रूपी वर्षा आती है और आश्रव रूपी-पवन से वे सब बह जाते है। इन्द्रियादिक विषय लहरों-सा विलीन हो जाता है। राग-द्वेष रूप वक-पंक्ति बड़ी लम्बी दिखाई देती है, मोह-गहल की कठोर आवाज सुनाई पड़ती है, सुमति की प्राप्ति न होकर कुमति का संयोग हो जाता है। इससे भवसागर कैसे पार किया जा सकता है। पर जब रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) का प्रकाश और अनंत चतुष्टय (अनंत दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य) का सुख मिलने लगता है तब कवि को यह सारा संसार क्षणभंगुर लगने लगता है :—जगत सब दीसत घन की छाया।[4]

संसारी जीव अपनी आदतों से अत्यन्त दुःखी हो जाता है। वह न तो किसी प्रकार पंच पापों से मुक्त हो पाता है और न चार विकथाओं से। मन, वचन, काय को भी वह अपने वश नहीं कर पाता, राग द्वेषादिक जम जाते हैं, आत्म-ज्ञान हो

1. बनारसी विलास, तेरह काठिया, पृ. 157.
2. वही, प्रास्ताविक फुटकर कविता, पृ. 8–16.
3. वही, पृ. 12.
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 77.

नहीं पाता। ऐसी स्थिति में जगतराम कवि त्रस्त-सा होकर कहते हैं। 'मेरी कौन गति होसी हो गुसांई ॥'[1]

द्यानतराय को तो यह सारा संसार बिल्कुल मिथ्या दिखाई देता है। वे अनुभव करते हैं कि जिस नश्वर देह को हमने अपना प्रिय माना और जिसे हम सभी प्रकार के रसपाकों से पोषते रहे, वह कभी हमारे साथ चलता नहीं, तब अन्य पदार्थों की बात क्या सोचें ? सुख के मूल स्वरूप को तो देखा समझा ही नहीं। व्यर्थ में मोह करता है। आत्मज्ञान को पाये बिना असत्य के माध्यम से जीव द्रव्यार्जन करता, असत्य साधना करता, यमराज से भयभीत होता 'मैं' और 'मेरा' की रट लगाता संसार में घूमता फिरता है। इसलिए संसार की विनाशशीलता देखते हुए वे संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं। 'मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार रे।'[2]

दौलतराम ने भी संसार को 'धोके की टाटी' कहा है और बताया है कि संसारी जीव जानबूझकर अपनी आंखों पर पट्टी बांधे हुए हैं। उसे समझाते हुए वे कहते हैं कि तेरे प्राण क्षण में निकल जायेंगे, तो तेरी यह मिट्टी यहीं पड़ी रह जायेगी। अतः अन्त.कपाट खोल ले और मन को वश में कर ले।[3] संसारी जीव अनंतकाल से संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगा रहा है। उत्पन्न होने से मरने तक दुःखदाह में जलता रहता है। भक्त कवि द्यानतराय को माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि सभी स्वार्थांध दिखाई देते हैं। शरीर का रतिभाव कवि को और भी विरागता की ओर जाने को बाध्य करता है। इसलिए इससे दूर होने के लिए वे ब्रह्मज्ञान का अनुभव आवश्यक मानते हैं। यही उनके लिए कल्याण का मार्ग है।[4] इसी संदर्भ में भैया भगवतीदास ने चौपट के खेल में संसार का चित्रण प्रस्तुत किया है........चौपट के खेल में तमासौ एक नयो दीसै, जगत की रीति सब याही में बनाई है।[5]

यह संसार की विचित्रता है। किसी के घर मंगल के दीप जलते है, उनकी आशायें पूरी होती हैं, पर कोई अंधेरे में रहता है, इष्ट वियोग से रुदन करता है, निराशा उसके घर में छायी रहती है। कोई सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनता, घोड़ों पर दौड़ता है पर किसी को तन ढांकने के लिए भी कपड़े नहीं मिलते। जिसे

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 102.
2. वही, पृ. 130, 133.
3. जिया जग धोखे की टाटी........वही, पृ. 211.
4. ब्रह्मविलास, सुपथकुपथपचीसिका, 10, पृ. 181.
5. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 154.

प्रातःकाल राजा के रूप में देखा वही दोपहर में जंगल की ओर जाता दिखाई देता है। जल के बबूले के समान यह संसार अस्थिर और क्षणभंगुर है। इस पर दर्प करने की क्या आवश्यकता ?[1] वह तो रात्रि का स्वप्न जैसा है, पावक में तृणपूल-सा है, काल-कुदाल लिए शिर पर खड़ा है, मोह पिशाच ने मतिहरण किया है।[2]

संसारी जीव द्रव्यार्जन में अच्छे बुरे सभी प्रकार के साधन अपनाता, मकान आदि खड़ा करता, पुत्र-पुत्री आदि के विषय में बहुत कुछ सोचता पर इसी बीच यदि यमराज की पुकार हो उठी तो 'रूपी शतरंज की बाजी' सी सब कुछ वस्तुयें यों ही पड़ी रह जाती, उस धन-धान्य का क्या उपयोग होता ?

> चाहत है धन होय किसी विध, तो सब काज सरें जियरा जी।
> गेह चिनाय करूं गहना कछु, ब्याहि सुता सुत बांटिये भाजी ।।
> चिन्तत यौं दिन जाहिं चले, जम आनि अचानक देत दगाजी ।
> खेलत खेल खिलारि गयें, रहि जाइरूपी शतरंज की बाजी ।।

जिनके पास धन है वे भी दुःखी हैं, जिनके पास धन नहीं है वे भी तृष्णावश दुःखी हैं। कोई धन-त्यागी होने पर भी सुख-लालची हैं, कोई उसका उपयोग करने पर दुःखी है। कोई बिना उपयोग किये ही दुखी है। सच तो यह है कि इस संसार मे कोई भी व्यक्ति सुखी नहीं दिखाई देता।[3] वह तो सांसारिक वासनाओं में लगा रहता है।[4]

पांडे जिनदास ने जीव को माली और भव को वृक्ष मानकर मालीरासो नामक एक रूपक रचा। इस भव-वृक्ष के फल विषयजन्य हैं। उसके फल मरणान्तक होते है। 'माली वरज्यो हो ना रहै, फल की भूष।[5]

सुन्दरदास के लिए यह आश्चर्य की बात लगी कि एक जीव संसार का आनन्द भी लूटना चाहता है और दूसरी ओर मोक्ष सुख भी। पर यह कैसे सम्भव है ? पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्र के पार कैसे जाया जा सकता है ? कृपाणों की शय्या से विश्राम कैसे मिल सकता है :—

---

1. वही, पृ. 157.
2. जैनशतक, भूधरदास, 32–33, छहढाला–बुधजन प्रथमढाल, ।
3. मनमोदनपंचशती, 216, हिन्दी पद संग्रह, पृ. 239, पृ. 194, पृ. 252, पृ. 211.
4. पाण्डे रूपचन्द, गीतपरमार्थी, परमार्थ जकड़ी संग्रह, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई.
5. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 128.

'पाथर की करि नाव पार-दधि उतरबौ चाहै,
काग उड़ावनि काज मूढ़ चिन्तामणि बाहै।
बसै छांह बादल तणी रचै धूम के धूम,
करि कृपाण सेज्या रमै ते क्यों पावै विसराम ॥'[1]

विनयविजय संसारी प्राणियों की ममता प्रवृत्ति को देखकर भावुक हो उठते हैं और कह उठते हैं—'मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीव अकुलाय' ये पदार्थ जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर हैं। उनसे तू क्यों ललचाता है ? माया के विकल्पों ने तेरी आत्मा के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित कर लिया है। मृगतृष्णा और अतृप्ति के कांटों से पड़े रहकर दुःख भोग रहा है। उसे ज्ञान-कुसुमों की शय्या को प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ ही नहीं। स्वयं में रहने वाले सुधा-सरोवर को देखा नहीं जिसमें स्नान करने से सभी दुःख दूर हो जाते हैं।[2]

कविवर दौलतराम का हृदय संसार की विनश्वरता को देखकर करुणार्द्र हो जाता है और कह उठता है कि अरे विद्वन् ! तुम इस 'संसार' मे रमण मत करो। यह संसार केले के तने के समान असार है। फिर भी हम उसमें आसक्त हो जाते हैं क्योंकि मोह के इन्द्रजाल मे हम जकड़े हुए हैं। फलतः चतुर्गतियों में जन्म-मरण के दु.ख भोग रहे हैं। इस दुःख को अधिक व्यक्त करने के लिए कवि ने पारिवारिक सम्बन्धों की अनित्यता का सुन्दर-चित्रण किया है। उन्होंने कहा कि कभी जो अपनी पत्नी थी वह माता बन जाती है, माता पत्नी बन जाती है, पुत्र पिता बन जाता है, पुत्री सास बन जाती है। इतना ही नहीं, जीव स्वयं का पुत्र बन जाता है। इसके अतिरिक्त उसने नरक पर्याय के घोर दुःखों को सहा है जिसका कोई अन्त नहीं रहा। उसे सुख वहां है कहां ! रे विद्वन् ! सुर और मनुष्य की प्रचुर विषय लिप्सा से भी तुम परिचित हो तो बताओ, कौन-सा संसारी जीव सुखी है। संसार की क्षणभंगुरता को भी तुमने परखा है। वहां महान् ऐश्वर्य और समृद्धि क्षण भर में नष्ट हो जाती है। इन्द्र जैसा ऐश्वर्यशाली तो जीव भी कुक्कुर हो जाता है, नृप कृमि बन जाता है, धन सम्पन्न भिखारी बन जाता है और तो क्या ! जो माता पुत्र के वियोग में मरकर व्याघ्रिणी बनी, उसी ने अपने पुत्र के शरीर के खण्ड-खण्ड कर दिये। कवि उनसे फिर कहता है कि मनुष्य को बाल्यावस्था में हिताहित का

1. वही, पृ. 163, मंदिर ठोलियान, जयपुर का गुटका नं. 110, पृ. 120 पद्य 5 वां।
2. जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 295.

ज्ञान नहीं रहता और तरुणावस्था में हृदय कामग्नि से दहकता रहता है तथा वृद्धावस्था में अंग-प्रत्यंग विकल हो जाते हैं, तब बताओ, संसार में कौन-सी दशा सुखदायी है ? अन्त में कवि अनुभूतिपूर्ण शब्दों में कहता है, रे विद्वन्, संसार की इसी असारता को देखकर अन्य लोग मोक्ष मार्ग के अनुगामी बने। तुम भी यदि कर्मों से मुक्ति चाहते हो तो इस क्षणिक संसार से विरक्त हो जाओ और जिनराज के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दो—

मत राचौ धी-धारी।
भंवरभ्रमरसर जानके, मत राचौ धी-धारी ॥
इन्द्रजाल को ख्याल मोह ठग विभ्रम पास पसारी।
चहुंगति विपतिमयी जामें जन, भ्रमत भरत दुख भारी ॥
रामा मा, मा बामा, सुत पितु, सुता श्वसा, अवतारी।
को अचंभ जहाँ आप आपके पुत्रदशा विस्तारी ॥
घोर नरक दुख और न घोर न लेश न सुख विस्तारी ॥
सुर नर प्रचुर विषय जुरजारे, को सुखिया संसारी ॥
मंडल है अखंडल छिन में, नृप कृमि, सघन भिखारी।
जा सुत-विरह मरी है वाघिनि, ता सुत देह विदारी ॥
शिशु न हिताहित ज्ञान, तरु उर मदन दहन परजारी।
वृद्ध भये विकलंगी थाये, कौन दशा सुखकारी ॥
यों असार लख छार भव्य झट गये मोख-मग चारी।
यातैं होहु उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी ॥

संसार का सुन्दर चित्रण जैन कथा साहित्य में मधुबिन्दु कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। एक व्यक्ति घनघोर जंगल में भूल गया। वह भयभीत होकर भटकता रहा। इतने में एक गज उसकी ओर दौड़ता दिखाई दिया। उसके भय से वह समीपवर्ती कुए में कूद पड़ा। कुए के किनारे लगे वटवृक्ष की शाखा को कूदते समय पकड़ लिया। उसमें मधुबिन्दुओं का छाता लगा हुआ था। उसकी बूंदों में उसकी आसक्ति पैदा हो गई। कूप के निम्न भाग में चार विकराल अजगर मुँह फैलाये उस व्यक्ति की ओर निहार रहे थे। इधर हाथी अपनी सूड़ से वृक्ष शाखा को झकझोर रहा था और जिस शाखा से वह लटका था उसे एक चूहा काट रहा था। मधुमक्खियां भी उस पर आक्रमण कर रही थीं। इस कथा में संसार महावन है, भवभ्रमण कूप के समान है, गज यम है, मधुमक्खियों का काटना रोगादि का आक्रमण है, अजगर का कूप में होना निगोद का प्रतीक है, चार अज-

गर चतुर्गति के प्रतीक हैं, मधुबिन्दु सांसारिक सुखाभास है। कविवर भगवतीदास ने भी इसी कथा का आधार लेकर संसार का चित्रण किया है।[1]

कवि बूचराज ने ससार को टोड (व्यापारियों का चलता हुआ समूह) कहा है और अपने टंडाणागीत में परिवार के स्वार्थ का सुन्दर चित्रण किया है :-

'मात पिता सुत सजन सरीर दुहु सब लोग विराणावे।
इयण पंख जिम तरुवर वासे दसहुं दिशा उडाणावे।।
विषय स्वारथ सब जग वंछै करि करि बुधि बिनाणावे।
छोडि समाधि महारस नूपम मधुर बिन्दु लपटाणावे।।'[2]

संसार के इस चित्रण में कवि साधकों ने एक ओर जहां संसार की विषय वासना मे आसक्त जीवों की मन:स्थिति को स्पष्ट किया है वहीं दूसरी ओर उससे विरक्त हो जाने का उपदेश भी दिया है। इन दोनों के समन्वित चित्रण में साधक टूटने से बच गया। उसका चिन्तन स्वानुभूति के निर्मल जल से निखरकर आगे बढ़ गया। जैन कवियों के चित्रण की यही विशेषता है।

2 शरीर से ममत्व

रहस्य साधकों के लिए संसार के समान शरीर भी एक चिन्तन का विषय रहा है। उसे उन्होने समीप से देखा और पाया कि वह भी संसार के हर पदार्थ के समान वह भी नष्ट होने वाला है। समय अथवा अवस्था के अनुसार वह लीन होता चला जाता है। अध्यात्म रसिक भूधर कवि ने शरीर को चरखा का रूप देकर उसकी यथार्थ स्थिति का चित्रण किया है। इस सन्दर्भ में मोह-मग्न व्यक्ति को सम्बोधते हुए वे कहते हैं कि शरीर रूपी चरखा जीर्ण-शीर्ण हो गया। उससे अब कोई काम नही लिया जा सकता। वह आगे बढ़ता ही नहीं। उसके पैर रूप दोनों खूंटे हिलने लगे, फेफड़ों में से कफ की घर्र-घर्र आवाज आने लगी जैसे पुराने चरखे से आती है, उसे मनमाना चलाया नहीं जा सकता। रसना रूप तकली लड़खड़ा गयी, शब्द रूप सूत से सुधा नही निकलती, जल्दी-जल्दी शब्द रूप सूत टूट जाता है। आयु रूप माल का भी कोई विश्वास नहीं, वह कब टूट जाय, विविध औषधियां देकर उसे प्रतिदिन स्वस्थ रखने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी मरम्मत की जाती है,

---

1. ब्रह्मविलास, मधुबिन्दुक चौपाई; छीहल का पन्थी गीत भी देखिये जो जयपुर के दीवान बधीचन्द्रजी के मंदिर में, गुटका नं. 27, वेष्टन नं. 973 में सुरक्षित है।
2. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 100.

वैद्यों और मरम्मत करने वालों ने घुटने टेक दिये। जब तक शरीर रूप चरखा नया था तब तक सभी को वह प्रिय था। पर जैसे ही वह पुराना हुआ, उसका रंग-विरंग हुआ, तो अब उसे कोई देखना ही नहीं चाहता। इसलिए हे भाई, मिथ्या तत्त्व रूप मोटे धागे को महीन कर उसे सुलझा लो और सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न कर लो। उसका अन्त तो ईंधन में होना निश्चित ही है, बस, प्रातःकाल समझकर पूरे आत्मविश्वास के साथ सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

"चरखा चलता नाही (रे) चरखा हुआ पुराना (वे)॥
पग खूंटे दो हालन लागे, उर मदरा खखराना।
छीदी हुई पांखड़ी पांसू, फिरै नहीं मनमाना ॥1॥

रसना तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूटे।
शबद सूत सुधा नहीं निकसै, घड़ी-घड़ी पल टूटे ॥2॥

आयु माल का नहीं भरोसा, अंग चलाचल सारे।
रोज इलाज मरम्मत चाहै, वैद बाढ़ ही हारे ॥3॥

या चरखला रंगा चंगा, सबका चित्त चुरावै।
पलटा बरन गये गुन अगले, अब देखें नहीं भावै ॥4॥

मोटा मही काट कर भाई ! कर अपना सुरझेरा।
अन्त आग से ईंधन होगा, भूधर समझ सबेरा ॥5॥[1]

छीटल कवि ने उदरगीत में जीव की तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया है। बाल्यावस्था में वह नव-दस माह अत्यन्त कष्ट पूर्वक गर्भावस्था में रहता है, बाल्यावस्था अज्ञान में चली जाती है, युवावस्था इन्द्रियवासना में निकल जाती है और वृद्धावस्था में इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं। सारा जीवन यों ही चला जाता है–

'उदर उदधि में दस मासाह रह्यो।'

'जरा बुढ़ापा वैरी आइओ, सुधि-बुधि नाही जब पछिताइयो।[2]

ऐसे शरीर से ममत्व हटाने के लिए भूधर कवि ने शरीर के सौन्दर्य और बल पर अभिमान करने वाले मोही व्यक्ति से कहा कि अब तो वृद्धावस्था आ गई, भाई ! कुछ तो सचेत हो जाओ। श्रवण शक्ति कम हो गई, पैरों में चलने की शक्ति न होने से वे लड़खड़ाने लगे। शरीर यष्टि के समान पतला हो गया, भूख कम होने

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 152, भूधर पद संग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता।
2. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृष्ठ 105 उदरगीत, दीवान बधीचन्द्रजी का मंदिर, जयपुर गुटका नं. 27, वेष्टन नं. 973.

लगी, आंखों में पानी गिरने लगा, दांतों की पंक्ति टूट गई, हड्डियों के जोड़ उखड़ने लगे, केशों का रंग बदल गया, शरीर में रोग ने घेरा डाल दिया, पुत्रादि सम्बन्धी उस दुःख को बांट नहीं सकते, तब और कौन बांट सकेगा ? इसलिए रे प्राणी, अब तो कम से कम अपना हित कर लें। यदि अभी भी सचेत नहीं हुआ तो फिर कब होगा। पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा।[1]

'आयो रे बुढ़ापा मानी, सुधि बुधि बिसरानी ।।'

भैया भगवती दास को यह शरीर सप्त धातु से निर्मित महादुर्गन्ध से परिपूर्ण दिखाई देता है। इसलिए उन्हें आश्चर्य होता है कि कोई उसमें आसक्त क्यों हो जाता है।[2] कवि भूधरदास को भी यह आश्चर्य का विषय बना कि किसी को इस शरीर से घृणा क्यों नहीं होती—'देह दशा यहै दिखित भ्रात, घिनात नहीं किन बुद्धि हारी है।'[3]

यह शरीर सभी प्रकार के अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। इसलिए दौलतराम कहते हैं कि इस शरीर को घिनौनी और जड़ जानकर उससे मोह मत करो :—

'मत कीज्यो जी यारी, घिनगेह देह जड़ जान के।
मात पिता रज वीरजसौं यह, उपजी मलफुलवारी।
अस्थिमाल पलनसा जालकी, लाल लाल जलक्यारी ।।[4]

भैया भगवतीदास कहते हैं कि ऐसे घिनौने अशुद्ध शरीर को शुद्ध कैसे किया जा सकता है ?[5] शरीर के लिए भोजन कुछ भी दो पर उससे रुधिर, मांस, अस्थियां आदि ही उत्पन्न होती हैं। इतने पर भी वह क्षणभंगुर बना रहता है। पर अज्ञानी मोही व्यक्ति उसे यथार्थ मानता है। ऐसी मिथ्या बातों को वह सत्य समझ लेता है।[6]

पं. दौलतराम शरीर के प्रति मानव के राग को देखकर अत्यन्त व्यथित हो जाते हैं और कह उठते हैं हे मूढ, इससे ममत्व क्यों करता है। यह शरद मेघ और जलबुदबुद के समान क्षणभंगुर है। अतः आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान कर,

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 15१, बनारसीविलास, प्रास्ताविक फुटकर कविता, 12.
2. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, 46, पृ. 18.
3. जैनशतक, 20, पृ. 9.
4. दौलत जैन पद संग्रह, पृ. 11. पद 17वां।
5. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, 103.
6. ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति 1.

शाश्वत सुख को प्राप्त करो ।[1] एक पद में वे कहते हैं कि रे मूर्ख, तुम अपना मिथ्या-ज्ञान छोड़ो । व्यर्थ में शरीर से ममत्व जोड़ लिया है । यह शरीर तुम्हारा नहीं है जिसे तुम अनादिकाल से अपना मानकर पोषण कर रहे हो । यह तो सभी प्रकार के मलों-दोषों का थैला है । इससे ममत्व रखने के कारण ही तुम अनादिकाल से कर्मों से बंधे हुए हो और दुःखों को भोग रहे हो । पुनः समझाते हुए कवि कहता है, यह शरीर जड़ है, तू चेतन है । जड़ और चेतन, दोनों पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखने वाले पदार्थों को तुम एक क्यों करना चाहते हो । यह सम्भव भी नहीं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र ये तीनों तुम्हारी सम्पत्ति हैं । इसलिए सांसारिक पदार्थों से मोह छोड़कर तुम उस अजर-अमर सम्पदा को प्राप्त करो और शिव-गौरी के साथ सुख भोग करो । शरीर से राग छोड़े बिना वह मिल नहीं सकता । जिन्होंने यह शरीर-राग छोड़ दिया उन्हीं से तुम्हारी ममता होनी चाहिए । इसी ज्ञानामृत का तुम पान करो ताकि पर पदार्थों से तुम्हारा ममत्व छूट सके :—

छांडि दे या बुधि भोरी, वृथा तन से रति जोरी ।
यह पर है, न रहै थिर पोषत, तकल कुमल की झोरी ॥
यासौं ममता कर अनादि तैं, बंधौ करम की डोरी ।
सहै दुख जलधि-हिलोरी ॥1॥
यह जड है, तू चेतन, यौं ही अपनावत बरजोरी ।
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरन निधि ये हैं संपति तोरी ॥
सदा विलसो शिव-गोरी ॥2॥
सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासौं ममता तोरी ।
'दौल' सीख यह लीजो, पीजे ज्ञान-पियूष कटोरी ॥
मिटै पर चाह कठोरी ॥3॥[2]

विनयविजय ने शरीर की नश्वरता और प्रकृति को देखकर उसे एक रूपक के माध्यम से प्रस्तुत किया है । शरीर घोड़ा है और आत्मा सवार । घोड़ा चरने में माहिर है पर कूंद होने में डरता है । कितना भी अच्छा-अच्छा खाये पर जीन कसने पर बहकने लगता है । कितना भी पैसा खर्च करो, संवारी के समय सवार को कहीं जंगल में गिरा देगा । क्षण भर में भूखा होता है, क्षण भर में प्यासा । सेवा तो बहुत कराता है, पर तदनुरूप उसका उपयोग नहीं हो पाता । उसे रास्ते पर लाने के लिए चाबुक की आवश्यकता होती है । उसके बिना संसार से पार नहीं हुआ जा सकता :—

---

1. दौलत जैन पद संग्रह, 17.
2. अध्यात्म पदावली, पद 4, पृ. 340.

'घोरा झूठा है रे तू मत भूले असवारा।
तोहि सुधा ये लागत प्यारा, अंत होयगा न्यारा॥
चरै चीज और डरै कैद सो, अवट चलै अटारा।
जीन कसै तब सोया चाहै, खाने को होशियारा॥
खूब खजाना खरच खिलाओ, यों सब न्यामत चारा।
असवारी का अवसर आवै, गलिया होय गंवारा॥
छिनु ताता छिनु प्यासा होवै, खिदमत बहुत करावन हारा।
दौर दूर जंगल में डारै, झूरे धनी विचारा॥
करहु चौकड़ा चातुर चौकस, धौ चाबुक दो चारा।
इस घोरे को विनय सिखावो, ज्यों पावो भवपारा॥[1]

बुधजन शरीर की नश्वरता का भान करते हुए शुद्ध स्वभाव चिदानंद चैतन्य अवस्था में स्थिर होने का संदेश देते हैं–'तन देख्या अस्थिर घिनावना।········ बुधजन तनतैं ममत मेटना चिदानंद पद धारना (बुधजनविलास, पद 116)। मृत्यु अवश्यंभावी है। उसके आने पर कोई भी अपने आपको बचा नही पाता, इसलिए उससे भयभीत होने की आवश्यकता नही बल्कि आत्मचिंतन करके जन्म-मरण के दुःखो से मुक्त हो जाना ही श्रेयस्कर है— "काल अचानक ही ले जायेगा, गाफिल होकर रहना क्या रे! छिन हूँ तोको नाहि बचावै तो सुभटन को रखना क्या रे" (बुधजन विलास, पद 5)।

शरीर की इस नश्वरता का आभास साधक प्रतिपल करता है और साधनात्मक प्रवृत्ति मे शुद्ध स्वभावी चैतन्य की भावना भाता है। मृत्यु एक अटल तथ्य है जिसमें शरीर भग्न हो जाता है मात्र स्वस्थ चेतन रह जाता है।

3. कर्मजाल

प्रत्येक व्यक्ति अथवा साधक के सुख-दुःख का कारण उसके स्वयंकृत कर्म हुआ करते हैं। भारतीय धर्म साधनाओं में चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी विचारकों ने कर्म को संसार में जन्म मरण का कारण ठहराया है। यह कर्म परम्परा जीव के साथ अनादिकाल से जुड़ी हुई है। जैन चिन्तकों ने ईश्वर के स्थान पर कर्म को संस्थापित किया है। तदनुसार स्वयंकृत कर्मों का भोक्ता जीव स्वयं ही होता है, चाहे वे शुभ हों या अशुभ। इसलिए जन्म-परम्परा तथा सुख-दुःख की असमानता में ईश्वर का कोई रोल यहां स्वीकार नहीं किया गया। जीव फल भोगने में जितना परतंत्र है उतना ही नवीन कर्मों के उपार्जन करने में स्वतन्त्र भी है।

---

1. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 294.

प्राचीन भारतीय साहित्य के देखने से ऐसा लगता है कि उस समय कर्म के समकक्ष अनेक सिद्धान्त खड़े कर दिये गये थे। उस समय कोई काल को विश्व का नियन्त्रक मानता था तो कोई स्वभाव को, कोई नियति को अपनाता था तो कोई यदृच्छा को, किसी का ध्यान भूतों पर जाता था तो किसी का ईश्वर पर, कोई अपने आपको दैव के हाथ दे देता था तो कोई पुरुषार्थ को पकड़ता था। इन सभी वादों ने एकान्तिक दृष्टिकोण से विचार कर कर्म सिद्धान्त के स्थान पर स्वयं को आसीन कर लिया। परन्तु जैनदर्शन में इन सभी को समन्वित रूप में स्वीकार किया गया है। तदनुसार सभी कारण मिलकर ही कार्य की निष्पत्ति करते हैं। इसी को सम्यक् धारणा कहा जाता है।[1]

कर्मों का अस्तित्व, सुख-दुःख के वैविध्य, नवीन शरीर धारण करने की प्रक्रिया तथा दानादिक क्रियाओं के फल में स्पष्टतः दिखाई देता है। समान साधन होने पर भी फल का तारतम्य अदृष्ट कर्म का ही परिणाम है। कर्म को जैन धर्म में मूर्तिक अथवा पौद्गलिक माना गया है और आत्मा को अमूर्तिक। अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। इसी प्रकार शरीर और कर्म का सम्बन्ध भी बीजांकुर के समान अनादिकालीन है और वह कार्यकारण भावात्मक है। हमारे मन-वचन-काय की प्रत्येक क्रिया अपना संस्कार आत्मा और कर्म अथवा कार्माण शरीर पर छोड़ती जाती है। यह संस्कार कार्माण शरीर से बंधता चला जाता है और उसका जब परिपाक हो जाता है तो बंधे कर्म के उदय से यह आत्मा स्वयं हीनावस्था में पहुंच जाती है। फलतः राग, द्वेष, मोह, अज्ञान मिथ्यात्व आदि विकारों से वह ग्रसित होता जाता है और वह अपने अनन्त ज्ञानादि रूप विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। पुराने कर्म निर्जरित होते जाते हैं और नये कर्म बंधते चले जाते हैं। आत्मा और कर्म की यही परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। शास्त्रीय परिभाषा में पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को द्रव्य कर्म और राग द्वेषादिक प्रवृत्तियों को भाव कर्म, और शरीर रूप कर्म को नोकर्म कहा गया है। बनारसीदास ने इसे एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। मान लीजिए जिस प्रकार कोठी में धान रखी है, धान के भीतर कण है तो उस धान को अलग कर कण को रख लेते हैं। इसमें कोठी के समान नोकर्ममल है। धान के समान द्रव्यकर्ममल है, भूसी के समान भावकर्ममल तथा कण के समान भगवान है।[2] पुद्गल के ये दो ही जाल हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। सहजशुद्ध चेतन भावकर्म की ओर

---

1. सन्मति तर्क प्रकरण, 3–53.
2. बनारसीविलास, अध्यातम बत्तीसी, 11–13.

बसता है और द्रव्य कर्म नोकर्म से बंधा पुद्गल पिण्ड है ।[1] भावकर्म के दो रूप हैं। ज्ञान और कर्म; ज्ञान चक्र चेतन के अन्तर में गुप्त और ज्ञानचक्र प्रत्यक्ष है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि चेतन के ये दोनों भाव शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष के समान हैं। ज्ञान के कारण चेतन सजग बना रहता है और कर्म के कारण मिथ्या-भ्रम में निद्रित रहता है। एक दर्शक है, दूसरा अथवा एक निर्जरा का कारण है, दूसरा बंध का ।[2]

जैन धर्म में कर्मों के आश्रव के कारण पांच माने गये हैं-मिथ्यात्व, अवि-रति (व्रताभाव), प्रमाद, कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) और योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति) ।[3] दान पुण्यादिक कार्य शुभ कर्म के कारण हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाप अथवा अशुभ बन्ध के कारण हैं। कर्मों का बन्ध चार प्रकार का होता है-प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाव बन्ध और प्रदेश बन्ध । प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का है-ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय । इन कर्मों के भेद प्रभेदादि की भी चर्चा जैन शास्त्रों के अनुसार मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने बड़ी गहराई और विस्तार से की है ।[4] उस गहराई तक हम नहीं जाना चाहेंगे । हम यहां मात्र यह कहना चाहते हैं कि इन कर्मों के कारण जीव संसार मे परिभ्रमण करता रहता है । जीव के सुख दुःख का प्रमुख कारण कर्म माना गया है । जिस प्रकार से तेज जल प्रवाह मे भंवर चक्कर लगाता रहता है और उसमें फंस जाने वाला मृत्यु का शिकार हो जाता है उसी प्रकार कर्म का विपाक हो जाने पर जीव संसार के जन्म-मरण के प्रवाह में विद्यमान कर्मरूप भंवर में फंस जाता है ।[5] जिस प्रकार ज्वार के प्रकोप से भोजन में कोई रुचि नहीं रहती उसी प्रकार कुकर्म अथवा अशुभकर्म के उदय से धर्म के क्षेत्र में उसे कोई उत्साह जाग्रत नहीं होता । जब तक जीव का सम्बन्ध जड़ अथवा कर्मों से रहता है तब तक उसे दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं—

"जब लगु मोती सीप महि तब लगु समु गुण जाइ ।
जब लगु जीयडा संगि जड, तब लग दूख सुहाइ ।।"[6]

---

1. बनारसी विलास, अध्यातम बत्तीसी 9-10.
2. वही पृ. 14.
3. स्थानांग 418. समवायांग 5.
4. बनारसी विलास कर्म प्रकृति विधान आदि
5. बनारसी विलास, मोक्ष पैठी, पृ. 18.
6. हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ. 99.

बख्तराम साह का जीव इन कर्मों से भयभीत हो गया। वह इन्हीं कर्मों के कारण पर-पदार्थों में आसक्त रहा और भव-भव के दुःख भोगे। कर्मों से अत्यन्त दुःखी होकर वे कहते हैं कि ये कर्म मेरा साथ एक पल मात्र को भी नहीं छोड़ते।[1] भैया भगवतीदास तो करुणार्द्र होकर कह उठते हैं, कि धुएं के समुदाय को देखर गर्व कौन करेगा क्योंकि पवन के चलते ही वह समाप्त हो जाने वाला है। सन्ध्या का रंग देखते-देखते जैसे विलीन हो जाता है, दीपक—पतंग जैसे काल-कवलित हो जाता है, स्वप्न मे जैसे कोई नृपति बन जाता है, इन्द्रधनुष जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, ओसबूंद जैसे धूप के निकलते ही सूख जाती है, उसी प्रकार कर्म जाल में फंसा मूढ जीव दुःखी बना रहता है।

'धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै, ये तो छिनमाहिं जांहि पौन परसत ही।
संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग, दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही॥
सुपने में भूप जैसें इन्द्र धनुरूप जैसें, ओस बूंद धूप जैसे दुरै दरसत ही।
ऐसोई भरम सब कर्म जालवर्गणा को, तामे मूढ मग्न होय मरै तरसत ही॥[2]

कर्म ही जीव को इधर से उधर त्रिभुवन में नचाता रहता है।[3] बुधजन 'हो विधना की मोपै कही तो न जाय। सुलट उलट उलटी सुलटा दे अदरस पुनि दरसाय।"[4] कहकर कर्म की प्रबलता का दिग्दर्शन करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि कर्मों की रेखा पाषाण रेखा-सी रहती है। वह किसी भी प्रकार टाली नहीं जा सकती। त्रिभुवन का राजा रावण क्षण भर में नरक मे जा पड़ा। कृष्ण का छप्पन कोटि का परिवार वन में बिलखते-बिलखते मर गया। हनुमान की माता अंजना वन-वन रुदन करती रही, भरत बाहुबलि के बीच घनघोर युद्ध हुआ, राम और लक्ष्मण ने सीता के साथ वनवास झेला, महासती सीता को दधकती आग में कूदना पड़ा, महाबली पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी का चीर हरण किया गया, कृष्ण रुक्मणी का पुत्र प्रद्युम्न देवों द्वारा हर लिया गया। ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं जो कर्मों की गाथा गाते मिलते हैं।[5] अष्टकर्मों को नष्ट किये बिना संसार का आवागमन समाप्त नहीं होता। इस पर चिन्तन करते हुए शरीरान्त हो जाने के बाद की कल्पना करता है और कहता है कि अब वे हमारे पाचो किसान (इन्द्रियाँ) कहां गये। उनको खूब खिलाया पिलाया, पर वह सब निष्फल हो गया। चेतन अलग हो गया और इन्द्रियाँ अलग हो गई। ऐसी स्थिति मे उससे मोहादि करने की क्या आवश्यकता? देखिये इसे कवि कलाकार ने कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 165.
2. ब्रह्मविलास, पुण्य पचीसिका, 17 पृ. 5, नाटक पचीसी 2 पृ. 23.
3. ब्रह्मविलास, अनित्यपचीसिका, 16 पृ. 175.
4. बुधजन विलास पद 73.
5. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 241. कर्मन की रेखा न्यारी से विधना टारी नाहिं टरै 1

कित गये पंच किसान हमारे। कित० ॥ टेक ॥
बोयो बीज खेत गयो निरफल, भर गये खाद पनारे।
कपटी लोगों से साझाकर,....हुए आप विचारे ॥1॥
आप दिवाना गह-गह बैठो लिख-लिख कागद डारे।
बाकी निकसी पकरे मुकद्दम, पांचों हो गये न्यारे ॥2॥
रुक गयो कंठ शब्द नहिं निकसत, हा हा कर्म सौं हारे।
'बनारसि' या नगर न बसिये, चल गये सींचन हारे ॥3॥[1]

संसार की असारता को देखते हुए कविवर भगवतीदास संसारी से अभिमान छोड़ने को कहते हैं—'छांडि दे अभिमान जियके छांडि दे।'[2] राजा रंक आदि कोई कभी स्थिर रूप से यहां नहीं रहे। तुम्हारे देखते-देखते कितने लोग आये और गये। एक क्षण के विषय में भी कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः चतुर्गति के भ्रमण में कारणभूत इन कर्मों को छोड़ने का प्रयत्न करो। पांडे रूपचन्द की आत्मा निजपद को भूलकर कर्मों के कारण संसार में जन्म मरण करने लगी। उसे तृष्णा की प्यास भी अधिक लगी—

विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय,
ज्यों जलखारा पीवतें, बाढे तृणाधिकाय।[3]

कनककीर्ति ने भी कर्म घटावली में अष्टकर्मों के प्रभाव को स्पष्ट किया है।[4] इस प्रभाव को साधक और गहराई से सोचता है कि वह किस प्रकार उसकी आत्मा के मूल गुणों का हनन करता है। भूधरदास "देख्या बीच जहान के स्वप्ने का अजेब तमाशा रे। एकों के घर मंगल गावें पूरी मन की आशा। एक वियोग मरे बहु रोवे भरि-भरि नैन निरासा" कहकर कर्म के स्वभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

6. मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का तात्पर्य है अज्ञान और अज्ञान का तात्पर्य है धर्म विशेष के सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करना। मिथ्यात्व, अज्ञान, अविद्या, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादृष्टि, आदि शब्द समानार्थक हैं। प्रत्येक धर्म और दर्शन ने इन शब्दों का प्रयोग

1. बनारसी विलास–पृ. 240.
2. ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति, 12. रूपचन्द "लसुन के पात्र कि बास कपूर की कपूर के पात्र कि लसुन की होइ" कहकर कर्म प्रकृति को स्पष्ट करते हैं।
3. परमार्थी दोहाशतक, जैनहितैषी, भाग 6, अंक 5–6; जैन सिद्धान्त भवन आरा में एक हस्तलिखित प्रति है।
4. कर्मघटावलि, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर, गुटका नं. 108.

लगभग समान अर्थों में लिया है। उनके विश्लेषण की प्रक्रिया भले ही पृथक् रही हो। इसलिए हर सम्प्रदाय के साहित्य में इसके भेद-प्रभेद अपने-अपने ढंग से किये गये हैं।[1]

जैन-साधना के क्षेत्र में मिथ्यात्व उस दृष्टि को कहा गया है जिसमें विशुद्धता न हो, पर पदार्थों में आसक्ति हो, एकान्तवादी का पक्षपाती हो, भेदविज्ञान जाग्रत न हुआ हो, कर्म के झकोरों से संसार में वैसा ही डोलता हो जैसे बघरूड़े में पड़ा पत्ता, क्रोधादि कषायों से ग्रसित हो, और क्षण भर मे सुखी और क्षण भर में दुःखी बन जाता हो।[2] माया, मिथ्या और शोक इन तीनों को शल्य कहा गया है। बालीभरा इन्हीं में उलझे रहते हैं। व्यक्ति इनके रहते विशुद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार लाल रंग के कारण से दूसरा पट भी लाल दिखाई देता है अथवा रुधिरादि से साफ करने पर कपड़ा सफेद नहीं रह सकता। उसी प्रकार मिथ्यात्व से आवृत रहने पर सम्यक् ज्ञानादिक गुणों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।[3] पुद्गल अथवा पदार्थों से मोह रखना तथा पुद्गल और आत्मा को एक रूप मानना यही मिथ्याभ्रम है। आत्मा जब पुद्गल की दशा को मानने लगता है तभी उसमें कर्म और विभाव उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाते हैं। परिग्रहादिक बढ़ जाते हैं। मदिरापान किये बन्दर को यदि बिच्छू काट जाय तो जिस प्रकार वह उत्पाद करता है उसी प्रकार मिथ्याज्ञानी भी आत्मज्ञानी न होने के कारण भटकता रहता है।

कर्म रूपी रोग की दो प्रकृतियां होती हैं। एक कम्पन और दूसरी ऐंठना। शास्त्रीय परिभाषा में इन दोनों को क्रमशः पाप और पुण्य कहा गया है। विशुद्धात्मा इन दोनों से शून्य रहता है।[4] पाप के समान पुण्य को भी जैन दर्शन में दुःख का कारण माना गया है क्योंकि वह भी एक प्रकार का राग है और राग मुक्ति का कारण हो नही सकता। यह अवश्य है कि दानपूजादिक शुभ भाव हैं जो शुद्धोपयोग को प्राप्त कराने में सहयोगी होते हैं। इसलिए बनारसीदास ने पुण्य को भी 'रोग' रूप मान लिया है। पाप से तपादिक रोग, चिन्ता, दुःख आदि उत्पन्न होते हैं और पुण्य से संसार बढ़ाने वाले विषयभोगों की वृद्धि, आर्त्त-रौद्रादि ध्यान उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्वी इन दोनों को समान मानता है, कम्पन रोग से भय करता है और ऐंठन से प्रीति। एक में उद्वेग होता है और दूसरे में उपशान्ति। एक में कच्छप जैसा

---

1. विशेष देखिए, डा. भागचन्द्र जैन, बौद्ध संस्कृति का इतिहास, प्रथम अध्याय
2. बनारसी विलास, ज्ञानबावनी, 5, नाटक समयसार, उत्थानिका, 9.
   भूधर विलास, पद 9.
3. बनारसी विलास, मोक्ष पैंठी 9.
4. वही, कर्म छत्तीसी.

संकोच, तुरग जैसी वक्रचाल और, अन्धकार जैसा समय रहता है और दूसरे में बकरकुंद-सी उमंग, जकरबन्द जैसी चाल तथा मकरचांदनी जैसा प्रकाश होता है। तम और उद्योत ये दोनों पुद्गल की पर्याय हैं पर मिथ्या आत्मा उनमें भेदविज्ञान पैदा नहीं होता इसलिए संसार में भटकते रहते हैं। दोनों दशायें विनाश होने वाली हैं। कोई पर्वत से गिरकर मरता है तो कोई कूप से। मरण दोनों का एक है, रूप विविध भले ही हों। दोनों के माता-पिता क्रमशः वेदनीय और मोहनीय हैं। उन्हीं से वे बन्धे हुए हैं। शृंखला एक ही है चाहे वह लोहे की हो अथवा स्वर्ण की हो। जिसकी चित्त दशा जैसी होगी उसकी दृष्टि वैसी ही होगी। इसलिए ज्ञानी संसार चक्र को समाप्त कर देता है पर मिथ्यात्वी उसे और भी बढ़ा लेता है।[1]

पुण्य-पाप दोनों संसार भ्रमण के बीज हैं। इन्हीं के कारण इन्द्रियों को सुख-दुःख मिलता है। भैया भगवतीदास ने इसलिए इन दोनों को त्यागने का उपदेश दिया है। अजरामर पद प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है।[2] बनारसीदास ने इसे नाटक समयसार के पुण्यपाप एकत्वद्वार में इस तत्त्व पर विशद प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है—जैसे किसी चांडालनी के दो पुत्र हुए, उनमें से उसने एक पुत्र ब्राह्मण को दिया और एक अपने घर में रक्खा। जो ब्राह्मण को दिया वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य-मांस भक्षण का त्यागी हुआ। जो घर में रहा वह चाण्डाल कहलाया तथा मद्य-मांसभक्षी हुआ। उसी प्रकार एक वेदनीय कर्म के पाप और पुण्य भिन्न-भिन्न नाम वाले दो पुत्र हैं, वे दोनों संसार में भटकाते हैं। और दोनों बंध-परम्परा को बढ़ाते हैं। इससे ज्ञानी लोग दोनों की ही अभिलाषा नहीं करते।

जैसें काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयो बांमन कै एक घर राख्यो है।
बांमन कहायौ तिनि मद्य-मांस त्याग कीनौ,
चांडाल कहायौ तिनि मद्य-मांस चाख्यौ है।।
तैसें एक वेदनी करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहूं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबन्धरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है।।[3]

बनारसीदास ने नाटक समय-सार में एक रूपक के माध्यम से मिथ्यात्व को समझाने का प्रयत्न किया है। शरीररूपी महल में कर्मरूपी भारी पलंग है, माया की शय्या सजी हुई है, संकल्प विकल्प की चादर तनी हुई है। चेतना अपने स्वरूप

1. बनारसी विलास, कर्मछत्तीसी, 1–37.
2. ब्रह्मविलास, अनादि बत्तीसिका, पृ. 220.
3. नाटक समयसार, पृ. 96.

को भूला हुआ निद्रा की गोद में पड़ा हुआ है, मोह के झकोरों से नेत्रों के पलक ढंक रहे हैं, कर्मोदय से तीव्र घुरकने की आवाज हो रही है, विषय सुख की खोज में भटकना स्वप्न है, ऐसी अज्ञानावस्था में आत्मा सदा मग्न होकर मिथ्यात्व में भटकता फिरता है, परन्तु अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखता—

काया चित्रसारी में करम परजंक भारी,
माया की संवारी सेज चादरि कलपना।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लियें,
मोह की मरोट यहै लोचन को ढपना ।।
उदै बल जोर यहै श्वासकौ सबद घोर,
विषै-सुख कारज की दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ दसा मैं मगन रहै तिहुंकाल,
धावै भ्रम जाल मैं न पावै रूप अपना ।।[1]

मिथ्याज्ञानी तत्त्व को समझ नहीं पाता। उसका ज्ञान वैसा ही दबा रहता है जैसा मेघघटा में चन्द्र। वह सद्गुरु का उपदेश नहीं सुनता, तीनों अवस्थाओं में निर्द्वन्द होकर घूमता रहता है। मणि और कांच मे उसे कोई अन्तर नहीं दिखता। सत्य और असत्य का उसे कोई भेदज्ञान भी नहीं है। तथ्य तो यह है कि मणि की परख जौहरी ही कर सकता है। सत्य का ज्ञान ज्ञानी को ही हो सकता है। कलाकार बनारसीदास ने इसी बात को कितने मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है—

"रूप की न झांक हिये करम को डांक पिये,
ज्ञान दबि रह्यो मिरगांक जैसे घन में।
लोचन की ढांक सो न माने सद्गुरु हांक,
डोले मूढ़ रंग सो निशंक निहूंपन में ।।"[2]

मिथ्यात्व के उदय से विषयभोगों की ओर मन दौड़ता है। वे सुहावने लगते है। राग के बिना भोग काले नाग के समान प्रतीत होते हैं। राग से ही समूचे शरीर का संवर्धन होता है और समूचे मिथ्या संसार को सम्यक् मानने लगता है। इसलिए कविवर भूधरदास ने रागी और विरागी के बीच अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह अन्तर वैसे ही है जैसे बेंगन किसी को पथ्य होता है और किसी को वायुवर्धक होता है।[3] मिथ्याज्ञानी स्वयं को चतुर और दूसरे को मूढ़ मानता

1. नाटक समयसार, निर्जराद्वार 14, पृ. 138.
2. बनारसीविलास, अध्यात्मपद पंक्ति, 5, पृ. 224.
3. रागीबिरागी के विचार में बडोई भेद, जैसे 'भटा पचकाहूं काहू को बयारे हैं।' जैन शतक, 18

है। सायंकाल को प्रातःकाल मानता है, शरीर को ही सब कुछ मानकर अन्धेरे में बना रहता है। कविवर भावुक होकर इसीलिए कह उठते हैं कि रे अज्ञानी, पाप धतूरा मत बो। उसके फल मृत्युवाहक होंगे। किंचित् भौतिक सुख-प्राप्ति की लालसा में तू अपना यह नरजन्म क्यों व्यर्थ खोता है ? इस समय तो धर्म-कल्पवृक्ष का सिंचन करना चाहिए। यदि तुम विष बोते हो तो तुमसे अभागा और कौन हो सकता है। संसार में सबसे अधिक दुःखदायक फल इसी वृक्ष के होते हैं अतः भोंदु मत बन।

> अज्ञानी पाप धतूरा न बोय।
> फल चाखन की बार भरे द्रग, मरहै मूरख रोय ।।[1]

वख्तराम का चेतन भी ऐसा ही भोंदु बन गया। वह सब कुछ भूलकर मिथ्या संसार को यथार्थ मानकर बैठ गया।[2] धर्म क्या है, यह मिथ्याज्ञानी समझ नहीं पाता। अहर्निश विषय भोगों में रमता है और उसी को सुकृत मानता है। देव-कुदेव, साधु-कुसाधु, धर्म-कुधर्म आदि में उसे कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। मोह की निद्रा में वह अनादिकाल से सो रहा है। राग-द्वेष के साथ मिथ्यात्व के रंग में रच गया है, विषयवासना में फंस गया है।[3] चेतन कर्म चरित्र में भैया भगवतीदास ने इसकी बड़ी सुन्दर मीमांसा की है। मिथ्यात्व विध्वंसन चतुर्दशी में उन्होंने मिथ्यात्व को स्पष्ट किया है। मिथ्यात्व के कारण ही अनादिकाल से यह अशुद्धता बनी हुई है। मोक्षपथ रुका हुआ है, साकट पर संकट सहे गये हैं। फिर भी चेतन उससे मुक्त नहीं हो रहा। मोह के दूर होने से राग-द्वेष दूर होंगे, कर्म की उपाधि नष्ट होगी और चिदानन्द अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर सकेगा। अन्यथा मिथ्यात्व के कारण ही वह चतुर्गति मे भ्रमण करता रहेगा। जब तक मिथ्यात्व है जब तक भ्रम रहेगा और जब तक भ्रम है तब तक कर्मों से मुक्ति नहीं मिल सकती और न ही सम्यग्ज्ञान हो सकता है।[4]

मिथ्याज्ञान के कारण स्वपरविवेक जाग्रत नहीं हो पाता।[5] पूर्वावस्था में तो विषय भोगों में रमण करता है पर जब वृद्धावस्था आती है तो रुदन करता है। क्रोधादिक कषायों के वशीभूत होकर निगोद का बन्ध करता है। सारे जीवन भर गांठ की कमाई खाता है, एक कौड़ी की भी नई कमाई नहीं करता। इससे अधिक

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 166.
2. वही, पृ. 166.
3. ब्रह्मविलास, शत अष्टोतरी,
4. ब्रह्मविलास, मिथ्यात्व विध्वंसन चतुर्दशी, 7-12.
5. ब्रह्मविलास, उपदेशपचीसिका, 20.

मूढ़ और कौन हो सकता है ?[1] वह चेतन-अचेतन की हिंसा करता रहा, भक्ष्य-अभक्ष्य खाता रहा, सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानता रहा, वस्तु के स्वभाव को नहीं पहचाना, मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड को धर्म मानता रहा तथा कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन करता रहा ।[2] मोह के भ्रम से राग-द्वेष में डूबा रहा ।[3] मोह के परिणाम स्वरूप जीव में राग-द्वेष उत्पन्न होता है । राग-द्वेष उसका मूल स्वभाव नहीं । रागादिक के रंग से स्फटिक मणि जैसा विशुद्ध चेतन भी रंगीला दिखाई देने लगता है । यह रंगीला भाव मिथ्यात्व है ।[4] मिथ्यात्व से ही वह काया माया को स्थिर मानकर उसमें आसक्त रहता है ।[5] लोभी बनकर इच्छाओं की दावानल में भुलसता रहता है ।[6] जीव और पुद्गल के भेद को न समझकर अज्ञानी बना रहता है ।[7]

कविवर द्यानतराय मिथ्याज्ञानी की स्थिति देखकर पूछ उठते हैं कि हे आत्मन्, यह मिथ्यात्व तुमने कहां से प्राप्त किया ? सारा संसार स्वार्थ की ओर निहारता है पर तुम्हें अपना स्वार्थ स्वकल्याण नहीं रुचा । इस अपवित्र, अचेतन देह में तुम कैसे मोहासक्त हो गये ? अपना परम अतीन्द्रिय शाश्वत सुख छोड़कर इन्द्रियों की विषय-वासना में तन्मय हो रहे हो । तुम्हारा चैतन्य नाम जड़ क्यों हो गया और तुमने अपना अनन्त ज्ञानादिक गुणों से युक्त अपना नाम क्यों भुला दिया ? त्रिलोक का स्वतन्त्र राज्य छोड़कर इस परतन्त्र को स्वीकारते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती । मिथ्यात्व को दूर करने के बाद ही तुम कर्ममल से मुक्त हो सकोगे और परमात्मा कहला सकोगे । तभी तुम अनन्त सुख को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकोगे ।

"जीव ! तू मूढ़पना कित पायो ।
सब जग स्वारथ को चाहत है, स्वारथ तोहि न भायो ।
अशुचि अचेत दुष्ट तन मांही, कहा जान विरमायो ।
परम अतिन्द्री निज सुख हरि कै, विषय-रोग लपटायो ।।

---

1. "साथ चल्यौ गांठ की कमाई कौड़ी एक नाहीं ।
तौ सो मूढ़ दूसरो न ढूंढयौ कहूं पायौ है ।। ब्रह्मविलास, अनित्यपचीसिका, 11.
2. वही, सुपथ-कुपथ पचीसिका, 5-22.
3. वही, मोह भ्रमाष्टक
4. वही, रागादि निर्णयाष्टक, 2.
5. हिन्दी पद संग्रह, बुधजन, पृ. 196.
6. बुधजनविलास, 29.
7. वही, 71.

चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गमायो ।
तीन लोक को राज छाड़िके, भीख मांग न लजायो ॥
मूढ़पना मिथ्या जब छूटे, तब तू सन्त कहायो ।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव विलसौ, यौं सद्गुरु बतलायो ॥[1]

दौलतराम इस मिथ्या भ्रम-निद्रा को देखकर अत्यन्त दुःखी हुए और कह उठे—रे नर, इस दुःखदाई भ्रम निद्रा को छोड़ते क्यों नहीं हो ? चिरकाल से उसी में पड़े हुए हो, पर यह नहीं सोचते कि इसमें तुम्हारा क्या कितना घाटा हुआ है ? मूर्ख व्यक्ति पाप-पुण्य कार्यों में कोई भेद नही करता और न उसका मर्म ही समझता है । जब दुःखों की ज्वाला में झुलसने लगता है तब उसे कष्ट होता है । इतने पर भी निद्रा भंग नहीं होती । कवि पुनः अन्य प्रकार से कहता है कि तुम्हारे सिर पर यमराज के भयंकर बाजे बज रहे हैं, अनेक व्यक्ति प्रतिदिन प्राण त्यागते हैं । क्या तुम्हें यह समाचार सुनाई नहीं दिया ? तुमने अपना रूप तो भुला दिया और पर रूप को स्वीकार कर लिया । इतना ही नही, तुमने इन्द्रिय विषयों का ईंधन जलाकर इच्छाओं को बढ़ा दिया । अब तो एक यही मार्ग है कि तुम राग-द्वेष को छोड़कर मोक्ष के रास्ते को पकड़ लो :—

हे नर, भ्रम-नींद क्यों न छांड़त दुःखदाई । सोवत चिरकाल सोंज आपनी ठगाई ॥
मूरख अघकर्म कहा, भेद नहिं मर्म लहा । लागै दुःख ज्वाला की न देह कै तताई ॥
जम के रव बाजते, सुभैरव अति गाजते । अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई ॥[2]

जैन रहस्यवाद में मिथ्यात्व के तीन भेद होते हैं—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र । ये तीनों भेद गृहीत और अगृहीत रूप होते हैं । गृहीत का अर्थ है बाह्यकारणों से ग्रहण करना और अगृहीत का तात्पर्य है निसर्गज, अनादिकाल से होना । इन्हीं के कारण संसारी भव-भ्रमण करता रहता है । जीवादि सप्त तत्वों के स्वरूप पर यथार्थ रूप से श्रद्धा न करना अगृहीत मिथ्यादर्शन है और उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अगृहीत मिथ्याज्ञान है । पंचेन्द्रियों के विषय भोगों का सेवन करना अगृहीत मिथ्याचारित्र है । इनके कारण जीव अपने आपको सुखी-दुःखी, धनी, निर्धनी, सबल, निर्बल आदि रूप से मानता है, शरीर के उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति और शरीर के नष्ट होने पर अपना नाश समझता है, रागद्वेषादि कारणों को जुटाता है और आत्म-शक्ति को खोकर इच्छाओं का अम्बार लगाता है । गृहीत मिथ्यादर्शन में जीव कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन करता है । कुगुरु का तात्पर्य है वह व्यक्ति जो मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह और पीतवस्त्रादि बाह्य परिग्रह को धारण करता हो,

1. अध्यात्म पदावलि, पृ. 360 ।
2. अध्यात्म पदावली, पृ. 344 ।

अपने को मुनि मानता हो, मनाता हो। राग-द्वेषादि युक्त देव-कुदेव हैं और हिंसादि का उपदेश देने वाला धर्म कुधर्म है। इनका सेवन करने वाला व्यक्ति संसार में स्वयं डूबता है और दूसरे को भी डुबाता है। वे एकान्तवाद का कथन करते हैं तथा भेद-विज्ञान न होने से कषाय के वशीभूत होकर शरीर को क्षीण करने वाली अनेक प्रकार की हठयोगादिक क्रियायें करते हैं।[1]

मिथ्यादृष्टि जीव पंचेन्द्रियों के विषय सुख में निजसुख भूल जाता है। जैसे कल्पवृक्ष को जड़ से उखाड़कर धतूरे को रोप दिया जाय, गजराज को बेचकर गधे को खरीद लिया जाय, चिन्तामणि रत्न को फेंककर कांच ग्रहण किया जाय वैसे ही धर्म को भूलकर विषयवासना को सुख माना जाय तो इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है।[2] ये इन्द्रियां जीव को कुपथ में ले जाने वाली हैं, तुरग-सी वक्रगति वाली हैं, विवेकहारिणी उरग जैसी भयंकर, पुण्य रूप वृक्ष को कुठार, कुगतिप्रदायनी विभवविनाशिनी, अनीतिकारिणी और दुराचारवर्धिणी हैं। विषयाभिलाषी जीव की प्रवृत्ति कैसी होती है, इसका उदाहरण देखिये :—

धर्मतरुभंजन कौ महामत्त कुंजर से, आपदा भण्डार के भरन कौ करोरी हैं।
सत्यशील रोकवे को पौढ़ परदार जैसे, दुर्गति के मारग चलायवे कौ धोरी है।।
कुमति के अधिकारी कुनैपंथ के विहारी,भद्रभाव ईंधन जरायवे कौ होरी है।
मृषा के सहाई दुरभावना के भाई ऐसे, विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी है।।[3]

भैया भगवतीदास चेतन को उद्‌बोधित करते हुए कहते हैं कि तुम उन दिनों को भूल गये जब माता के उदर में नव माह तक उल्टे लटके रहे, आज यौवन के रस में उन्मत्त हो गये हो। दिन बीतेंगे, यौवन बीतेगा, वृद्धावस्था आयेगी, और यम के चिह्न देखकर तुम दुःखी होगे।[4] अरे चेतन, तुम आत्मस्वभाव को भूलकर इन्द्रिय-सुख में मग्न हो गये, क्रोधादिकषायों के वशीभूत होकर दर-दर भटक गये, कभी तुमने भामिनी के साथ काम क्रीड़ा की, कभी लक्ष्मी को सब कुछ मानकर अनीतिपूर्वक द्रव्यार्जन किया और कभी बली बनकर निर्बलों को प्रताड़ित किया। अष्ट मदों से तुम खूब खेले और धन-धान्य, पुत्रादि इच्छाओं की पूर्ति में लगे रहे। पर ये सब सुख मात्र सुखाभास हैं, क्षणिक हैं, तुम्हारा साथ देने वाले नहीं।[5] नारी विष की बेल है, दुःखदाई है। इनका संग छोड़ देना ही श्रेयस्कर है।[6]

---

1. छहढाला, दौलतराम, द्वितीय ढाल; मनमोदक पंचशती, 106-8।
2. बनारसीविलास, भाषासूक्त मुक्तावली, 6 पृ. 20।
3. वही, 72, पृ. 54।
4. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, 32-33।
5. ब्रह्मविलास, 39–44, हिन्दी पद संग्रह, पृ. 43।
6. वही, 79–81

कषाय

इसी प्रकार धन-सम्पत्ति भी जीव को दुर्गति में ले जाने वाली है। वह चपला-सी चंचल है, दावानल-सी तृष्णा को बढ़ाने वाली है, कुलटा-सी डोलती है, बन्धु विरोधिनी, छलकारिणी और कषायवर्धिणी है।[1] क्रोधादिक कषाय भी इसी तरह चेतन को दुर्गति में ले जाने वाले होते हैं। क्रोध, भ्रम, भय, चिन्ता आदि को बढ़ाने वाला, सर्प के समान भयंकर, विषवृक्ष के समान जीवन हरण करने वाला, कलहकारी, यशहारी और धर्म मार्ग विध्वंसक है।[2]

माया कुमति-गुफा है, जहाँ अघ-बुद्धि की धूमरेखा और कोप का दावानल उठता रहता है। मानी मदांध गज के समान रहता है।[3] इसलिए भगवतीदास ने 'छांडि दे अभिमान जियरे छांडि दे अभिमान।' तू किसका है और तेरा कौन है? सभी इस जगत में मेहमान बन कर आये हैं, कोई वस्तु स्थिर नहीं। कुछ नहीं कहा जा सकता कि क्षण भर में तुम कहाँ पहुँचोगे।[4] बड़े-बड़े भूप आये और गये तब तू क्यों गर्व करता है?[5]

माया चेतन के शुभ भावों को प्रच्छन्न कर देती है। वह कुशलजनों के लिए बांझ और सत्यहारिणी है। मोह का कुंजर उसमें निवास करता है, वह अपयश की खान, पाप-सन्तापदायिनी, अविश्वास और विलाप की गृहिणी है।[6] बनारसीदास

---

1. बनारसीविलास, भाषासूक्तावली, 73–76
2. जो सुजन चित्त विकार कारन, मनहु मदिरा पान।
   जो भरम भय चिन्ता बढावत, असित सर्प समान॥
   जो जन्तु जीवन हरन विष तरु, तनदहनदवदान।
   सो कोपरास बिनासि भविजन, पहहु शिव सुखथान॥
   वही भाषासूक्तावली, 45।
3. वही, 51।
4. छांड़ि दे अभिमान जियरे छांडि दे अभिमान॥
   काको तू अरु कौन तेरे, सब ही हैं महिमान॥
   देख राजा रंक कोऊ, थिर नहीं यह थान॥1॥
   ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति, 12, पृ. 113
5. वही, फुटकर कविता, 15, पृ. 276।
6. कुशल जननको बांझ, सत्य रविहरन सांझ थिति।
   कुगति युवती उरमाल, मोह कुंजर निवास छिति॥
   शम वारिज हिमराशि, पाप सन्ताप सहायनि।
   अयश खानि जान, तजहु माया दुःखदायनि॥
   बनारसीविलास, भाषासूक्तावली, 53–56

ने माया और छाया को एक माना है क्योंकि ये दोनों क्षण-क्षण में घटती-बढ़ती रहती हैं। उन्होंने माया का बोझ रखने वाले की अपेक्षा खर अथवा रीछ को अधिक अच्छा माना।[1] भूधरदास ने उसे ठगनी कहा है—

> सुनि ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया।
> टुक विश्वास किया जिन तेरा सो मूरख पछताया ॥सुनि ॥1॥
> आभा तनक दिखाय बिज्जु ज्यों मूढ़मती ललचाया।
> करि मद अंध धर्महर लीनों, अन्त नरक पहुंचाया ॥सुनि ॥24॥[2]

आनन्दघन भी माया को महाठगनी मानते हैं और उससे विलग रहने का उपदेश देते हैं—

> अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी।
> बम्मन के घर न्हाती धोती, जोगी के घर चेली ॥
> कलमा पढ़ भई रे तुरकड़ी, तो आप ही आप अकेली।
> ससुरो हमारो बालो भोलो, सासू बोला कुंवारी ॥
> पियुजो हमारो प्होढ़ें पारणिये, तो मैं हूं झुलावनहारी।
> नहीं हूं परणी, नहीं हूं कुंवारी, पुत्र जणावन हारी ॥[3]

लोभ में भी सुख का लेश नहीं रहता। लोभी का मन सदैव मलीन रहता है। वह ज्ञान-रवि रोकने के लिए धराधर, सुकृति रूप समुद्र को सोखने के लिए कुम्भ नद, कोपादिको उत्पन्न करने के लिए अरणि, मोह के लिए विषवृक्ष, महादृढ़कन्द, विवेक के लिए राहु और कलह के लिए केलिभौन हैं।[4] बनारसीदास ने सभी पापों का मूल लोभ को, दुःख का मूल स्नेह को और व्याधि का मूल अजीर्ण को बताया है।[5] बुधजन का मन लोभ के कारण कभी तृप्त ही नहीं हो पाता। जितना भोग मिलता है उतनी ही उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है।[6] इसलिए कभी उसे सुख भी नहीं मिलता।[7] लोभ की प्रवृत्ति आशाजन्य होती है। भूधरदास ने आशा को नदी मानकर

---

1. माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिनमांहि।
   इनकी संगति जे लगै, तिनहिं कहीं सुख नाहिं ॥16॥

   वही पृ. 205।
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 154।
3. आनन्दघन बहोत्तरी, पद 98।
4. बनारसीविलास, भाषा सूक्तावली, 58
5. वही, 19, पृ. 205, ब्रह्मविलास, पुण्यपचीसिका, 11 पृ. 4।
6. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 197।
7. बुधजनविलास, 29।

उसका सुन्दर वर्णन किया है। आशा रूप नदी मोह रूपी ऊँचे पर्वत से निकलकर सारे भूतल पर फैल जाती है। उसमें विविध मनोरथ का जल, तृष्णा की तरंगें, भ्रम का भंवर, राग का मगर, चिन्ता का तट है जो धर्म-वृक्ष को ढहाते चले जाते हैं—

मोह से महान ऊँचे पर्वत सौ ढर आई, तिहूँ जग भूतल में या ही बिसतरी है।
विविध मनोरथ मैं भूरि जलभरी बहै, तिसना तरंगनि सौ आकुलता धरी है।।
परैं भ्रम भौंर जहाँ रागसौ मगर तहाँ, चिन्ता तटतुंग धर्मवृच्छढाय ढरी है।
ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध ताकों, धन्य साधु धीरज जहाज चढि तरी है।।

लोभ से मुनिगण भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते, उसका लोभ शिव-रमणी से रमण करने का बना रहता है।[1] ऐसा लोभी व्यक्ति नग चिन्तामणी को छोड़कर पत्थर को बटोरता, सुन्दर वस्त्र छोड़कर चिथड़े इकट्ठे करता तथा कामधेनु को छोड़कर बकरी ग्रहण करता है।

नग चिन्तामणि डारिके पत्थर जोउ, ग्रहैं नर मूरख सोई।
सुन्दर पाट पटम्बर अम्बर छोरिकैं ओढण लेत है लोई।।
कामदुधा धरतें जु विडार कैं छेरि गहैं मतिमंद जि कोई।
धर्म्म को छोर अधर्म्म कौं जसराज ज्यों निज बुद्धि विगोई।।2।।[2]

संसारी जीव इन क्रोधादि कषायों के वशीभूत होकर साधना के विमल पथ पर लीन नहीं हो पाता। क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारों से ग्रस्त होकर वह संसरण को और भी आगे बढ़ा लेता है। उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक तत्त्व ये कषाय हैं जो आत्मा को संसार-सागर में भटकाते रहते हैं।

मोह

अष्ट कर्मों में प्रबलतम कर्म है मोहनीय, उसी के कारण जीव संसार में भटकता रहता है। धन की तृषा-तृप्ति और वनिता की प्रीति में वह धर्म से विमुख हो जाता है। अपने इन्द्रिय सुख के लिए सभी तरह के अच्छे-बुरे साधन अपनाता है। ऐसे व्यक्ति की मोह-निद्रा इतनी तीव्र होती है कि जगाने पर भी वह जागता नहीं।[3] वह तो पर पदार्थों में आसक्त रहता है। उसे स्व-पर विवेक नहीं रहता। मिथ्यात्ववश मेरा-मेरा की रट लगाता रहता है।[4] यह मोह चतुर्गति के दुःखों का कारण

1 जैनशतक, 76।
2. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 235।
3. हिन्दी पद संग्रह, पं. रूपचन्द्र, पृ. 31।
4. वही, पृ. 33। स्व पर विवेक बिना भ्रम भूल्यौ, मै मैं करत रह्यौ, पद 41।

होता है ।[1] जीव परकीय वस्तु पर मुग्ध होकर स्वकीय वस्तु को छोड़ बैठता है ।[2] मोह का प्रबल प्रताप इतना तेज रहता है कि जीव उससे सदैव संतप्त बना रहता है। सुर नर इन्द्र सभी मोहीजन अस्त्र के बिना भी अस्त्रवान हैं । हरि, हर, ब्रह्मा आदिक महापुरुषों ने उसे छोड़ दिया पर जिन्होंने नहीं छोड़ा वे जीवन भर विलाप करते रहते हैं । इसलिए पं० रूपचन्द्र भावविभोर होकर बड़े आग्रह से जीव को सलाह देते हैं कि इस मोह को छोड़ो । इस पाप से दु:खी क्यों बने हो ।[3]

जिस प्रकार पवन के झकोरों से जल में तरंगें उठती हैं वैसे ही परिग्रह और मोह के कारण मन चंचल हो उठता है । जैसे कोई सर्प का डंसा व्यक्ति अपनी रुचि से नीम खाता है वैसे ही यह संसारी प्राणी ममता-मोह के वशीभूत होकर इन्द्रियों के विषय सुख में लगा है । अनन्तकाल से इसी महामोह की नींद के कारण चतुर्गति में परिभ्रमण कर रहा है ।[4] मोह के कारण ही व्यक्ति एक वस्तु के अनेक नाम निर्धारित कर लेता है । उनके अनेकत्व को एकत्व में देखता है । कल्पित नाम को भी मोहवश तीनों अवस्थाओं में एकसा और यथार्थ मानता है । पर यह भ्रम है । उस भ्रम पर ही विचार क्यों नहीं कर लेता ? यदि उस पर विचार कर ले तो इस संसार से पार हो जायेगा ।[5] मोह से विकल होने पर जीव चेतन को भूल जाता है और देह में राग करने लगता है । सारा परिवार स्वार्थ से प्रेरित होता है । जन्म और मरण करने वाला प्राणी स्वयं अकेला रहता है पर वह सारे संसार का मोह बटोरे चलता है । वह सोचता है, यदि विभूति होती तो दान देता । और भी उसके मन में प्रपंच आते हैं जिनके कारण संसार में भ्रमण करता रहता है । वह बन्ध का कारण जुटाता है, पर मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं जानता । यदि जान जाता तो भव-भ्रमण सहज ही दूर हो जाता ।[6]

जीव के लिए उसका मोह सर्वाधिक महादु:खदाई होता है । अनादिकाल से आत्मा की अनन्त शक्ति को उसने छिपा दिया था । क्रम-क्रम से उसने नरभव प्राप्त किया, फिर भी मोह को नहीं छोड़ा । जिस परिवार को अपना मानकर पाला-पोसा, वह भी छोड़कर चला गया, जन्म-मरण के दु:ख भी पाये । इसका मूल कारण मोह है जिसका त्याग किये बिना परमपद प्राप्त नहीं हो सकता ।[7] मोही आत्मा को

---

1. हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ. 38 ।
2. वही, पृ. 41 तोहि अपनपौ भूल्यौ रे भाई, पद 55 ।
3. वही, पृ. 50 ।
4. बनारसीविलास, ज्ञानपच्चीसी 5–6 ।
5. वही, नामनिर्णय विधान, 7 पृ. 172 ।
6. वही, अध्यात्मपद पंक्ति, 2–4 ।
7. ब्रह्मविलास, परमार्थ पद पंक्ति, 6 ।

परदेशी मानकर कवि कह उठा—इस परदेशी का क्या विश्वास। यह न सुबह गिनता है, न शाम, कहीं भी चल देता है, सभी कुटुम्बियों को और शरीर को छोड़कर दूर देश चला जाता है, कोई उसकी रक्षा करने वाला नहीं। सच तो यह है, किसी से कितनी भी प्रीति करो, यह निश्चित है कि वह एक दिन पृथक् हो जायेगा। इसने तन से प्रीति की और धर्म को भूल गया। मोह के कारण अनन्तकाल तक घूमता रहा।[1] राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयवासना आदि विकारों में मग्न रहा। उनके कारण दुःखों को भी भोगता रहा पर कभी सुख नहीं पाया।[2] इसलिए भगवतीदास बड़े दुःखी होकर कहते हैं—"चेतन परे मोह वश आय।" यह चेतन मोह के वश होकर विषय भोगों में रम जाता है। वह कभी धर्म के विषय में सोचता नहीं। समुद्र में चिन्तामणिरत्न फेंककर जैसे मूर्ख पश्चात्ताप करता है वैसे ही यह मोही नरभव पाकर भी धर्म न करने पर फिर अन्त में पश्चात्ताप करेगा।[3]

मोह के भ्रम से ही अधिकांश कर्म किये जाते हैं। मोह को चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं दिखाई देता। मोह के वश किसने क्या किया है, इसे पुराण कथाओं का आधार लेकर भगवतीदास ने सूचित किया है।[4] उन कथाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोह की परिणति दो हैं—राग और द्वेष इन दोनों के कारण जीव मिथ्याभ्रम में पड़ जाता है। यह जीव घिनौने शरीर में लीन रहता, नारी के भाव से मण्डित देह पर आकर्षित होता, लक्ष्मी के कारण बड़े-बड़े महाराजा अपना पद छोड़कर प्रजा के समान लोभ की पूर्ति के लिए डोलता है। भगवतीदास को उन सांसारियों पर बड़ी हंसी आती है जो इस छोटी-सी आयु में करोड़ों उपाय करते हैं।[5] रे मूढ़। जिसे तूने घर कहा है वहां डर तो अनेक हैं पर उन सभी को भूलकर विषय-वासना में फंस गया है। जल, चोट, उदर, रोग, शोक लोकलाज, राज आदि अनेक डरों से तो तूं डरता है पर यमराज को नहीं डरता। तू मोह में इतना अधिक उलझ गया है कि तेरी मति और गति दोनों बिगड़ गई हैं। तूं अपने हाथ अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहा है।[6] स्वप्न बत्तीसी कवि ने मोह-निद्रा का

---

1. कहा परदेशी को पतयारो,
   मनमाने तब चलै पंथ को, सांज गिनै न सकारो।
   सब कुटुम्ब छांड इतही पुनि, त्याग चलै तन प्यारो ॥1॥ वही, पृ. 10।
2. वही, परमार्थपद पंक्ति 15, माझा, बधीचन्द मंदिर, जयपुर में सुरक्षित प्रति।
3. वही, 25।
4. ब्रह्मविलास, मोह भ्रमाष्टक।
5. वही, पुण्यपापजगमूल पच्चीसी, 4, पृ. 195।
6. वही, जिन धर्म पचीसिका।

अत्यन्त स्पष्ट चित्रण किया है और कहा है कि उसके त्यागे बिना अविनाशी सुख नहीं मिल सकता ।[1] मेरे मोह ने मेरा सब कुछ बिगाड़ कर रखा है । कर्मरूप गिरिकन्दरा में उसका निवास रहता है । उसमें छिपे हुए ही वह अनेक पाप करता है पर किसी को दिखाई नहीं देता । इन्द्रिय वासना में परधन के अपहरण का भाव दिखाई देता है । बड़ी श्रद्धा के साथ कवि कहता है कि इन सभी विकारों को दूर करने का एक मात्र उपाय जिनवाणी है[2]—

> मोह मेरे सारे ने बिगारे आनजीव सब,
> जगत के बासी तैसे बासी कर राखे हैं ।
> कर्मगिरिकंदरा में बसत छिपाये आप,
> करत अनेक पाप जात कैसे भाखे हैं ।।
> विषैबन और तामे चोर को निवास सदा,
> परध न हरबे के भाव अभिलाखे हैं ।
> तापै जिनराज जूके बैन फौजदार चढ़े,
> आन आन मिले तिन्हें मोक्ष वेश दाखे हैं ।।

दौलतराम का जीव तो अनादिकाल से ही शिवपथ को भूला है । वह मोह के कारण कभी इन्द्रिय सुखो में रमता है तो कभी मिथ्याज्ञान के चक्कर में पड़ा रहता है ।[3] जब अविद्या-मिथ्यात्व का पर्दा खुलता है तो वह कह उठता है, रे चेतन, मोहवशात् तूने व्यर्थ में इस शरीर से अनुराग किया । इसी के कारण अनादिकाल से तू कर्मों से बंधा हुआ है । यह जड़ है और तू चेतन, फिर भी यह अपनापन कैसे ? ये विषयभोग भुजग के समान हैं जिसके डसते ही जीव मृत्यु-मुख में चला जाता है । इनके सेवन करने से तृष्णा रूपी प्यास वैसी ही बढ़ती है जैसे क्षार जल पीने से बढ़ती है ।[4] हे नर ! सयाने लोगों की शिक्षा को स्वीकार क्यों नहीं करते ? मोह-मद पीकर तुमने अपनी सुध भुला दी । कुबोध के कारण कुव्रतों में मग्न हो गये, ज्ञान सुधा का अनुभव नहीं लिया । पर पदार्थों से ममत्व जोड़ा और संसार की असारता को परखा नहीं ।[5]

---

1. ब्रह्मविलास, स्वप्नबत्तीसी ।
2. वही, फुटकर कविता 2 ।
3. "जीव तूं अनादि ही तैं भूल्यौ शिव गैलवा," हि. पद. सं. पृ. 221 ।
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 233 ।
5. वही, पृ. 231 ।

विषय सेवन से उत्पन्न तृष्णा के खारे जल को पीने के बाद उसकी प्यास बढ़ती है, खाज खुजाने के समान प्रारम्भ में तो अच्छी लगती है पर बाद में दुःखदायी होती है। वस्तुतः इन्द्रिय भोग विषफल के समान है।[1]

बुधजन को तो आत्मग्लानि-सी होती है कि इस आत्मा ने स्वयं के स्वरूप को क्यों नहीं पहिचाना। मिथ्या मोह के कारण वह अभी तक शरीर को ही अपना मानता रहा। धतूरा खाने वाले की तरह यह आत्मा अज्ञानता के जाल में फंस गया है। इसलिए कवि को यह चिन्ता का विषय हो गया कि वह किस प्रकार शाश्वत सुख को प्राप्त करेगा।[2] मोह से ही मिथ्यात्व पनपता है।[3] इसलिए साधकों और आचार्यों ने इस मोह को विनष्ट करने का उपदेश दिया है। जब तक विवेक जाग्रत नहीं होता, मोह नष्ट नहीं हो सकता। यशपाल का मोहपराजय, वादिचन्द्र सूरि का ज्ञानसूर्योदय, हरदेव का मयण-पराजय-चरिउ, नागदेव का मदनपराजय चरित और पाहल का मनकरहारास विशेष उल्लेखनीय हैं। बनारसीदास का मोह विवेक युद्ध इन्हीं से प्रभावित है। अचलकीर्ति को माया, मोहादि के कारण संसार-सागर कैसे पार किया जाय, यह चिन्ता हो गई। मन रूपी हाथी आठ मदों से उन्मत्त हो गया। तीनों अवस्थायें व्यर्थ गंवा दीं, अब तो प्रभु की ही शरण है।

काहा करुं कैसे तरुं भवसागर भारी ॥टेक॥
माया मोह मगन भयो महा बिकल विकारी ॥कहा०॥
मन हस्ती मद आठ, सुमन-सा मंजारी।
चित चीता सिंघ सांप ज्युं अतिबल अहंकारी ॥[4]

मोह साधक का प्रबलतम शत्रु है। साधना के बाधक तत्त्वों में यदि उसे नष्ट कर दिया जाय तो चिरन्तन सुख भी उपलब्ध करने में अत्यन्त सहजता हो जाती है। इसलिए साधकों ने उसके लिए "महाविष" की संज्ञा दी है। इस तथ्य को सभी साधनाओं में स्वीकार किया गया है। उसकी हीनाधिकता और विश्लेषण की प्रक्रिया में अन्तर अवश्य है।

---

1. परमार्थ दोहाशतक, 4-11 (रूपचन्द्र), लूणकर मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित प्रति।
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 245।
3. "देखो चतुराई मोह करम की जगतें, प्रानी सब राचे भ्रम सानिकै।" मनराम विलास, मनराम, 63, ठोलियों का दि. जैन मंदिर जयपुर, वेष्टन नं० 395।
4. यह पद लूणकरजी पाण्डया मंदिर, जयपुर के गुटका नं. 114, पत्र 172-173 पर अंकित है।

बाह्याडम्बर

जैन साधकों ने धार्मिक बाह्याडम्बर को रहस्यसाधना में बाधक माना है। बाह्य क्रियाओं से आत्महित नहीं होता इसलिए उसकी गणना बन्ध पद्धति में की गई है। बाह्य क्रिया मोह-महाराजा का निवास है, अज्ञान भाव रूप राक्षस का नगर है। कर्म और शरीर आदि पुद्गलों की मूर्ति हैं। साक्षात् माया से लिपटी मिश्री भरी छुरी, है। उसी के जाल में यह चिदानन्द आत्मा फंसता आ रहा है। उससे ज्ञान-सूर्य का प्रकाश छिप जाता है। अतः बाह्य क्रिया से जीव, धर्म का कर्ता होता है, निश्चय स्वरूप से देखो तो क्रिया सदैव दुःखदायी होती है।[1] इस सन्दर्भ में पीताम्बर का यह कथन मननीय है—"भेषधार कहै भैया भेष ही में भगवान, भेष में न भगवान, भगवान न भाव में।"[2] बनारसीदास ने भी यही कहा है कि अम्बर को मैला कर देने वाला योग-आडम्बर किया, अंग विभूति लगायी, मृगछाला ली और घर परिवार को छोड़कर वनवासी हो गये पर स्वर का विवेक जाग्रत नहीं हुआ।[3]

भैया भगवतीदास ने बाह्यक्रियाओं को ही सब कुछ मानने वालों से प्रश्न किये कि यदि मात्र जलस्नान से मुक्ति मिलती हो तो जल में रहने वाली मछली सबसे पहले मुक्त होती, दुग्धपान से मुक्ति होती तो बालक सर्वप्रथम मुक्त होगा, अंग में विभूति लगाने से मुक्ति होती हो तो गधों को भी मुक्ति मिलेगी, मात्र राम कहने से मुक्ति हो तो शुक भी मुक्त होगा, ध्यान से मुक्ति हो तो बक मुक्त होगा, शिर मुड़ाने से मुक्ति हो तो भेड़ भी तिर जायेगी, मात्र वस्त्र छोड़ने से मुक्त कोई होता हो तो पशु मुक्त होंगे, आकाश गमन करने से मुक्ति प्राप्त हो तो पक्षियों को भी मोक्ष मिलेगा, पवन के खाने से यदि मोक्ष प्राप्त होता तो व्याल भी मुक्त हो जायेंगे। यह सब संसार की विचित्र रीति है। सच तो यह है कि तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।[4] मिथ्याभ्रम से देह के पवित्र हो जाने से आत्मा को पवित्र मान लेते हैं,

---

1. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, 96–97।
2. बनारसीविलास, ज्ञानबावनी, 43 पृ. 87।
3. जोग अडम्बर तै किया, कर अम्बर मल्ला।
   अंग विभूति लगायके, लीनी मृग छल्ला।
   है वनवासी तैं तजा, घरबार महल्ला।
   अप्पापर न पिछाणियां सब झूठी गल्ला॥ वही, मोक्षपैडी, 8, पृ. 132।
4. शुद्धि ते मीनपियें पयबालक, रासभ अंग विभूति लगाये।
   राम कहै शुक ध्यान गहै बक, भेड़ तिरैं पुनि मूंड मुड़ाये॥
   वस्त्र बिना पशु व्योम चलै खग, व्याल तिरैं नित पौन के खाये।
   एतो सबै जड़ रीत विचक्षन! मोक्ष नहीं बिन तत्त्व के पाये॥
   (ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, 11, पृ. 10)

कुआचार को ही जैनधर्म कह देते हैं, पुण्य-पाप कर्म के चक्कर में अनाज के स्थान पर कंकड़ चुन लेते हैं, मूंड को मुड़ाकर, देह को जलाकर ही धर्म मानते हैं। शास्त्र का प्रवचन करते हुए भी शास्त्र को नहीं समझते।[1] नरदेह पाने से पंडित कहलाने से तीर्थ स्नान करने से, द्रव्यार्जन करने से छत्रधारी होने से, केश के मुड़ाने से और भेष के धारण करने से क्या तात्पर्य, यदि आत्म प्रकाशात्मक ज्ञान नहीं हुआ।[2] ज्ञानार्जन किये बिना ही अनेक प्रकार के साधु विविध साधना करते हुए दिखाई देते हैं। उनमें कुछ कनफटा, जटाधारी, भस्म लपेटे, चेरियों से घिरे धूम पायी साधु हैं जो कामवासना से पीड़ित और विषयभोगों में लीन हैं—

केऊ फिरैं कानफटा, केऊ सीस धरैं जटा,
केऊ लिए भस्मवटा भूले भटकत हैं।
केऊ तज जांहि अटा, केऊ घेरें चेरी चटा,
केऊ पढ़ै पट केऊ धूम गटकत हैं॥
केऊ तन किये लटा, केऊ महादीसैं कटा,
केऊ तरतटा केऊ रसा लटकत हैं।
भ्रम भावतैं न हटा हिये काम नाहीं घटा,
विषै सुख रटा साथ हाथ पटकत हैं ॥10॥[3]

कान फटाकर योगी बन जाते हैं, कंधे पर झोली लटका लेते हैं, पर तृष्णा का विनाश नहीं करते तो ऐसे ढोंगी योगी बनने का कोई फल नहीं। यति हुआ पर इन्द्रियों पर विजय नहीं पायी, पांचों भूतों को मारा नहीं, जीव अजीव को समझा नहीं, वेष लेकर भी पराजित हुआ, वेद पढ़कर ब्राह्मण कहलाये पर ब्रह्मदशा का ज्ञान नहीं। आत्म तत्त्व को समझा नहीं तो उसका क्या तात्पर्य? जंगल जाने भस्म

1. ब्रह्मविलास, सुपंथ कुपंथ पचीसिका, 11, पृ. 182।
2. नरदेह पाये कहा पंडित कहायेकहा,
तीरथ के न्हाये कहा तीर तो न जैहे रे।
लच्छि के कमाये कहा अच्छ के अघाये कहा,
छत्र के धराये कहा छीनतान ऐहै रे।
केश के मुंडाये कहा भेष के बनाये कहा,
जोवन के आये कहा जराहू न खैहै रे।
भ्रम को विलास कहा दुर्जन में वास कहा,
आत्म प्रकाश बिन पीछे पछितै है रे॥"
वही, अनित्य पचीसिका, 9 पृ. 174।
3. वही, सुबुद्धि चौबीसी, 10 पृ. 159।

चढ़ाने और जटा धारण करने से कोई अर्थ नहीं, जब तक पर पदार्थों से आशा न तोड़ी जाय।[1] पाण्डे हेमराज ने भी इसी तरह कहा की शुद्धात्मा का अनुभव किये बिना तीर्थ स्नान, शिर मुंडन, तप-तापन आदि सब कुछ व्यर्थ हैं—"शुद्धातम अनुभौ बिना क्यों पावैं सिवषेत"।[2] जिनहर्ष ने ज्ञान के बिना मुण्डन तप आदि को मात्र कष्ट उठाना बताया है। उन क्रियाओं से मोक्ष का कोई सम्बन्ध नहीं—"कष्ट करे जसराज बहुत पे ग्यान बिना शिव पंथ न पावें।"[3] शिरोमणिदास ने "नहीं दिगम्बर नहीं वस्त्र धार, ये जती नहीं भव भ्रमें अपार"[4] कहकर और पं. दौलतराम ने "मूंड मुंडाये कहां तत्त्व नहि पावै जो लौं लिखकर, भूधरदास ने "अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई", कहकर इसी तथ्य को उद्घाटित किया है और शिथिलाचार की भर्त्सना की है।[5] किशनसिंह ने बाह्यक्रियाओं को व्यर्थ बताकर अन्तरंग शुद्धि पर यह कहकर बल दिया—

> जिन आपकूं जीया नहीं, तन मन कूं षोज्या नहीं।
> मन मैल कुं धोया नहीं, अंगुल किया तो क्या हुआ ॥
> लालच करै दिल दाम की, षासति करै बद काम की।
> हिरदै नहीं सुद्ध राम की, हरि हरि कह्या तो क्या हुआ ॥

---

1. जोगी हुवा कान फड़ाया झोरी मुद्रा डारी है।
   गोरख कहै त्रसना नही मारी, घरि घरि तुमची न्यारी है ॥2॥
   जती हुवा इन्द्री नहीं जीती, पंचभूत नहिं मार्‌या है।
   जीव अजीव के समझा नाहीं, भेष लेइ करि हास्या है ॥4॥
   वेद पढ़ै अरू बरामन कहावै, ब्रह्म दसा नहीं पाया है।
   आतम तत्त्व का अरथ न समज्या, पोथी का जनम गुमाया है ॥5॥
   जंगल जावै भस्म चढ़ावै, जटा ध धारी कैसा है।
   परभव की आसा नहीं मारी, फिर जैसा का तैसा है ॥6॥

   रूपचन्द, स्फुटपद

   2–6, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. 184, अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेर की हस्तलिखित प्रति।
2. उपदेश दोहा शतक, 5–18 दीवान बधीचन्द मंदिर जयपुर, गुटका नं. 17, बेष्टन नं 636।
3. जसराज बावनी, 56, जैन गुर्जर कविओ, भाग 2, पृ. 116।
4. सिद्धान्त शिरोमणि, 57–58, हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 168।
5. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 145।

हुता हुआ धन मालदा, धंधा करै जंजालदा।
हिरदा हुआ च्यंमालदा, कासी गया तो क्या हुआ ॥"[1]

बाह्यक्रियाओं के करने से जीव रागादिक वासनाओं में लिप्त रहता है और अपना आत्म कल्याण नहीं कर पाता इसलिए ऐसे बाह्याडम्बरों का निषेध जैन साधकों और कवियों ने जैनेतर सन्तों के समान ही किया है। दौलतराम ने देह आश्रित बाह्यक्रियाओं को मोक्ष प्राप्ति की विफलता का कारण माना है इसलिए वे कहते हैं—

आपा नहिं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे।
देहाश्रित करि क्रिया आपको मानत शिव-मग-चारी रे।
निज-निवेद विन घोर परीसह, विफल कही जिन सारी रे।[2]

मन की चंचलता

रहस्यभावना की साधना का केन्द्र मन है। उसकी गति चूंकि तीव्रतम होती है इसलिए उसे वश में करना साधक के लिए अत्यावश्यक हो जाता है। मन का शैथिल्य साधना को डगमगाने में पर्याप्त होता है। शायद यही कारण है कि हर साधना में मन को वश में करने की बात कही है। जैन योग साधना भी इसमें पीछे नहीं रही।

संसारी मन का यह कुछ स्वभाव-सा है कि जिस ओर उसे जाने के लिए रोका जाता है उसी ओर वह दौड़ता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। पं. रूपचन्द्र का अनुभव है कि उनका मन सदैव विपरीत रीति चलता है। जिन सांसारिक पदार्थों से उसने कष्ट पाया है उन्हीं मे प्रीति करता है। पर पदार्थों में आसक्त होकर अनैतिक आचरण भी करता है। कवि उसे वश में नहीं कर पाता और हारकर बैठ जाता है।[3]

कलाकार बनारसीदास ने मन को जहाज का रूपक देकर उसके स्वभाव की ओर अधिक स्पष्ट कर दिया है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को समुद्र पार करने के लिए एक ही मार्ग रहता है जहाज, उसी तरह भव (समुद्र) से मुक्त होने के लिए सम्यग्ज्ञानी को मन रूपी जहाज का आश्रय लेना पड़ता है। वह मन-घट में स्वयं में विद्यमान रहता है, पर अज्ञानी उसे बाहर खोजता है, यह आश्चर्य का विषय है। कर्मरूपी समुद्र में राग-द्वेषादि विभाव का जल है, उसमें विषय की तरंगें उठती रहती हैं, तृष्णा की प्रबल बड़वाग्नि और ममता का शब्द फैला रहता है। भ्रमरूपी भंवर है जिसमें मन रूपी जहाज पवन के जोर से चारों दिशाओं में चक्कर लगाता,

1. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 332।
2. अध्यात्म पदावली, पृ. 342।
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 49।

घिरता खिरता, डूबता, उतराता है। जब चेतन रूप स्वामी जागता है और उसका परिणाम समझता है तो वह समता रूप शृंखला फेंकता है। फलतः भंवर का प्रकोप कम हो जाता है।

कर्म समुद्र विभाव जल, विषयकषाय तरंग।
बडवागनि तृष्णा प्रबल, ममता धुनि सरबंग ॥5॥
भरम भंवर तामें फिरै, मनजहाज चहुँ ओर।
गिरै खिरै बूडै तिरै, उदय पवन के जोर ॥6॥
जब चेतन मालिम जगै, लखै विपाक नजूम।
डारै समता शृंखला, थकै भ्रमर की धूम ॥7॥[1]

बनारसीदास का मन इधर-उधर बहुत भटकता रहा। इसलिए वे कहते हैं कि रे मन, सदा सन्तोष धारण किया कर। सब दुःखादिक दोष उससे नष्ट हो जाते हैं।[2] मन भ्रम अथवा दुविधा का घर है। कवि को इसकी बड़ी चिन्ता है कि इस मन की यह दुविधा कब मिटेगी और कब वह निजनाथ निरंजन का स्मरण करेगा, कब वह अक्षय पद की ओर लक्ष्य बनायेगा, कब वह तन की ममता छोड़कर समता ग्रहण कर शुभ ध्यान की ओर मुड़ेगा, सद्गुरु के वचन उसके घट के अन्दर निरन्तर कब रहेंगे, कब परमार्थ सुख को प्राप्त करेगा, कब धन की तृष्णा दूर होगी, कब घर को छोड़कर एकाकी वनवासी होगा। अपने मन की ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए कवि आतुर होता हुआ दिखाई देता है।[3]

जगजीवन का मन धर्म के मर्म को नहीं पहचान सका। उसके मन ने दूसरों की हिंसा कर धन का अपहरण करना चाहा, पर स्त्री से रति करनी चाही, असत्य भाषण कर बुरा करना चाहा, परिग्रह का भार लेना चाहा, तृष्णा के कारण संकल्प विकल्पमय परिणाम किये, रौद्रभाव धारण किये, क्रोध, मान, माया लोभादि कषाय और अष्टमद के वशीभूत होकर मिथ्यात्व को नहीं छोड़ा, पापमयी क्रियायें कर सुख-सम्पत्ति चाही, पर मिली नहीं।[4] जगतराम का मन भी बस में नहीं होता। वे किसी तरह से उसे खींचकर भगवच्चरण में लगाते हैं पर क्षण भर बाद पुनः वह वहाँ से भाग जाता है। असाता कर्मों ने उसे खूब झकझोरा है इसलिए वह शिथिल और मुरझा-सा गया है। साता कर्मों का उदय आते ही वह हर्षित हो जाता है।[5]

1. बनारसीविलास, पृ. 152, 53।
2. रे. मन ! कर सदा सन्तोष, जातें मिटत सब दुःख दोष। बनारसीविलास, पृ. 228।
3. वही, अध्यातम पंक्ति, 13 पृ. 231।
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 82।
5. वही, पृ. 95।

रूपचन्द अपने मन की उल्टी रीति की ओर संकेत करते हैं कि जहां दुःख मिलता है वहीं वह दौड़ता है इसलिए वे उसके सामने अपनी हार मान लेते हैं।[1]

पर पदार्थों से ममत्व करने के बाद भैया भगवतीदास को जब ज्ञान का आभास होता है तो वह कह उठते हैं, रे मूढ मन, तू चेतन को भूलकर इस परछाया में कहां भटक गये हो ? इसमें तेरा कोई स्वरूप नहीं। वह तो मात्र व्याधि का घर है। तेरा स्वरूप तो सदा सम्यक् गुण रहा है और शेष माया रूप भ्रम है। इस अनुपम रूप को देखते ही सिद्ध स्वरूप प्राप्त हो जायेगा।[2] अभी तक विषय सुखों में तू रमा रहा, पर यदि विचार करो तो उससे तुम्हारा भला नहीं होगा। तू तो ऐसे ज्ञानियों-ध्यानियों का साथ कर जिनसे गति सुधर सके। उनसे यह मोह माया छूटेगी और तुम सिद्ध पद प्राप्त कर लोगे।[3] चेतन कर्म चरित्र में 'चेतन मन भाई रे" का सम्बोधन कर कवि ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार मन माया, मिथ्या और शोक में लगा रहता है। इन तीनों शल्यों को मूलतः छोड़ना चाहिए। तदर्थ क्रोध, मान, माया और लोभादिक कषाय, मोह, अज्ञान विषयसुख आदि विकारों को तिलांजलि देकर अविनाशी ब्रह्म की आराधना करनी चाहिए।[4] संसार में आने के बाद मरण अवश्यम्भावी है फिर धन यौवन, विषय रस आदि में रे मूढ़, क्यों लीन है, तन और आयु दोनों क्षीण उसी तरह हो रहे हैं जैसे अजुलि से जल झरता जाता है। इसलिए जन्म-मरण के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करो।[5]

पंचेन्द्रिय संवाद में मन के दोनों पक्षों को कवि ने सुघड़ता से रखा है। मन अपने आपको सभी का सरदार कहता है। वह कहता है कि मन से ही कर्म क्षीण होता है, करुण पुन्य होता है और आत्मतत्व जाना जाता है। इसलिए मन इन्द्रियों का राजा है और इन्द्रियां मन की दास हैं। तब मुनिराज ने उसका दूसरा पक्ष उसी के समक्ष रखा—रे मन, तू व्यर्थ में गर्व कर रहा है। तुम्हारे कारण ही तन्दुल मच्छ नरक में जाता है, जीव कोई पाप करता है तब उसका अनुमोदन करता है, इन्द्रियां तो शरीर के साथ ही बैठी रहती हैं पर तू दिन रात इधर-उधर चक्कर लगाता रहता है। फलतः कर्म बंधते जाते हैं। इसलिए रे मन, राग द्वेष को दूर कर परमात्मा में अपने को लगाओ।[6]

---

1. हिन्दी, पद संग्रह 65।
2. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, 47।
3. वही, 81।
4. वही, चेतन कर्म चरित्र, 234–246।
5. वही, परमार्थ पद पंक्ति, शिक्षा छंद, पृ. 108।
6. वही, पंचेन्द्रिय संवाद, 112–124।

मनबत्तीसी में कवि ने मन के चार प्रकार बताये हैं—सत्य, असत्य अनुभय और उभय। प्रथम दो प्रकार संसार की ओर झुकते हैं और शेष दो प्रकार भवपार कराते हैं। मन यदि ब्रह्म में लग गया तो अपार सुख का कारण बना, पर यदि भ्रम में लग गया तो अपार दुःख का कारण सिद्ध होगा। इसलिए त्रिलोक में मन से बली और कोई नहीं। मन दास भी है, भूप भी है। वह अति चंचल है। जीते जी आत्मज्ञान और मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जिसने उसे पराजित कर दिया वही सही योद्धा है। जैसे ही मन ध्यान में केन्द्रित हो जाता है, इन्द्रियां निराश हो जाती हैं और आत्म ब्रह्म प्रगट हो जाता है। मन जैसा मूर्ख भी संसार में कोई दूसरा नहीं। वह सुख-सागर को छोड़कर विष के वन में बैठ जाता है। बड़े-बड़े महाराजाओं ने षट्खण्ड का राज्य किया पर वे मन को नहीं जीत पाये इसलिए उन्हें नरक गति के दुःख भोगना पड़े। मन पर विजय न पाने के कारण ही इन्द्र भी आकर गर्भधारण करता है। अतः भाव ही बन्ध का कारण है और भाव ही मुक्ति का।[1]

कवि भूधरदास ने मन को हाथी मानकर उसके अपर-ज्ञान को महावत के रूप में बैठाया पर उसे वह गिराकर, सुमति की सांकल तोड़कर भाग खड़ा हुआ। उसने गुरु का अंकुश नहीं माना, ब्रह्मचर्य रूप वृक्ष को उखाड़ दिया, अघरज से स्नान किया, कर्ण और इन्द्रियों की चपलता को धारण किया, कुमति रूप हथिनी से रमण किया। इस प्रकार यह मदमत्त-मन-हाथी स्वच्छतापूर्वक विचरण कर रहा है। गुण रूप पथिक उसके पास एक भी नहीं आते। इसलिए जीव का कर्त्तव्य है कि वह उसे वैराग्य के स्तम्भ से बांध ले।

ज्ञान महावत डारि, सुमति संकलगहि खण्डै।
गुरु अंकुश नहिं गिनै, ब्रह्मव्रत-विरख विहुंडै॥
करि सिधत सर न्हौन, केलि अघ-रज सौं ठानै।
करन चपलता धरै, कुमति करनी रति मानै॥
डोलत सुछन्द मदमत्त अति, गुण-पथिक न आवत उरै।
वैराग्य खंभतै बांध नर, मन-मतंग विचरत बुरै॥[2]

एक स्थान पर भूधरदास कवि ने मन को सुआ और जिनचरण को पिंजरा का रूपक देकर सुआ को पिंजरे में बैठने की सलाह दी और अनेक उपमाओं के साथ कर्मों से मुक्त हो जाने का आग्रह किया है—'मेरे मन सुआ जिनपद-पींजरे वसि यार

---

1. वही, मनबत्तीसी, भावन ही तैं बन्ध है, भावन ही तैं मुक्ति॥
जो जानै गति भाव की, सो जानै यह युक्ति॥26॥
वही, फुटकर कविता, 9।

2. जैनशतक, 67 पृ. 26।

साथ न बार रे (भूधरविलास पद 5)। इसी तरह आगे कवि मन को सुरखपंथी कहकर हँस के सांग रूपक द्वारा उसे सांसारिक वासनाओं से विरक्त रहने का उपदेश दिया है और जिनचरण में बैठकर सतगुरु के वचनरूपी मोतियों को चुनने की सलाह दी है—मन हँस हमारी ले शिक्षा हितकारी।' (वही पद 33)

मन की पहेली को कवि दौलतराम ने जब परखा तो वे कह उठे—'रे मन, तेरी को कुटेव यह।' यह तेरी कैसी प्रवृत्ति है कि तू सदैव इन्द्रिय विषयों में लगा रहता है। इन्हीं के कारण तो अनादिकाल से तू निज स्वरूप को पहिचान नहीं सका और शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं कर सका। यह इन्द्रिय सुख पराधीन, क्षण-क्षयी दुःखदायी, दुर्गति और विपत्ति देने वाला है। क्या तू नहीं जानता कि स्पर्श इन्द्रिय के विषय उपभोग में हाथी गड्ढे में गिरता है और परतन्त्र बन कर अपार दुःख उठाता है। रसना इन्द्रिय के वश होकर मछली कांटे में अपना कण्ठ फँसाती है और मर जाती है। गन्ध के लोभ में भ्रमर कमल पर मण्डराता है और उसी में बन्द होकर अपने प्राण गंवा देता है। सौन्दर्य के चक्कर में आकर पतंग दीपशिखा में अपनी आहुति दे डालता है। कर्णेन्द्रिय के लालच में संगीत पर मुग्ध होकर हरिण वन में व्याधों के हाथ अपने को सौंप देता है। इसलिए रे मन, गुरु सीख को मान और इन सभी विषयों को छोड़—

> रे मन तेरी को कुटेव यह, करन-विषय में धावै है।
> इनही के वश तू अनादि तें, निज स्वरूप न लखावै है।
> पराधीन छिन-छीन समाकुल, दुरगति-बिपत्ति चखावै है॥
> फरस विषय के कारन वारन, गरत परत दुःख पावै है।
> रसना इन्द्रीवश झष जल में, कंटक कंठ छिदावै है॥
> गंध-लोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्रान खपावै है।
> नयन-विषयवश दीप शिखा में, अंग पतंग जरावै है॥
> करन विषयवश हिरन अरन में, खलकर प्रान लुभावै है।
> दौलत तज इनको, जिनको भज, यह गुरु-सीख सुनावै है॥[1]

जैनेतर आचार्यों की तरह हिन्दी के जैनाचार्यों ने भी मन को करहा की उपमा दी है। ब्रह्मदीप का मन विषय रूप बेलि को चरने की ओर झुकता है पर उसे ऐसा करने के लिए कवि आग्रह करता है क्योंकि उसी के कारण उसे संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाना पड़े—"मन करहा भव बनिमा चरइ, तदि बिष वेल्लरी बहुत। तहं चरंतहं बहु दुखु पाइयउ, तब जानहु गौ मीत।" इस विषयवासना में शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं होगी। रे मूढ़, इस मन रूपी हाथी को बिन्ध्य की ओर

1. अध्यात्म पदावली, पद 1, पृ. 339।

जाने से रोको अन्यथा यह तुम्हारे शील रूप वन को तहस-नहस कर देगा। फलतः तुम्हें संसार में परिभ्रमण करते रहना पड़ेगा—

> अरे मणकरह म रइ करहि इंदियविसय सुहेण।
> सुक्खु णिरंतरु जेहि णवि मुच्चहि ते वि खणेण ॥
> अम्मिय इहु मणु हत्थिया विंझहं जंतउ वारि।
> तं भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि ॥[1]

भगवतीदास को मन सबसे अधिक प्रबल लगा। त्रिलोकों में भ्रमण कराने वाला यही मन है। वह दास भी है। उसका स्वभाव चंचलता है। उसे वश में किये बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मन को ध्यान में केन्द्रित करते ही इन्द्रियां निराश हो जाती हैं और आत्मब्रह्म प्रकाशित हो जाता है।

> मन सो बली न दूसरो, देख्यो इहिं संसार ॥
> तीन लोक में फिरत ही, जतन लागै बार ॥ 8 ॥
> मन दासन को दास है, मन भूपन को भूप ॥
> मन सब बातनि योग्य है, मन की कथा अनूप ॥ 9 ॥
> मन राजा की सैन सब, इन्द्रिन से उमराव ॥
> रात दिना दौरत फिरै, करै अनेक अन्याव ॥ 10 ॥
> इन्द्रिय से उमराव जिहं, विषय देश विचरंत ॥
> भैया तिह मन भूपको, को जीतै विन संत ॥ 11 ॥
> मन चंचल मन चपल अति, मन बहु कर्म कमाय ॥
> मन जीते बिन आतमा, मुक्ति कहो किम थाय ॥ 12 ॥
> मनसो जोधा जगत में, और दूसरो नाहिं ॥
> ताहि पछारै सो सुभट, जीत लहै जग माहिं ॥ 13 ॥
> मन इन्द्रिन को भूप है, ताहि करै जो जेर ॥
> सो सुख पावै मुक्ति के, या में कछु न फेर ॥ 14 ॥
> जब मन मूंधो ध्यान में, इन्द्रिय भई निराश ॥
> तब इह आतम ब्रह्म ने, कीने निज परकाश ॥ 15 ॥[2]

बुधजन को संसार में उलझा हुआ मन बावला-सा लगने लगा और पर वस्तुओं को अपने अधिकार में करना चाहता है—"मनुआ बावला हो गया। (बुधजन विलास, पद 104), इसी तरह वे अन्यत्र कह उठते हैं—हां मनाजी थारि गति बुरी छै

---

1. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. 177।
2. ब्रह्मविलास, पृ. 262।

दुखदाई हो। निज कारण में नेक न लावत पर सौं प्रीति लगाई हो (वही, पद 62)। और जब तक जाते हैं तो मन को उसकी अनन्त चतुष्टयी शक्ति का स्मरण कराकर कह उठते हैं—रे मन मेरा तू मेरौ कह्यौ मान-मान रे (वही, पद 64)।

द्यानतराय मन को सन्तोष धारण करने का उद्बोधन करते हैं और उसी को सबसे बड़ा धन मानते हैं—"गाहु सन्तोष सदा मन रे, जा सम और नहीं धन दै" (द्यानत पद संग्रह, पद 61)। इसलिए वे विषय भोगों को विष-बेल के समान मान-कर जिन नाम स्मरण करने के लिए प्रेरित करते हैं—"जिन नाम सुमर मन बावरे कहा इत उत भटकै। विषय प्रकट विष बेल हैं जिनमें जिन अटकै।" (वही, पद 102) वीतराग का ध्यान ही उनकी दृष्टि में सदैव सुखकारी है—कर मन ! वीतराग को ध्यान। ……द्यानत यह गुन नाम मालिका पहिर हिये सुखदान (वही, पद 61)।

इस प्रकार हमने देखा कि उक्त बाधक तत्वों के कारण साधक साधना पथ पर अग्रसर नहीं हो पाता। कभी वह सांसारिक विषय-वासनाओं को असली सुख मानकर उसी में उलझ जाता है, कभी शरीर से ममत्व रखने के कारण उसी की चिन्ता में लीन रहता है, कभी कर्मों के आश्रव आने और शुभ-अशुभ कर्मजाल में फँसने के कारण आत्म-कल्याण नहीं करता, कभी मिथ्यात्व, माया-मोह आदि के आवरण में लिप्त रहता है, कभी बाह्याडम्बरों को ही परमार्थ का साधन मानकर उन्हीं क्रिया-काण्डों मे प्रवृत्त रहता है और कभी मन की चंचलता के फलस्वरूप उसका साधना रूपी जहाज डगमगाने लगता है जिससे रहस्य साधना का पथ ओझल हो जाता है।

षष्ठ परिवर्त

रहस्य भावना के साधक तत्त्व

रहस्य भावना के पूर्वोक्त बाधक तत्त्वों को दूर करने के बाद साधक का मन निश्छल और शांत हो जाता है। वह वीतरागी सद्गुरु की खोज में रहता है। सद्गुरु प्राप्ति के बाद साधक उससे संसार-सागर से पार होने के लिए मार्ग-दर्शन की आकांक्षा व्यक्त करता है। सद्गुरु की अमृतवाणी को सुनकर उसे संसार से वैराग्य होने लगता है। वह संसार की प्रवृत्ति को अच्छी तरह समझने लगता है, शरीर की अपवित्रता, विनश्वर शीलता और नरभव-दुर्लभता पर विचार करता है, आत्म सम्बोधन, पश्चात्ताप आदि के माध्यम से आत्मचिन्तन करता है, वासना और कर्म फल का अनुभव करने लगता है, चेतन और कर्म के सम्बन्ध पर गम्भीरता-पूर्वक मनन करता है, आश्रव और बन्ध के कारणों को दूर कर संवर और निर्जरा तत्त्व की प्राप्ति करने का प्रयत्न करता है। बाह्य क्रियाओं से मुक्त होकर अन्तः-करण को विशुद्ध करता है, स्व-पर विवेक रूप भेदविज्ञान को प्राप्त करता है और सम्यग्दर्शन और ज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए साधना करता है। इस स्थिति मे आते-आते साधक का चित्त मिथ्यात्व की ओर से पूर्णतः दूर हट जाता है तथा भेदविज्ञान में स्थिरता लाने के लिए साधक तप और वैराग्य के माध्यम से परमार्थ रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए क्रमशः शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी बन जाता है। अभी तक साधक के लिए जो तत्त्व रहस्य बना था उसकी गुत्थी धीरे-धीरे रहस्यभावना और रहस्य तत्त्वों के माध्यम से सुलझने लगती है। वह कषाय, लेश्या आदि मार्गणाओं से मुक्त होकर महाव्रतों का अनुपालन कर गुणस्थानों के माध्यम से क्रमशः निर्वाण प्राप्ति की ओर अभिमुख हो जाता है।

1. सद्गुरु

जैन साधना में सद्गुरु प्राप्ति का विशेष महत्व है। विशेषतः उसका महत्व रहस्यसाधकों के लिए है, जिन्हें वह साधना करने की प्रेरणा देता है। रहस्यसाधना

में जो तत्त्व बाधा डालते हैं उनके प्रति प्रकृति जाग्रत कर साधना की ओर अग्रसर करता है। साधना में सद्गुरु का स्थान वही है जो अर्हन्त का है। जैन साधकों ने अर्हन्त-तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और साधु को सद्गुरु मानकर उनकी उपासना, स्तुति और भक्ति की है।[1] मोहादिक कर्मों के बने रहने के कारण वह 'बड़े भागनि' से हो पाती है।[2] कुशल लाभ ने गुरु श्री पूज्यवाहण के उपदेशों को कोकिल-कामिनी के गीतों में, मयूरों की थिरकन में और चकोरों के पुलकित नयनों में देखा। उनके ध्यान में स्नान करते ही शीतल पवन की लहरें चलने लगती हैं। सकल जगत् सुयश की सुगन्ध से महकने लगता है, सातों क्षेत्र सुधर्म से आपूर हो जाता है। ऐसे गुरु के प्रसाद की उपलब्धि यदि हो सके तो शाश्वत सुख प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं होगी—

> 'सदा गुरु ध्यान स्नानलहरि शीतल वहइ रे।
> कीर्ति सुजस विसाल सकल जग मह महइ रे।
> साते क्षेत्र सुठाम सुधर्मह नीपजई रे।
> श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे।।[3]

सोमप्रभाचार्य के भावों का अनुकरण कर बनारसीदास ने भी गुरु सेवा को 'पापपथ परिहरहिं धरहिं शुभपंथ पग' तथा 'सदा अवांछित चित्त जुतारन तरन जग' माना है। सद्गुरु की कृपा से मिथ्यात्व का विनाश होता है। सुगति-दुर्गति के विधायक कर्मों के विधि-निषेध का ज्ञान होता है, पुण्य-पाप का अर्थ समझ में आता है, संसार-सागर को पार करने के लिए सद्गुरु वस्तुतः एक जहाज है। उसकी समानता संसार में और कोई भी नहीं कर सकता—

> मिथ्यात्व दलन सिद्धान्त साधक, मुकतिमारग जानिये।
> करनी अकरनी सुगति दुर्गति, पुण्य पाप बखानिये।।
>
> ससार सागर तरन तारन, गुरु जहाज विशेखिये।
> जगमांहि गुरुसम कहू 'बनारसि', और कोउ न पेखिये।।[4]

कवि का गुरु अनन्तगुणी, निराबाधी, निरुपाधि, अविनाशी, चिदानंदमय और ब्रह्मसमाधिमय है। उनका ज्ञान दिन में सूर्य का प्रकाश और रात्रि में चन्द्र का प्रकाश है। इसलिए हे प्राणी, चेतो और गुरु की अमृत रूप तथा निश्चयव्यवहारनय

---

1. बनारसीविलास, पंचपदविधान।
2. हिन्दी पद संग्रह, रूपचन्द, पृ. 48.
3. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117.
4. बनारसीविलास, पृ. 24.

रूप वाणी को सुनो। मर्मी व्यक्ति ही मर्म को जान पाता है।[1] गुरु की वाणी को ही उन्होंने जिनागम कहा और उसकी ही शुभधर्मप्रकाशक, पापविनाशक, कुनयभेदक, तृष्णानाशक आदि रूप से स्तुति की।[2] जिस प्रकार से अंजन रूप औषधि के लगाने से तिमिर रोग नष्ट हो जाते हैं वैसे ही सद्गुरु के उपदेश से संशयादि दोष विनष्ट हो जाते हैं।[3] शिव पच्चीसी में गुरु वाणी को 'जलहरी' कहा है।[4] उसे सुमति और शारदा कहकर कवि ने सुमति देव्यष्टोत्तर शतनाम तथा शारदाष्टक लिखा है जिनमें गुरुवाणी को 'सुधाधर्म संसाधनी धर्मशाला, सुधातापनि नाशनी मेघमाला। महामोह विध्वंसनी मोक्षदानी' कहकर 'नमोदेवि वागेश्वरी जैनवानी' आदि रूप से स्तुति की है।[5] केवलज्ञानी सद्गुरु के हृदय रूप सरोवर से नदी रूप जिनवाणी निकलकर शास्त्र रूप समुद्र में प्रविष्ट हो गई। इसलिए वह सत्य स्वरूप और अनन्तनयात्मक है।[6] कवि ने उसकी मेघ से उपमा देकर सम्पूर्ण जगत के लिए हितकारिणी माना है।[7] उसे सम्यग्दृष्टि समझते है और मिथ्यादृष्टि नहीं समझ पाते। इस तथ्य को कवि ने अनेक प्रकार से समझाया है। जिस प्रकार निर्वाण साध्य है और अरहंत, श्रावक, साधु, सम्यक्त्व आदि अवस्थायें साधक हैं, इनमें प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है। ये सब अवस्थायें एक जीव की हैं ऐसा जानने वाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।[8]

सहजकीर्ति गुरु के दर्शन को परमानददायी मानते हैं—'दरशन नधिक आणंद जंगम सुर तरुकद।' उनके गुण अवर्णनीय हैं–'वरणवी हूं नवि सकूं।'[9] जगतराम ध्यानस्थ होकर अलख निरंजन को जगाने वाले सद्गुरु पर बलिहारी हो जाता है[10] और फिर सद्गुरु के प्रति 'ता जोगी चित लावो मोरे वालो' कहकर

1. हिन्दी पद संग्रह, रूपचन्द, पृ. 48.
2. बनारसीविलास, भाषा मुक्तावली, पृ. 20, पृ. 27.
3. वही, ज्ञानपच्चीसी, 13, पृ. 148.
4. वही, शिवपच्चीसी, 6, पृ. 150.
5. वही, शारदाष्टक, 3, पृ. 166.
6. नाटक समयसार, जीवद्वार, 3.
7. ज्यौं वरषै वरषा समै, मेघ अखंडित धार।
   त्यौं सद्गुरु वानी खिरै, जगत जीव हितकार॥ वही, सत्यसाधक द्वार, 6, पृ. 338.
8. नाटक समयसार, 16, पृ. 38.
9. जिनराजसूरी गीत, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, 2, 7, पृ. 174–176.
10. तेरहपंथी मंदिर जयपुर, पद संग्रह, 946, पत्र 63–64.

अपना अनुराग प्रगट किया है। वह शील रूप लंगोटी में संयम रूप डोरी से गाँठ लगाता है क्षमा और करुणा का नाद बजाता है तथा ज्ञान रूप गुफा में दीपक संजोकर चेतन को जगाता है। कहता है, रे चेतन, तुम ज्ञानी हो और समझाने वाला सद्गुरु है तब भी तुम्हारे समझ में नहीं आता, यह आश्चर्य का विषय है।

सद्गुरु तुमहिं पढ़ावैं चित दै अरु तुमहू हौ ज्ञानी,
तबहूं तुमहिं न क्यों हू आवैं, चेतन तत्व कहानी।[2]

पांडे हेमराज का गुरु दीपक के समान प्रकाश करने वाला है और वह तमनाशक और वैरागी है।[3] उसे आश्चर्य है कि ऐसे गुरु के वचनों को भी जीव न तो सुनता है और न विषयवासना तथा पापादिक कर्मों से दूर होता है।[4] इसलिए वह कह उठता है—'सीष सगुरु की मानि लै रे लाल।'[5]

रूपचन्द की दृष्टि मे गुरु-कृपा के बिना भवसागर से पार नहीं हुआ जा सकता।[6] ब्रह्मदीप उसकी ज्योति में अपनी ज्योति मिलाने के लिए आतुर दिखाई देते हैं—'कहै ब्रह्मदीप सजन समुझाई करि जोति मे जोति मिलावै।[7]

ब्रह्मदीप के समान ही आनंदघन ने भी 'अवघू' के सम्बोधन से योगी गुरु के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[8] भैया भगवतीदास ने ऐसे ही

---

1. ता जोगी चित लावों मोरे बाला ॥
   संजम डोरी शील लंगोटी घुलघुल, गाठ लगाले मोरे बाला।
   ग्यान गुदड़िया गल विच डाले, आसन दृढ़ जमावे ॥1॥
   क्षमा की सौति गलै लगावै, करुणा नाद बजावे मोरे बाला।
   ज्ञान गुफा में दीपक जो के चेतन अलख जगावे मोरे बाला ॥
   हिन्दी पद संग्रह, पृ. 99.
2. गीत परमार्थी, परमार्थ जकड़ी संग्रह, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई,
3. गुरु पूजा 6, बृहज्जिनवाणी संग्रह, मदनगंज, किशनगढ़, सितम्बर, 1955, पृ. 201.
4. ज्ञानचिन्तामणि, 35, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति.
5. सुगुरु सीष, दीवान बधीचन्द मंदिर, जयपुर, गुटका नं. 161.
6. गुरु बिन भेद न पाइय, को पर को निज वस्तु।
   गुरु बिन भवसागर विषइ, परत गहइ को हुस्त ॥ अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद. पृ. 97.
7. मनकरहारास, आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति.
8. आनंदघन बहोत्तरी, 97.

योगी सद्गुरु के वचनामृत द्वारा संसारी जीवों को सचेत हो जाने के लिए आवाहन किया है—

एतौ दुःख संसार में, एतौ सुख सब जान।
इमि लखि भैया चेतिये, सुगुरुवचन उर आन ।।[1]

मधुबिंदुक की चौपाई में उन्होंने अन्य रहस्यवादी सन्तों के समान गुरु के महत्व को स्वीकार किया है। उनका विश्वास है कि सद्गुरु के मार्गदर्शन के बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता, पर वीतरागी सद्गुरु भी आसानी से नहीं मिलता, पुण्य के उदय से ही ऐसा सद्गुरु मिलता है—

'सुभटा सोचै हिए मझार। ये गुरु सांचे तारनहार।।
मैं शठ फिरयो करम वन मांहि। ऐसे गुरु कहुं पाए नांहि।
अब मो पुण्य उदय कुछ भयौ। सांचे गुरु को दर्शन लयो।।[2]

पांडे रूपचन्द गीत परमार्थी में आत्मा को सम्बोधते हुए सद्गुरु के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सद्गुरु अमृतमय तथा हितकारी वचनों से चेतन को समझाता है :—

चेतन, अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै।
अमृत वचन हितकारी, सद्गुरु तुमहिं पढ़ावें।
सद्गुरु तुमहिं पढ़ावें चित दै, अारु तुमहू हौ ज्ञानी।
तबहूं तुमहिं न क्यों हू आवै, चेतन तत्त्व कहानी।।[3]

दौलतराम जैन गुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए चिंतित दिखाई देते हैं कि उन्हें वैसा गुरु कब मिलेगा जो कंचन-कांच में व निंदक-वंदक में समताभावी हो, वीतरागी हो, दुर्धर तपस्वी हो, अपरिग्रही हो, संयमी हो। ऐसे ही गुरु भवसागर से पार करा सकते हैं—

कब हो मिलें मोहि श्री गुरु मुनिवर करि हैं भवोदधि पारा हो।
भोग उदास जोग जिन लीन्हों छाड़ि परिग्रह भारा हो।।
कंचन-कांच बराबर जिनके, निंदक-वंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक् निजघर मन वचन कर धारा हो।।
ग्रीषम गिरि हिम सरिता तीरे पावस तरुतर ठारा हो।
करुणा भीन हीन त्रस थावर ईर्यापथ समारा हो।।

---

1. मधुबिन्दुक की चौपाई; 58, ब्रह्मविलास, पृ. 130.
2. ब्रह्मविलास, पृ. 270.
3. गीत परमार्थी, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 171.

मास छमास उपास बासबन पासुक करत अहारा हो ।
आरत रौद्र लेश नहिं जिनके धर्म शुक्ल चित धारा हो ।।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम शुद्ध उपयोग विचारा हो ।
आप तरहि औरनि को तारहिं, भव जल सिन्धु अपारा हो ।
दौलत ऐसे जैन जतिम को निजप्रति धोक हमारा हो ।।
(दौलत विलास, पद 72)

द्यानतराय को गुरु के समान और दूसरा कोई दाता दिखाई नहीं दिया । तदनुसार गुरु उस अन्धकार को नष्ट कर देता है जिसे सूर्य भी नष्ट नहीं कर पाता, मेघ के समान सभी पर समानभाव से निस्वार्थ होकर कृपा जल बरषाता है, नरक तिर्यंच आदि गतियों से जीवों को लाकर स्वर्ग-मोक्ष में पहुंचाता है । अतः त्रिभुवन में दीपक के समान प्रकाश करनेवाला गुरु ही है । वह संसार सागर से पार लगाने वाला जहाज है । विशुद्ध मन से उसके पद-पंकज का स्मरण करना चाहिए ।[1]

कवि विषयवासना में पगे जीवों को देखकर सहानुभूतियों पूर्वक कह उठता है—

जो तजै विषय की आसा, द्यानत पावै सिवबासा ।
यह सतगुरु सीख बनाई काहूं विरलै के जिय आई ।।[2]

भूधरदास को भी श्रीगुरु के उपदेश अनुपम लगते है । इसलिए वे सम्बोधित कर कहते हैं—"सुन ज्ञानी प्राणी, श्रीगुरु सीख सयानी ।[3] गुरु की यह सीख रूप गंगा नदी भगवान महावीर रूपी हिमाचल से निकली, मोह-रूपी महापर्वत को भेदती हुई आगे बढ़ी, जग की जड़ता रूपी आतप को दूर करते हुए ज्ञान रूप महासागर में गिरी, सप्तभंगी रूपी तरगे उछलीं । उसको हमारा शतशः वन्दन । सद्गुरु की यह वाणी अज्ञानान्धार को दूर करने वाली हैं ।

---

1. गुरु समान दाता नहिं कोई ।
   भानु प्रकाश न नासत जाको, सो अंधियारा डारे खोई ।। 1 ।।
   मेघ समान सबन पै बरसै, कछु इच्छा जाके नहिं होई ।
   नरक पशुगति आगमाहितै सुरग मुकत सुख थापै सोई ।। 2 ।।
   तीन लोक मंदिर में जानो, दीपकसम परकाशक लोई ।
   दीपतलें अंधियारा भरयौ है अन्तर बहिर विमल है जोई ।। 3 ।।
   तारन तरन जिहाज सुगुरु है, सब कुटुम्ब डोबै जगतोई ।
   द्यानत निशिदिन निरमल मन में, राखो गुरु पद-पंकज दोई ।।4।।
   द्यानत पद संग्रह, पृ. 10.
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 126-127, 133.
3. भूधर विलास, 7 पृ. 4.

बुधजन सद्गुरु की सीख को मान लेने का आग्रह करते हैं—"सुठिल्यौ जीव सुजान सीख गुरु हित की कही। रुल्यौ अनन्ती बार गति-गति साता न लही। (बुधजन विलास, पद 99), गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्याले से बुधजन सारे जंगलों से दूर हो गये :—

गुरु ने पिलाया जो ज्ञान प्याला।
यह बेखबरी परभावां की निजरस में मतवाला।
यों तो छाक जात नहिं छिनहूं मिटि गये आन जंजाल।
अद्भुत आनन्द मगन ध्यान में बुद्धजन हाल सम्हाला ।।
—बुधजन विलास, पद 77

समय सुन्दर की दशा गुरु के दर्शन करते ही बदल जाती है और पुण्य दशा प्रकट हो जाती है–आज कू धन दिन मेरउ।पुण्यदशा प्रगटी अब मेरी पेखतु गुरु मुख तेरउ ।। (ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ. 129) साधुकीर्ति तो गुरु दर्शन के बिना विह्वल-से दिखाई देते हैं। इसलिए सखि से उनके आगमन का मार्ग पूछते हैं। उनकी व्याकुलता निर्गुण संतों की व्याकुलता से भी अधिक पवित्रता लिए हुए है (ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ. 91.)।

वीर हिमाचल तैं निकसी, गुरु गौतम के मुखकुण्ड ढरी है।
मोह महाचल भेद चली, जग की जड़ता तप दूर करी है ।।
ज्ञान पयोनिधिमांहि रली, बहु भंग-तरंगनी सौं उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति, मैं अंजुरी निज सीस धरी है।[1]

इस प्रकार सद्गुरु और उसकी दिव्य वाणी का महत्व रहस्य-साधना की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सद्गुरु के प्रसाद से ही सरस्वती[2] ! और एकचित्तता की प्राप्ति होती है।[3] ब्रह्म मिलन का मार्ग यही सुझाता है। परमात्मा से साक्षात्कार कराने में सद्गुरु का विशेष योगदान रहता है। माया का आच्छन्न आवरण उसी के उपदेश और सत्संगति से दूर हो पाता है। फलतः आत्मा विशुद्ध बन जाता है। उसी विशुद्ध आत्मा को पूज्यपाद ने निश्चय नय की दृष्टि से सद्गुरु कहा है।[4]

---

1. जैनशतक, 14-15, पृ. 6-7.
2. सिद्धान्त चौपाई, लावण्य समय, 1-2.
3. सारसिखामनरास, संवेग सुन्दर उपाध्याय, बड़ा मन्दिर, जयपुर की हस्तलिखित प्रति
4. नयत्यात्मात्मेव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मन स्तर स्मान्नान्यो स्ति परमार्थतः ।।75।। समाधि तन्त्र, 75.

2. नरभव दुर्लभता

प्रायः सभी दार्शनिकों ने नरभव की दुर्लभता को स्वीकार किया है। यह सम्भवतः इसलिए भी होगा कि ज्ञान की जितनी अधिक गहराई तक मनुष्य पहुंच सकता है उतनी गहराई तक अन्य कोई नहीं। साथ ही यह भी स्थायी तथ्य है कि जितना अधिक अज्ञान मनुष्य में हो सकता है उतना और दूसरे में नहीं। ज्ञान और अज्ञान दोनों की प्रकर्षता यहां देखी जा सकती है। इसलिए आचार्यों ने मानव की शक्ति का उपयोग उसके अज्ञान को दूर करने में लगाने के लिए प्रेरित किया है। एतदर्थ सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि साधक के मन में नरभव की दुर्लभता समझ में आ जाय। महात्मा बुद्ध ने भी अनेक बार अपने शिष्यों को इसी तरह का उपदेश दिया था।[1]

मन की चंचलता से दुःखित होकर रूपचन्द कह उठते हैं–"मन मानहि किन समझायो रे।" यह नरभव-रत्न अथक प्रयत्न करने पर सत्कर्मों के कारण प्राप्त हो सका है। पर उसे हम विषय-वासनादि विकार-भाव रूप काचमणि से बदल रहे हैं।[2] जैसे कोई व्यक्ति धनार्जन की लालसा से विदेश यात्रा करे और चिन्तामणि रत्न हाथ आने पर लौटते समय उसे पाषाण समझ कर समुद्र में फेंक दे। उसी प्रकार कोई भवसागर में भ्रमण करते हुए सत्कर्मों के प्रभाव से नरजन्म मिल जाता है पर यदि अज्ञानवश उसे व्यर्थ गवा देता है तो उससे अधिक मूढ और कौन हो सकता है?[3] सोमप्रभाचार्य के शब्दों को बनारसीदास ने पुनः कहा कि जिस प्रकार अज्ञानी व्यक्ति सजे हुए मतंगज से ईंधन ढोये, कंचन पात्रों को धूल से भरे, अमृत रस से पैर धोये, काक को उड़ाने के लिए महामणि को फेंक दे और फिर रोये, उसी प्रकार इस नरभव को पाकर यदि निरर्थक गंवा दिया तो बाद में पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा।

> ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतगंज ईंधन ढोवै।
> कंचन भाजन धूल भरै शठ, मूढ सुधारस सौं पग धोवै।।
> बाहित काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवै।
> त्यों यह दुर्लभ देह 'बनारसि' पाय अजान अकारथ खोवै।।[4]

---

1. थेरीगाथा, 4,459 आदि,
2. नरभवरतन जतन बहुतनि तैं, करम-करम करि पायो रे।
   विषय विकार काचमणि बदले, सु अहलै जान गवायो रे।। हिन्दी पद संग्रह, पृ. 34.
3. बनारसीविलास, भाषा सूक्तमुक्तावली, 5 पृ. 19.
4. वही, भाषा सूक्त मुक्तावली, पृ. 19.

द्यानतराय ने 'नहि ऐसो जनम बारम्बार' कहकर यही बात कही है। उनके अनुसार यदि कोई नरभव को सफल नहीं बनाता तो 'अंध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गँवार' वाली कहावत उसके साथ चरितार्थ हो जायेगी।[1] भैया भगवतीदास ने व्यक्ति को पहले उसे सांसारिक इच्छाओं की ओर से सचेत किया है और फिर नर-जन्म की दुर्लभता की ओर संकेत किया। जीव अनादिकाल से मिथ्याज्ञान के वशीभूत होकर कर्म कर रहा है। कभी वह रामा के चक्कर में पड़ता है तो कभी धन के, कभी शरीर से राग करता है तो कभी परिवार से। उसे यह ध्यान नहीं कि 'आज कालि पींजरे सौं पंछी उड़ जातु है।'[2] रे चिदानद, तुम अपने मूल स्वरूप पर विचार करो। जब तक तुम और रूप में पगे रहोगे, तब तक वास्तविक सुख तुम्हें नहीं मिल सकेगा। इन्द्रिय सुख को यदि तुम वास्तविक सुख मानते हो तो इससे अधिक भूल तुम्हारी और क्या होगी? यह सुख क्षणिक है और तुम्हारा स्वरूप अविनाशी है। ऐसा नरजन्म पाकर विवेकी बनो और कर्मरोग से मुक्त होओ, इसी मे कल्याण है। अन्यथा पश्चात्ताप करना पड़ेगा।[3] तुमने इतनी गाढ़ निद्रा ली जो साधारणत: और कोई नहीं लेता। अब तुम्हारे हाथ चिन्तामणि आया है, नरभव पाया है इसलिए घट की आंखें खोल और जौहरी बन।[4]

संसार की करुण स्थिति को देखकर भी यह मूढ नर भयभीत नही होता। इस मनुष्य जन्म को पाकर सोते-सोते ही व्यतीत कर दिया जाय तो बहुत बड़ी अज्ञानता होगी। उस समय की कोइ कीमत नही लगायी जा सकती है। एक-एक पल उसका अमूल्य है।[5] इसलिए कवि ने 'चेतन नरभव पाय कै, हो जानि वृथा क्यों खोवै छे'[6] का उद्घोष किया है। दौलतराम ने चतुर्गति के दु:खो का वर्णन करते हुए "दुर्लभ लहि ज्यो चिन्तामणि त्यो पर्यायलही त्रसतणी' कहकर मनुष्य को सचेत किया है।[7] बुधजन के भावो को देखिये, कितनी आतुरता और व्यग्रता दिखाई दे रही है उनके शब्दों में :—

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 116.
2. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, 21,22,44.
3. वही, 42,43.
4. वही, शतअष्टोत्तरी, 83-85, परमार्थपद पंक्ति, 5.
5. जैन शतक, भूधरदास, 21.
6. हिन्दी पद संग्रह, बख्तरामसाह, पृ. 166.
7. छहढाला, प्रथम ढाल, 1-6.

नरभव पाय फेरि दुःख भरना, ऐसा काज न करना हो ।
नाहक ममत ठानि पुद्गलसों, करम जालक्यों परना हो ।। नरभव० ।।1।।
यह तो जड़, तू ज्ञान-अरूपी, तिल तुष ज्यों गुरु वरना हो ।
राग-दोष तजि, भज समता कों, कर्म साथ के हरना हो ।।2।।
यों भव पाय विषय-सुख सेना, गज चढ़ि ईंधन ढोना हो ।
'बुधजन' समुझि सेय जिनवर-पद, ज्यों भवसागर तरना हो ।।3।।[1]

कविवर विषयासक्त व्यक्ति की आहट को पहचानते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि तुमने अभी तक बहुत बिगार किया है अपना। यह नरभव मुक्ति-महल की सीढ़ी है, संसार-सागर से पार कराने वाला तट है फिर क्यों इसे व्यर्थ खो रहा है–

"अरे हाँ तैं तो सुधरी बहुत बिगारी ।
ये गति मुक्ति महल की पौरी पाय रहत क्यों पिछारी।"

(बुधजन विलास, पद 26)

भूधरदास सचेत होकर नरभव की सफलता की बात करते हैं—

अरे हा चेतो रे भाई ।
मानुष देह लही दुलही, सुधरी उधरी भवसंगति पाई ।
जे करनी वरनी करनी नहिं, समझी करनी समझाई ।
यों शुभ थान जग्यौ उर ज्ञान, विषै विषपान तृषा न बुझाई ।
पारस पाय सुधारस भूधर, भीख के मांहि सुलाज न आई ।।

(भूधर विलास, पद 46)

बिहारीदास को नरभव व्यर्थ करना समुद्र में राई फेंक कर पुनः प्राप्त करना जैसा लगा–"आतम कठिन उपाय पाय नरभव क्यों तजै राई उदधि समानी फिर ढूंढ नही पाइये।"[2] नरभव दुर्लभता के चिन्तन के साथ ही साधक का मन संसार और शरीर की नश्वरता पर भी टिक जाता है।[3] उसका मन तथाकथित सांसारिक सुखों की ओर से हटकर स्थायी सुख की प्राप्ति में लग जाता है। अब वह समझने लगता है कि सांसारिक सुख वस्तुतः वास्तविक सुख नही बल्कि सुखाभास है। नरभव दुर्लभता का चिन्तन इस चिन्तन को और आगे बढ़ा देता है।

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 181-192.
2. सम्बोधपंचासिका, 3 दिगम्बर जैन मन्दिर बड़ौत की हस्तलिखित प्रति,
3. प्रस्तुत विषय पर 'रहस्य भावना के बाधक तत्त्व" नामक अध्याय में विस्तार से मध्यकालीन कवियों के विचार प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

3. आत्म सम्बोधन

नरभव दुर्लभता, शरीर आदि विषयों पर चिन्तन करने के साथ ही साधक अपने चेतन को आत्म सम्बोधन से सन्मार्ग पर लगाने की प्रेरणा देता है। इससे असदवृत्तियाँ मन्द हो जाती हैं और साध्य की ओर भी एकाग्रता बढ़ जाती है साधक स्वयं आगे आता है और संसार के पदार्थों की क्षणभंगुरता आदि पर सोचता है।

बनारसीदास अपने चेतन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि रे चेतन, तू त्रिकाल में अकेला ही रहने वाला है। परिवार का संयोग तो ऐसा ही है, जैसे नदी-नाव का संयोग होता है। जहाँ संयोग होता है वहां वियोग भी निश्चित ही है। यह संसार असार है, क्षणभंगुर है। बुलबुले के समान सुख, संपत्ति, शरीर आदि सभी कुछ नष्ट होने वाले हैं। तू मोह के कारण उनमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि आत्मा के समूचे गुणों को भूल गया है। 'मैं मैं' के भाव में चतुर्गतियों में भ्रमण करता रहा। अभी भी मिथ्यामत को छोड़ दे और सद्गुरु की वाणी पर श्रद्धा कर ले। तेरा कल्याण हो जायेगा।[1] रे चेतन, तू अभी भी मिथ्याभ्रम की घनघोर निद्रा में सोया हुआ है। जबकि कषाय रूप चार चोर तुम्हारे घर को नष्ट किये दे रहे हैं—

> चेतन तुहु जनि सोवहु नीद अघोर।
> चार चोर घर मूसंहि सरबस तोरो।

इसलिए तू राग द्वेष आदि छोड़कर और कनक -कामिनी से सम्बन्ध त्याग अचेतन पदार्थों की सगति में तू सब कुछ भूल गया। तुझे यह तो समझना चाहिए था कि चकमक में कभी आग निकलती नही दिखती।[2] आगे कवि अपनी आत्मा को सम्बोधते हुए कहते हैं—

"तू आतम गुन जानि रे जानि, साधु वचन मनि आनि रे आनि। भरत चक्रवर्ती, रावण आदि पौराणिक महापुरुषों का उदाहरण देकर वे और भी अधिक स्पष्ट करते हैं कि अन्त समय आने पर "और न तोहि छुड़ावन हार।"[3]

---

1. चेतन तू तिहूकाल अकेला,
   नदी नाव संजोग मिलै ज्यों, त्यों कुटुम्ब का मेला। चेतन ॥1॥
   यह संसार असार रूप सब, ज्यों पटमेखन खेला।
   सुख संपत्ति शरीर जलबुद बुद, विनशत नाहीं बेला॥
   कहत 'बनारसि' मिथ्यामत तज, होय सुगुरु का चेला।
   तास वचन परती न आन जिय, होइ सहज सुरझेला। चेतन ॥3॥
   बनारसी विलास, अध्यातमपद पंक्ति, 2.
2. बनारसी विलास, अध्यातमपद पंक्ति, 9-20.
3. वही, अध्यातम पद पंक्ति, 8.

यह संसारी जीवात्मा पर पदार्थों में अधिक रुचि दिखाता है और स्वयं अपने गुणों को भूल जाता है—चेतन उलटी चाल चले।

जड़ संगत तैं जड़ता व्यापी निज गुन सकल टले।

यह चेतन बार-बार मोह में फंस जाता है इसलिए वे उसे अपने आप को सम्भालने को कहते हैं—

चेतन तोहिन नेक संसार,
नख शिख लौं दृढ़ बन्धन बैठे कौन निखार।[1]

इसीलिए बनारसीदास संसारी जीव को 'भौंदू' कहकर सम्बोधित करते हैं। उनके इस शब्द में कितनी यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है यह देखते ही बनता है। उनका कथन हैं-रे भौंदू, ये जो चर्म चक्षु हैं जिनसे तुम पदार्थों का दर्शन करते हो, वस्तुतः ये तुम्हारी नहीं है। उनकी उत्पत्ति भ्रम से होती है और जहां भ्रम होता है वहां श्रम होता है। जहां श्रम होता है वहां राग होता है। जहां राग होता है वहां मोहादिक भाव होते हैं, जहां मोहादिक भाव होते हैं वहां मुक्ति प्राप्ति असम्भव है। रे भौंदू, ये चर्म चक्षुएं तो पौद्गलिक हैं, पर तूं तो पुद्गल नही। ये आखें पराधीन हैं। बिना प्रकाश के वे पदार्थ को देख नही सकती। अतः ऐसी आखें प्राप्त करने का प्रयत्न करो जो किसी पर निर्भर न रहें—

भौंदू भाई! समुझ शब्द यह मेरा,
जो तू देखै इन आंखिनसौ तामें कछु न तेरा, भौंदू० ॥1॥
पराधीन बल इन आखिन को, विनु प्रकाश न सूझै।
सो परकाश अगति रवि शशि को, तू अपनों कर बूझे, भौंदू ॥5॥[2]

वास्तविक आखें तो 'हिये की आखें हैं। रे भौंदू, तुम उन्हीं हिये की आखों से देखो जिनसे किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं होता। उनसे अमृत रस की बर्षा होती है। वे केवल ज्ञानी की वाणी को परख सकती हैं। उन आंखों से परमार्थ देखा जाता है जिससे प्राणी कृतार्थ हो जाता है। यही केवली की व्यवस्था है जहां कर्मों का लेष नहीं रहता। उन आंखों के मिलते ही अलख निरंजन जाग जाता है, मुनि ध्यान धारणा करता है। संसार के अन्य सभी कार्य मिथ्या लगने लगते हैं, विषय विकार नष्ट होकर शिव-सुख प्राप्त होता है, समता रस प्रकट होता है, निर्विकल्पावस्था में जीव रमण करने लगता है।[3] बनारसीदास कहते हैं-"वा दिन

---

1. वही, अध्यातम पद पंक्ति, 12.
2. बनारसी विलास, अध्यातम पद पंक्ति, 18, पृ. 234-35.
3. भौंदू भाई देखि हिये की आखें,
   जे करषैं अपनी सुख सम्पत्ति भ्रम की सम्पत्ति नाखैं, भौंदू भाई। वही, 19 पृ. 235.

को कर सोच जिय ! मन में, वा दिन ।।" हे मूढ़ प्राणी जिस दिन आंधी चलेगी उसमें तुम्हें व तुम्हारे परिवार को एवं सम्पत्ति को बह जाना पड़ेगा इसलिए तू इन सब में चित मत लगा और निर्वाण प्राप्ति का मार्ग ग्रहण कर।[1]

भैया भगवतीदास ने जीवन की तीनों अवस्थाओं का सुन्दर चित्रण करके संसारी को उद्बोधित किया है—

भूलि गयी निज रूप अनुपम, मोह- महामद के मतवारे।
तेऊ हू दाव बन्दो अब के तुम चेतन क्यों नहीं चेतन हारे ।।[2]

तुम्हारे घट में चिदानन्द बैठा है उसके रूप को देखने-परखने का उपाय कीजिए—चिदानन्द भैया बिराजित है घट मांहि,

ताके रूप लखिबे को उपाय कछु करिये ।।

पर पदार्थों के संसर्ग से आत्म धर्म को मत भूल। सम्यग्ज्ञानी होकर परमार्थ प्राप्त कर, और शुद्धानुभव रस का पान कर।[3]

व्यक्ति भोगों की ओर सरलता पूर्वक दौड़ता है। उसकी इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए कविवर दौलतराम ने "मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी" कहकर भोगवासना को भुजंग के शरीर (भोग) के समान बताया है जो देखने में तो सुन्दर लगता है पर स्पर्श करते ही डस लेता है और मर्मान्तक पीड़ा का कारण बनता है।[4] जिस प्रकार तोता आकाश में चलने की अपनी गति को भूलकर नलिनी के फंदे में फंसता है और पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार रे आतमन्, तू अपने स्वरूप को भूलकर दुःख सागर में डुबकियां लगाता है।[5] इसलिए वे चेतन को उस ओर से मुड़ने के लिए कहते हैं—

---

1. वही, अष्टपदी मलहार, पृ. 240.
2. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, 50-51 पृ. 19-20.
3. भैया, भरम न भूलिये पुद्गल के परसंग।
 अपनो काज संवारिये, आय ज्ञान के अंग ।।
 आय ज्ञान के अंग आप दर्शन कर लीजे।
 कीजे थिरता भाव' शुद्ध अनुभौ रस पीजे।
 दीजे चउविधि दान, अहो शिव खेत बसैया।
 तुम त्रिभुवन के राय, भरम जिन भूलहु भैया ।।71।। वही, 71, पृ. 24.
4. अध्यातम पदावली पृ, 340.
5. अपनी सुधि भूल आप-आप दुख उपायो।
 ज्यों शुक नभ चाल विसरि, नलिनी लटकायो ।। दौलतराम, अध्यात्म पदावली, पृ. 340.

'जियो तोहि समझायो सौ सौ बार।
देख सगुरु की परहित में रति हित-उपदेश सुनायो सौ सौ बार।
विषय भुजंग सेय दुख पायो, पुनि तिनसों लपटाये।
स्वपद बिसार रच्यो पर पद में, मदरत ज्यौं बौरायो॥
तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो।
क्यों न तजै भ्रम, चाख समामृत, जो नित संत सुहायो॥
अबहूं समुझि कठिन यह नरभव, जिनवृष बिना गमायो।
ते बिलखें मनि डार उदधि में, दौलत को पछतायो॥[1]

जीव के मिथ्याज्ञान की ओर निहार कर द्यानतराय कहे बिना नहीं रह पाते—जानत क्यों नहि हे नर आतम ज्ञानी,

राग द्वेष पुद्गल की संगति निहचै शुद्ध निशानी।[2]

तू मैं मैं की भावना से क्यों ग्रसित है? संसार का हर पदार्थ क्षणभंगुर है पर अविनाशी है—मैं मैं काहे करत है, तन धन भवन निहार।

तू अविनाशी आतमा, विनासीत संसार॥

परन्तु माया मोह के चक्कर में पड़कर स्वयं की शक्ति को भूल गया है। तेरी हर श्वासोच्छ्वास के साथ सोहं-सोहं के भाव उठते है। यही तीनों लोकों का सार है। तुम्हें तो सोहं—छोड़कर अजपाजप में लग जाना चाहिए।[3] उदयराज जती ने प्रीति को सांसारिक मोह का कारण बताकर उससे दूर रहने का उपदेश दिया है—

उदैराज कहै सुणि आतमा इसी प्रीति जिणउँ करै।[4]

रूपचन्द ने चेतन को चतुर सुजान कहकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पहचानने के लिए उद्बोधित करते हैं और कहते है कि पर पदार्थ अपने कभी भी नहीं हो सकते—'रूपचन्द चितचेति नर, अपनौ न होइ निदान' (हिन्दी पद संग्रह,

---

1. अध्यात्मपदावली, 12, पृ. 342.
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 115.
3. सोहं-सोहं होत नित, सांस उसास मंझार।
   ताको अरथ विचारिए, तीन लोक में सार।
   जैसो तैसो आप, थाप निहचै तजि सोहं।
   अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं-सोहं॥ धर्मविलास, पृ. 65.
4. भजन छत्तीसी, 37, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग 2, परिशिष्ट 1, पृ. 142-3; मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृ. 364, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 151.

पद 62)। क्या ओस से कभी प्यास बुझ सकती है ?[1] क्या विषय-सुख से कभी सहज-शाश्वत सुख प्राप्त हो सकता है ? इसलिए रे चेतन ! पर-पदार्थों से प्रीति मत कर। तुम दोनों का स्वभाव बिलकुल भिन्न है। तू विवेकी है और पर पदार्थ जड़ हैं। ऐसी स्थिति में तू कहाँ उनमें फँसा हुआ है–जिय जिन करहि पर सों प्रीति। एक प्रकृति न मिलें जासौं, को मरे तिहि नीति।'[2]

बुधजन को अज्ञानी जीव के इन कार्यों पर अचंभा होता है कि वह पाप कर्म को भी धर्म से सम्बद्ध करता है—

'पाप काज करि धन कौं चाहै, धर्म विषै मैं बतावै छै।'[3]

इसलिए मनराम तो सीधा कह देते हैं—'चेतन इह घर नाहीं तेरौ।' मिथ्यात्व के कारण ही तूने इसे अपना घर माना है। सद्गुरु के वचन रूपी दीपक का प्रकाश मिलने पर यह तेरा अज्ञान-अंधकार अपने आप ध्वस्त हो जायेगा।[4]

भैया भगवतीदास आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए चेतन को सम्बोधते हुए कहते हैं—रे मूढ, आत्मा को पहिचान। वह ज्ञान में है और ध्यान में है। न वह मरता है और न उत्पन्न होता है, न राव है न रंक। वह तो ज्ञान निधान है। आत्म-प्रकाश करता है और अष्ट कर्मों का नाश करता है।[5] सुनो राय चिदानन्द, तुम अनंत काल से इन्द्रिय सुख में रमण कर रहे हो फिर भी तृप्त नहीं हुए।[6]

साधक आत्मसम्बोधन के माध्यम से अपने कृत कर्मों पर पश्चात्ताप करता है जिसे रहस्य भावना की एक विशिष्ट सीढ़ी कही जा सकती है। उसकी यही मानसिक जागरूकता उसे साधना-पथ से विमुख नहीं होने देती। चित्त विशुद्ध हो जाने से सांसारिक आसक्ति कोसों दूर हो जाती है। फलतः वह आत्मचिन्तन में अधिक सघनता के साथ जूट जाता है।

4. आत्मचिन्तन :

जैन दर्शन में सप्त तत्वों में जीव अथवा आत्मा को सर्व प्रमुख स्थान दिया गया है। वहां जीव के दो स्वरूपों वर्णन का मिलता है–संसारी और मुक्त। संसार

---

1 सहज सुख बिन, विषय सुख रस, भोगवत न अघात।
रूपचन्द चित चेत ओसनि, प्यास तौं न बुझात॥
हिन्दी पद संग्रह, पद 37.

2. वही, पद, 38.

3. बुधजन विलास, पद 85.

4. हिन्दी पद संग्रह, पद 352.

5. ब्रह्मविलास, पुण्यपचीसिका, 13, 23.

6. वही, 14–15, पृ. 11.

की भिन्न-भिन्न पर्यायों में भ्रमण करने वाला सकर्म जीव संसारी कहलाता है और जब वह अपने कर्मों से विमुक्त हो जाता है तो उसे मुक्त कहा जाता है। जीव की इन दोनों पर्यायों को क्रमशः आत्मा और परमात्मा भी कहा गया है। सामान्यतः जीव के लिए चिदानन्द, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप, अबद्ध, उपयोगी, चिद्रूप, स्वयंभू, चिन्मूर्ति, धर्मवन्त, प्राणवन्त, प्राणी, जन्तु, भूत, भवभोगी, गुणधारी, कुलाधारी, भेषधारी, अंगधारी, संगधारी, योगधारी, योगी, चिन्मय, अखण्ड, हंस, अक्षर, आत्माराम, कर्म कर्ता, परमवियोगी आदि नामों का प्रयोग किया जाता है और परमात्मा के लिए परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण, परम, प्रधान, अनादि, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, अज, निर्द्वन्द, मुक्त, मुकुन्द, अम्लान, निराबाध, निगम, निरंजन, निर्विकार, निराकार, संसार-शिरोमणि, सुज्ञान, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सिद्ध, स्वामी शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान आदि नाम दिये जाते हैं।[1]

महात्मा आनन्दघन ने पौराणिक शब्दों और अर्थों को छोड़कर आत्मा के राम आदि नये शब्द और उनके नये अर्थ दिये हैं। 'राम' वह है जो निज पद में रमे, 'रहीम' वह है जो दूसरों पर रहम करे, 'कृष्ण' वह है जो कर्मों का क्षय करे, 'महादेव' वह है जो निर्वाण प्राप्त करे, 'पार्श्व' वह है जो शुद्ध आत्मा का स्पर्श करे, ब्रह्म वह है जो आत्मा के सत्य रूप को पहिचाने। वह ब्रह्म निष्कर्म और विशुद्ध है :—

> निज पद रमे राम सो कहिये, रहिम करे रहिमान री।
> करशे कर्म कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री॥
> परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
> इह विध साधो आप आनंदघन, चेतनमय निःकर्म री॥[2]

जैनदर्शन वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप पर विचार करने के लिए नय-प्रणाली का उपयोग करता है। तदनुसार वस्तु के मूल अथवा शुद्ध स्वरूप को निश्चय-नय और अशुद्ध स्वरूप को व्यवहार नय के अन्तर्गत रखा जाता है। जीव की निष्कर्मावस्था पर शुद्ध अथवा निश्चयनय से और सकर्मावस्था पर अशुद्ध अथवा व्यवहार नय से विचार किया जाता है। मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में साधकों ने इन दोनों प्रणालियों को यथासमय अपनाया। आत्मा के स्वरूप पर भी उन्होंने इन्हीं दोनों प्रणालियों के आधार पर विचार किया है।

---

1. नाटक समयसार, उत्थानिका, 36–37; नाममाला भी देखिये।
2. जैन शोध और समीक्षा, पृ. 72.

शुद्ध चिदानन्दरूप अपना भाव ही ज्ञान है उसी से माया-मोहादि दूर हो जाते हैं और सिद्धि प्राप्त हो जाती है ।

ज्ञान निज भाव शुद्ध चिदानन्द,
चीततो मूको माया मोह गेह देखिए ।[1]

आत्मा का मूल गुण ज्ञान है । वह कर्मों के प्रभाव से प्रच्छन्न भले ही हो जाये पर लुप्त नहीं होता । जिस प्रकार सुवर्ण कुधातु के संयोग से अग्नि में अनेक रूप धारण करता है फिर भी वह अपने स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता ।[2] जीव की यह शुद्धावस्था चैतन्य रूप है, अनन्त गुण, अनंत पर्याय और अनंत शक्ति सहित है अमूर्तिक है, शिव है, अखंडित है, सर्वव्यापी है ।[3]

बनारसीदास के नाम पर पीताम्बर द्वारा लिखी ज्ञानवावनी में जीव के स्वरूप को बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है । उसके अनुसार जीव शुद्ध नय से शुद्ध, सिद्ध, ज्ञायक आदि रूप है ।[4] परन्तु कर्मादि के कारण वह उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता । यहीं चिदानन्द को राजा मानकर कर्म पुद्गलों से उसका संघर्ष भी बताया है । साथ ही चेरी, सेना, परमार्थ, प्रपंच, चौपट आदि रूपकों के माध्यम से उसके बाह्य स्वरूप को स्पष्ट किया है ।[5] बनारसीदास ने जीव के शुद्ध स्वरूप को शिव और ब्रह्म समाधि माना[6] तथा शरीर में उसके निवास को उसी प्रकार बताया जिस प्रकार फल-फूलादि में सुगन्ध, दही-दूध आदि में घी, काठ पाषाणादि में पावक ।[7] इसी प्रकार का कथन मुनि महनन्दि का भी है—वे कहते हैं कि जिस प्रकार दूध में घी, तिल से तेल तथा लकड़ी में अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर में आत्मा निवास करती है :—

---

1. तत्वसार दूहा—भट्टारक शुभचन्द्र, 91; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 78.
2. नाटक समयसार, जीवद्वार, 9.
3. नाटक समयसार, उत्थानिका, 20.
4. बनारसीविलास, ज्ञानवावनी, 4.
5. वही, 16–30.
6. वही, ध्यानबत्तीसी, 1.
7. चेतन पुद्गल सौ मिलें, ज्यों तिल में खलि तेल ।
   प्रगट एक से देखिये, यह अनादि को खेल ।।4।।
   ज्यों सुवास फल फूल में, दही दूध में घीव ।
   पावक काठ पाषाण में, त्यों शरीर में जीव ।।7।। वही. अध्यात्मबत्तीसी 4–7, पृ. 143.

खीरह मज्झह जैम घिउ, तिलह मंज्झि जिम तिल्लु।
कट्ठिहु बासणु जिम बसइ, तिम देहहि देहिल्लु ॥[1]

बनारसीदास ने आत्मा और शिव को सांगरूपक में प्रस्तुत कर शिव के समूचे गुण सिद्ध में घटाये हैं। शिव को उन्होंने ब्रह्म, सिद्ध और भगवान भी कहा है। समूची शिवपच्चीसी में उनके इस सिद्धान्त की मार्मिक व्याख्या उपलब्ध है। तदनुसार जीव और शिव दोनों एक हैं। व्यवहारतः वह जीव है और निश्चय नय से वह शिव रूप है। जीव शिव की पूजा करता है और बाद में शिव रूप को प्राप्त करता है। कवि ने यहां निर्गुण और सगुण दोनों भक्ति धाराओं को एकत्व में समाहित करने का प्रत्यन किया है। जीव शिव रूप जिनेन्द्र की पूजा साध्य की प्राप्ति के लिए करता है। बनारसीदास ने अपनी प्रखर प्रतिभा से उसी शिव को सिद्ध में प्रस्थापित कर दिया है। तनमंडप रूप वेदी है उस पर शुभलेश्या रूप सफेदी है। आत्म रुचि रूप कुण्डली बनी है, सद्गुरु की वाणी जल-लहरी है उसके सगुण स्वरूप की पूजा होती है। समरस रूप जल का अभिषेक होता है, उपशम रूप रस का चन्दन घिसा जाता है, सहजानन्द रूप पुष्प की उत्पत्ति होती है, गुण गभित 'जयमाल' चढ़ायी जाती है। ज्ञान-दीप की शिखा प्रज्ज्वलित हो उठती है, स्याद्वाद का घंटा झंकारता है, अगम अध्यात्म चवर डुलाते हैं, क्षायक रूप धूप का दहन होता है। दान की अर्घ-विधि, सहजशील गुण का अक्षत, तप का नेवज, विमलभाव का फल आगे रखकर जीव शिव की पूजा करता है और प्रवीण साधक फलतः शिवस्वरूप हो जाता है। जिनेन्द्र की कठणारस वाणी सुरसरिता है, सुमति अर्धांगिनी गौरी है, त्रिगुणभेद नयन विशेष है, विमलभाव समकित शशि-लेखा है। सुगुरु-शिक्षा उर मे बंधे शृंग हैं। नय व्यवहार कंधे पर रखा बाघाम्बर है। विवेक-बैल, शक्ति विभूति अंगच्छवि है। त्रिगुप्ति त्रिशूल है, कंठ में विभावरूप विषय विष हैं, महादिगम्बर योगी भेष है, ब्रह्म समाधि-छपन घर है अनाहद-रूप डमरू बजता है पंच-भेद शुभज्ञान है और ग्यारह प्रतिमायें ग्यारह रुद्र हैं। यह शिव मंगल कारण होने से मोक्ष-पथ देने वाले हैं।[2] इसी को शंकर कहा गया है, यही अक्षय निधि स्वामी, सर्वजग अन्तर्यामी और आदिनाथ हैं। त्रिभुवनों का त्याग कर शिववासी होने से त्रिपुर हरण कहलाये। अष्ट कर्मों से अकेले संघर्ष करने के कारण महारुद्र हुए। मनोकामना का दहन करने से कामदहन कर्ता हुए। संसारी उन्हीं को महादेव, शंभु, मोहहारी हर आदि नाम से पुकारते हैं। यही शिवरूप शुद्धात्मा सिद्ध, नित्य और निर्विकार है, उत्कृष्ट सुख का स्थान है। साहजिक शान्ति से सर्वांग सुन्दर है,

---

1. राजस्थानी जैन सन्त, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 174.
2. बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, 1–24.

निर्दोष है, पूर्ण ज्ञानी है, विरोधरहित है, अनादि अनंत है इसलिए जगत-शिरोमणि है, सारा जगत उनकी जय के गीत गाता है—

अविनासी अविकार परमरसधाम है।
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम है।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत है ॥4॥[1]

निहालचन्द ने भी सिद्ध रूप निर्गुण ब्रह्म को ओंकार रूप मानकर स्तुति की है। उन्हें वह रूप अगम, अगोचर, अलख, परमेश्वर, परमज्योति स्वरूप दिखा—

'आदि ओंकार आप परमेसर परम जोति'
अगम अगोचर अलख रूप गायो है।

यह ओंकार रूप सिद्धों को सिद्धि, सन्तों को ऋद्धि, महन्तों को महिमा, योगियों को योग, देवों और मुनियों को मुक्ति तथा भोगियों को भुक्ति प्रदान करता है। यह चिन्तामणि और कल्पवृक्ष के समान है। इसके समान और कोई भी दूसरा मन्त्र नहीं—

सिद्धन कों सिद्धि, ऋद्धि देहिसंतन को, महिमा महन्तन कौं देन दिन माही है,
जोगी को जुगति हूं, मुकति देव, मुनिन कूं, भोगी कूं भुगति गति मतिउन पांही है।
चिन्तामन रतन, कल्पवृक्ष, कामधेनु, सुख के समाज सब याकी परछांही है,
कहैं मुनि हर्षचन्द निर्षदेयज्ञान दृष्टि ऊंकार, मंत्र सम और मन्त्र नाहीं है ॥[2]

बनारसीदास और तुलसीदास समकालीन हैं। कहा जाता है कि तुलसीदास ने बनारसीदास को अपनी रामायण भेंट की और समीक्षा करने का निवेदन किया। दूसरी बार जब दोनो सन्त मिले तो बनारसीदास ने कहा कि उन्होने रामायण को अध्यात्म रूप मे देखा है। उन्होंने राम को आत्मा के अर्थ में लिखा है और उसकी समूची व्याख्या कर दी है। आत्मा हमारे शरीर में विद्यमान है। अध्यात्मवादी अथवा रहस्यवादी इस तथ्य को समझता है। मिथ्या दृष्टि उसे स्वीकार नहीं करता। आत्मा राम है, उसका ज्ञान गुण लक्ष्मण है, सीता सुमति है शुभोपयोग वानर दल है विवेक रणक्षेत्र है, ध्यान धनुषटंकार है जिसकी आवाज सुनकर ही विषय-भोगादिक भाग जाते है, मिथ्यामत रूपी लंका भस्म हो जाती है, धारणा रूपी आग

1. नाटक समयसार, 4, पृ. 5. जीवद्वार 2; ब्रह्मविलास–भैया भगवतीदास, सिज्झाय पृ. 125, सिद्ध चतुर्दशी, 141.
2. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 351.

उठ जाती है, अज्ञान भाव रूप राक्षसकुल उसमें जल जाते हैं, निकांक्षित रूप योद्धा लड़ते हैं, रागद्वेष रूप सेनापति जूझते हैं, संशय का गढ़ चकनाचूर हो जाता है, भवविभ्रम का कुम्भकरण विलखने लगता है मन का दरयाव पुलकित हो उठता है, महिरावण थक जाता है। समभाव का सेतु बंध जाता है, दुराशा की मंदोदरी मूर्छित हो जाती है, चरण (चरित्र) का हनुमान जाग्रत हो जाता है, चतुर्गति की सेना घट जाती है, छयक गुण के बाण छूटने लगते है, आत्मशक्ति के चक्र सुदर्शन को देखकर दीन विभीषण का उदय हो जाता है और रावण का सिरहीन जीवित कबंध मही पर फिरने लगता है। इस प्रकार सहजभाव का संग्राम होता है और अन्तरात्मा शुद्ध बन जाता है। बनारसीदास ने अन्त मे यह निष्कर्ष दिया कि रामायण व्यवहार दृष्टि है और राम निश्चय दृष्टि। ये दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव है—

विराजै रामायण घट माहिं ।।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहिं, ।। विराजै रामायण ।। टेक
आतम 'राम' ज्ञान गुन लछमन 'सीता' सुमति समेत ।
शुभुपयोग 'वानरदल' मंडित, वर विवेक 'रणखेत' ।।2।।
ध्यान धनुष टंकार शौर सुनि, गई विषयदिति भाग ।
भई भस्म मिथ्यामत लका, उठी धारणा आग ।।3।।
जरे अज्ञान भाव राक्षसकुल लरे निकांछित सूर ।
जूझे रागद्वेष सेनापति संसै गढ चकचूर ।।4।।
वलखत 'कुंभकरण' भवविभ्रम, पुलकित मनदरयाव ।
थकित उदार वीर 'महिरावण' सेतुबंध समभाव ।।5।।
मूर्छित 'मंदोदरी' दुराशा, सजग चरन 'हनुमान' ।
घटी चतुर्गति परणति 'सेना' छुटे छपकगुण 'बान' ।।6।।
निरखि सकतिगुन चक्रसुदर्शन उदय बिभीषण दीन ।
फिरै कबंध महीरावण की प्राणभाव शिरहीम ।।
इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम ।
यह विवहारदृष्टि 'रामायण' केवल निश्चय 'राम' ।।विराजै रामायण।।[1]

चेतन लक्षण रूप आत्मा की तीन अवस्थायें होती हैं–बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर और आत्मा को अभिन्न मानते हैं वह बहिरात्मा है। उसी को मिथ्यादृष्टि भी कहा गया है। वह विधिनिषेध से अनभिज्ञ होता है और विषयों में लीन रहता है। जो भेद विज्ञान से शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न मानता है वह

1. बनारसीविलास, अध्यात्मपद पंक्ति, 16, पृ. 233.

अन्तरात्मा है। इसी को सम्यक् दृष्टि कहा गया है। बनारसीदास ने इन्हीं को क्रमशः अधम, मध्यम और पंडित कहा है। जिनवाणी पर श्रद्धा करने वाला, धर्म-संशय को करने वाला, समकितवान् असंयमी, जघन्य अथवा अधम, अन्तरात्मा है। वैरागी त्यागी, इन्द्रियदंभी, स्वपरविवेकी और देशसंयमी जीव मध्यम अन्तरात्मा है तथा सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की श्रेणी को धारण करने वाले शुद्धोपयोगी आत्मध्यानी निस्परिग्रही जीव उत्तम अथवा पंडित अन्तरात्मा है। जो सयोग गुणस्थान पर चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है वह परमात्मा है। इसके दो भेद हैं—सकल (सशरीरी) और निकल (अशरीरी)। इन्हीं को क्रमशः अर्हन्त और सिद्ध कहा गया है।[1]

त्रिविधिसकल तनुधर गत आतमा, बहिरातमा धुरि भेद।
बीजो अंतर-आतम, तिसरो परमातम अविछेद ।।

आतम बुद्धि कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप।
कायादिक नो सांखीधर रह्यो, अंतर आतम रूप।।

ज्ञानानंद हो पूरण पावनो वरजित सकल उपाध।
अतिन्द्रिय गुणगणमणि आगरु इम परमातम साध ।।

बहिरातम तजि अंतर आतम रूप थई थिर भाव।
परमातम नूं हो आतमभावकूं आतम अरपण दाव ।।[2]

आत्मा एक स्थिति पर पहुचकर सगुण और बाद मे निर्गुण रूप हो जाता है। कविवर बनारसीदास ने उसकी इन दोनों अवस्थाओ का वर्णन किया है।[3] आचार्य योगीन्दु ने इन्ही को क्रमशः सकल और निकल की संज्ञा दी है।[4] सकल का अर्थ है अर्हन्त और निकल का अर्थ है सिद्ध। एक साकार है और

1. बनारसीविलास अवस्थाष्टक, पृ. 185; छहढाला–दौलतराम 3–4–6; अध्यात्म पंचासिका दोहा–द्यानतराय, हस्तलिखित ग्रन्थों का पन्द्रहवां त्रैवार्षिक विवरण (खोज विवरण) सन् 1932–34, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

2. अपभ्रंश और हिन्दी में रहस्यवाद, पृ. 108; ब्रह्मविलास–(भैया भगवतीदास), परमात्मछत्तीसी, 2–5 पृ. 227; धर्मविलास-द्यानतराय, अध्यात्म पंचासिका, पृ. 192.

3. 'निर्गुण रूप निरंजन देवा, सगुण स्वरूप करें विधिसेवा' ।। बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, 7, पृ. 150.

4. परमात्मप्रकाश, 1–25, पृ. 32.

दूसरा निराकार ।[1] अर्हन्त के चार घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और शेष चार अघातिया कर्मों के नष्ट होने तक संसार में सशरीर रहना पड़ता है । पर अर्हन्त आठों कर्मों का नाश कर चुकते हैं और सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं । उन्हीं को सगुण और निर्गुण ब्रह्म भी कहा गया है । हिन्दी के जैन कवियों ने दोनों की बड़े भक्तिभाव से स्तुति की है । उन्होंने सिद्ध को ही ब्रह्म कहा है ।[2] दर्शन से उन्हें चारों ओर फैला बसन्त देखने मिला है ।[3]

हीरानन्द मुकीम ने आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को अलख अगोचर बताया तथा आत्मतत्व के अनुपम रूप को प्राप्त करने का उपदेश दिया ।[4] इसका पूर्ण परिचय पाये बिना जप तप आदि सब कुछ व्यर्थ है उसी तरह जैसे कणों के बिना तुषों का फटकना निरर्थक रहता है । धान्य विरहित खेत में बाढ़ी लगाने का अर्थ ही क्या है ? आत्मा विशुद्ध स्वरूप निर्विकार, निश्छल, निकल, निर्मल, ज्योतिर्ज्ञान गम्य और ज्ञायक है ।[5] वह 'देवनि को देव सो तौ बसै निज देह मांझ, ताको भूल सेवत अदेव देव मानिकै' के कारण संसार भ्रमण करता है ।[6]

5. आत्मा-परमात्मा

जैसा कि हम विगत पृष्ठों में कह चुके हैं कि आत्मा की विशुद्धतम अवस्था परमात्मा कहलाती है । इस पर भैया भगवतीदास ने चेतन कर्म चरित्र में जीव के समूचे तत्वों के रूप में विशद प्रकाश डाला है । एक अन्य स्थान पर भी कवि ने शुद्ध चेतन के स्वरूप पर विचार किया है । वह एक ही ब्रह्म है जिसके असंख्य प्रदेश है, अनन्त गुण है, चेतन है, अनन्त दर्शन-ज्ञान, सुख-वीर्यवान है, सिद्ध है, अजर-अमर है, निर्विकार है । इसी को परमात्मा कहा गया है ।[7] उसका स्वभाव ज्ञान-

1. निराकार चेतना कहावे दरसन गुन साकार चेतना सुद्धज्ञान गुन सार है । नाटक समयसार, मोक्षद्वार, 10.
2. बनारसीदास, नाममाला, ईश के नाम, ब्रह्मविलास, सिद्धचतुर्दशी, 1–3
3. द्यानतपद संग्रह 58, बनारसीविलास, अध्यात्मफागु, पृ. 154.
4. अध्यात्मबावनी, गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ. 466–67.
5. पांडे रूपचन्द, परमार्थी दोहाशतक, जैन हितैषी, भाग 6, अंक 5–6.
6. मनरामविलास, 15 ठोलियों के दि. जैन मंदिर, वेष्टन नं. 395 में संकलित हस्तलिखित प्रति, मनमोदन पंचशती, 42. पृ. 20.
7. एकहि ब्रह्म असंख्य प्रदेश । गुण अनंत चेतनता भेश ॥
   शक्ति अनंत लसै जिस माहिं । जासम और दूसरो नाहिं ॥2॥
   परका परस रंच नहिं जहां । शुद्ध सरूप कहावै तहां ॥
   अविनाशी अविचल अविकार । सो परमातम है निरधार ॥6॥
   —ब्रह्मविलास, परमात्मा की जयमाल; पृ. 104.

दर्शन है और राग-द्वेष, मोहादि विभाव आत्म परणतियाँ है।[1] शिव, ब्रह्म और सिद्ध को एक माना है।[2] ब्रह्म और ब्रह्मा मे भी एकरूपता स्थापित की है। जैसे ब्रह्मा के चार मुख होते है, वैसे ब्रह्म के भी चार मुख होते है—आंख, नाक, रसना और श्रवण। हृदय रूपी कमल पर बैठकर यह विविध परिणाम करता रहता है पर आतमराम ब्रह्म कर्म का कर्ता नही। वह निर्विकार होता है।[3] अनन्तगुणी होता है।[4] आत्मा और परमात्मा में कोई विशेष अन्तर नहीं। अन्तर मात्र इतना है कि मोह मेल दृढ़ लगि रह्यो तातै सूझै नाहिं।[5] शुद्धात्मा को ही परमेश्वर परमगुरु परमज्योति, जगदीश और परम कहा है।[6]

6. आत्मा और पुद्गल

पुद्गल रूप कर्मों के कारण आत्मा (चेतन) की मूल ज्ञानादिक शक्तियाँ धूमिल हो जाती है और फलतः उसे संसार मे जन्म मरण करना पड़ता है। यह उसका व्यावहारिक स्वरूप है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द प्रकाश धूप, चांदनी, छाया, अंधकार, शरीर, भाषा, मन श्वासोच्छ्वास तथा काम, क्रोध, मान-माया, लोभ आदि जो भी इन्द्रिय और मनोगोचर हैं वे सभी पौद्गलिक है। देह भी पौद्गलिक है। मन मे इस प्रकार का विचार साधक को भेदविज्ञान हो जाने पर मालूम पड़ने लगता है और वही बहिरात्मा, अन्तरात्मा बन जाता है। अन्तरात्मा सांसारिक भोगों को तुच्छ समझने लगता है और अपनी अन्तरात्मा को विशुद्धावस्था प्राप्त कराने का प्रयत्न करता है।

अन्तरात्मा विचारता है कि आत्मा और पुद्गल वस्तुतः भिन्न-भिन्न है पर परस्पर सम्बन्ध बने रहने के कारण व्यवहारतः उन्हें एक कह दिया जाता है। आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से रहा है। उनका यह सम्बन्ध उसी प्रकार से है जिस प्रकार तिल का खलि और तेल के साथ रहता है। जिस प्रकार

---

1. ब्रह्मविलास, मिथ्यात्व विध्वस न चतुर्दर्शी, जयमाल, पृ. 104.
2. वही, सिद्ध चतुर्दर्शी, 1–4 पृ. 134; सुबुद्धि चौबीसी 7–9 पृ. 159, फुटकर कविता; पृ. 273.
3. वही, ब्रह्माब्रह्म निर्णय चतुदर्शी, पृ. 171, फुटकर कविता, 1, पृ. 272–73.
4. वही, जिनधर्मपचीसिका, 13 पृ. 214.
5. वही, परमात्मा छत्तीसी, 9 पृ. 228.
6. वही, ईश्वरनिर्णयपचीसी, 1 पृ. 252; परमात्मशतक, पृ. 278–291.

चुम्बक लोहे को आकर्षित करता है उसी प्रकार कर्म चेतन को अपनी और खींचता है। चेतन शरीर में उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार फल-फूल में सुगन्ध, दूध में दही और घी, तथा काठ में अग्नि रहा करती है। सहज शुद्ध चेतन भाव कर्म की ओट में रहता है और द्रव्य कर्म रूप शरीर से बंधा रहता है।[1] बनारसीदास ने एक उदाहरण देकर उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। कोठी में धान रखी है, धान के छिलके के अन्दर धान्य कण रखा है। यदि छिलके को धोया जाय तो कण प्राप्त हो जायेगा और यदि कोठी (मिट्टी की) को धोया जाय तो कीचड़ बन जायेगी। यहाँ कोठी के रूप में नोकर्म मल हैं, द्रव्य कर्म में धान्य हैं, भावकर्ममल के रूप में छिलका (चमी) हैं और कण के रूप में अष्ट कर्मों से मुक्त भगवान हैं।[2] इस प्रकार कर्म रूप पुद्गल को दो भेद हैं—भाव कर्म और द्रव्य कर्म। भाव कर्म की गति ज्ञानादिक होती हैं और द्रव्य कर्म नोकर्म रूप शरीर को धारण करता है। एक ज्ञान का परिणमन हैं और दूसरा कर्म का घेर है। ज्ञानचक्र अन्तर में रहता है पर कर्म-चक्र प्रत्यक्ष दिखाई देता है। चेतन के ये दोनों भाव क्रमशः शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के रूप है। निज गुण-पर्याय में ज्ञानचक्र की भूमिका रहती है और पर पदार्थों के गुणपर्याय में कर्मचक्र कारण रहता है। ज्ञानी सजग सम्यग् दर्शन युक्त कर्मों की निर्जरा करने वाला तथा देव-धर्म गुरु का अनुसरण करने वाला होता है पर कर्मचक्र में रहने वाला घनघोर निद्रालु, अन्धा तथा कर्मों का बन्ध करने वाला देव-धर्म गुरु की ओर से विमुख होता है। कर्मवान् जीव मोही मिथ्यात्वी, भेषधारिकों को गुरु मानने वाला, पुण्यवान् को देव कहने वाला तथा कुल परम्पराओं को धर्म बताने वाला होता है, पर ज्ञानी जीव वीतरागी निरंजन को देव, उनके वचनों को धर्म और साधु पुरुष को गुरु कहता है। कर्मबन्ध से भ्रम बढ़ता है और भ्रम से किसी भी वस्तु का स्पष्टतः भान नहीं हो पाता। मोह का उपशम होते ही विभाव परिणतियाँ समाप्त होती जाती हैं तथा सुमति का उदय होता है। उसी से सम्यक् दर्शक-ज्ञान-चारित्र का प्रकाश आता है। शिव की प्राप्ति के लिए सुमति की प्राप्ति ही मुख्य उपाय है।[3]

---

1. हिन्दी पद संग्रह, भट्टारक रत्नकीर्ति, पृ. 3.
2. ज्यों कोठी में धान थो, चमी मांहि कनबीच।
   चमी धोय कम राखिये, कोठी धोए कीच ॥11॥
   कोठी सम नोकर्म मल, द्रव्य कर्म ज्यों धान।
   भावकर्ममल ज्यों, चमी, कन समान भगवान ॥12॥ बनारसी विलास, अध्यातम बत्तीसी 11–12, पृ. 144.
3. वही, अध्यातम बत्तीसी, 13-32.

आत्मा का यही मूल रूप है—मोह कर्म मम नाहीं नाहिं भ्रमकूप है,
शुद्ध चेतना सिंधु हमारो रूप है ।[1]

जिस प्रकार कोई नटी वस्त्राभूषणों से सजकर नाट्यशाला में परदे की ओट में आकर जब खड़ी होती है तो किसी को दिखाई नहीं देती पर जब उसके दोनों ओर के परदे अलग कर दिये जाते हैं तो दर्शक उसे स्पष्ट रूप से देखने में सक्षम हो जाते हैं। वैसे ही यह ज्ञान का समुद्ररूप आत्मा मिथ्यात्व के आवरण से ढंका था। उसके दूर होते ही आत्मा ने अपनी मूल ज्ञायक शक्ति प्राप्त कर ली:—

जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ो पट करिकैं।
दुहूं ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखें दृष्टि धरिकैं ॥
तैसें ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यो प्रकट रह्यो तिहूं लोक भरिकैं ॥
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
शुद्धता संभारे जग जालसौं निसरिकैं ॥[2]

मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव अध्यात्म और रहस्य साधना की ओर उन्मुख नहीं हो पाता। वह देह और जीव को अभिन्न मानकर सारी भौतिक साधना करता है।[3] मोह, ममता, परिग्रह, विषय भोग आदि संसार के कारणों को दूर कर आत्म-गामी कर्म-निर्जरा में जुट जाता है। संसारी का मन तृष्णा के कारण धर्म-रूप अंकुश को उसी तरह नहीं स्वीकार करता जैसे महामत्त गजराज अंकुश से भी वश में नहीं हो पाता। इस मन को वश में करने के लिए ध्यान-समाधि और सद्गुरु का उपदेश उपयोगी होते हैं। कंचन जिस प्रकार किसी परिस्थिति में अपना स्वभाव नहीं छोड़ता

---

1. नाटक समयसार, जीवद्वार, 13.
2. नाटक समयसार, जीवद्वार, 35 पृ. 52.
3. देह और जीव के सम्बन्ध की अज्ञानता ही मिथ्यात्व है दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में इस प्रकार की 62 मिथ्यादृष्टियो का उल्लेखहै—18 आदि सम्बन्धी और 44 अन्त सम्बन्धी। इनमें शाश्वतवाद, अमरविक्षेपवाद, उच्छेद-वाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, संज्ञीवाद, असंज्ञीवाद जैसे वाद अधिक प्रसिद्ध थे। सूत्रकृतांग में सप्ततत्त्व या नव पदार्थों के आधार पर यही संख्या 363 बतायी गई है। क्रियावाद 180, अक्रियावाद 84, अज्ञानवाद 67 और वैनयिकवाद 32। जैन बौद्ध साहित्य में यह परम्परा लगभग समान है। विशेष देखिए–डॉ. भागचन्द्र भास्कर की पुस्तक बौद्ध संस्कृति का इतिहास, प्रथम अध्याय।

उसे पकाने के बाद शुद्ध कर लिया जाता है। वैसे ही आत्मा का मूल स्वभाव ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता। उसे भेदविज्ञान के माध्यम से मोहादि के आवरण को दूर कर परमात्मपद प्राप्त कर लिया जाता है।

इस प्रकार चेतन और पुद्गल, दोनों पृथक् हैं। पुद्गल (देह) कर्म की पर्याय है और चेतन शुद्ध बुद्ध रूप है। चेतन और पुद्गल के इस अंतर को भैया भगवती-दास ने बड़े साहित्यिक ढंग से स्पष्ट किया है। इन दोनों मे वही अन्तर है जो शरीर और वस्त्र में है। जिस प्रकार शरीर वस्त्र नही हो सकता और न वस्त्र शरीर। लाल वस्त्र पहिनने से शरीर लाल नहीं होता। जिस प्रकार वस्त्र जीर्ण-शीर्ण होने से शरीर जीर्ण-शीर्ण नहीं होता उसी तरह शरीर के जीर्ण-शीर्ण होने से आत्मा जीर्ण-शीर्ण नहीं होता। शरीर पुद्गल की पर्याय है और उसमें चिदानन्द रूप आत्मा का निवास रहता है।[1] इसी को कविवर बनारसीदास ने अनेक उदाहरण देकर समझाया है।

सोने की म्यान में रखी हुई लोहे की तलवार सोने की कही जाती है परन्तु जब वह लोहे की तलवार सोने की म्यान से अलग की जाती है तब भी लोग उसे लोहे की ही कहते हैं। इसी प्रकार घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहा जाता है परन्तु वह घड़ा घी रूप नहीं होता, उसी तरह शरीर के सम्बन्ध से जीव छोटा, बड़ा. काला, व गोरा आदि अनेक नाम पाता है परन्तु वह शरीर के समान अचेत नही हो जाता।

> खांडो कहिये कनककौ, कनक-म्यान-सयोग।
> न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग ॥7॥
> ज्यौं घट कहिये घीव कौ, घट कौ रूप न घीव।
> त्यौं वरनादिक नाम सौं, जड़ता लहै न जीव ॥8॥[2]

---

1. लाल वस्त्र पहिरेसों देह तो न लाल होय, लाल देह भये हंस लाल तौ न मानिये।
   वस्त्र के पुराने भये देह न पुरानी होय, देह के पुराने जीव जीरन न जानिये॥
   वसन्द के नाश भगे देह को न नाश होय, देह के न नाश हंस नाश न बखानिये।
   देह दर्व पुद्गल की चिदानन्द ज्ञानमयी, दोऊ भिन्न-भिन्न रूप 'भैया' उर आनिये ॥10॥
   (ब्रह्मविलास, आश्चर्य चतुर्दशी, 10, पृ. 191.)
2. नाटक समयसार, अजीवद्वार, 7-9 पृ. 58-60,

आत्मचिन्तन के सन्दर्भ में साधक आत्मा के मूल स्वरूप पर उक्त प्रकार से विचार कर उसके साथ कर्मों के स्वरूप पर भी विचार करता है। इस विचारणा से उसके आश्रव-बन्ध की प्रक्रिया ढीली पड़ जाती हैं, रागादिक भाव शिथिल हो जाते हैं तथा संवर-निर्जर का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

7. चित्तशुद्धि

जैन रहस्य साधना मे चित्त शुद्धि का विशेष महत्व है। उसके बिना किसी भी क्रिया का कोई उपयोग नहीं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के लिए अन्त: कारण का शुद्ध होना आवश्यक है। जो बाह्यलिंग से युक्त है किन्तु अभ्यन्तर लिंग से रहित है वह फलतः आत्मपथ से भ्रष्ट और मोक्ष पथ का विनाशक है।[1] क्योंकि भाव ही प्रथम लिंग है, द्रव्यलिंग कभी भी परमार्थ प्राप्ति में कारणभूत नहीं होता। शुद्ध भाव ही गुण-दोष का कारण होता है।[2] बाह्य क्रिया से आत्महित नहीं होता इसलिए उसकी गणना बन्ध पद्धति मे की गई है। वह महादुःखदायी है। योगीन्दुमुनि और मुनिरामसिंह जैसे रहस्य साधकों ने कबीर से पूर्व बाह्य क्रियायें करने वाले योगियों को फटकारा है और अपनी आत्मा को धोखा देने वाले कहा है। चित्त शुद्धि के बिना मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं हो सकता।[3]

बनारसीदास ने भी यही कहा कि यदि स्व-पर विवेक जाग्रत नहीं हुआ तो सारी क्रियाये आत्मशुद्धि बिना मिथ्या हैं, निरर्थक हैं।[4] भैया भगवतीदास भी आत्म शुद्धि के पक्षपाती थे।[5] पांडे हेमराज ने इसी तरह कहा कि शुद्धात्म का अनुभव किये बिना तीर्थ स्थान, शिर मुंडन, तप-तापन आदि सब कुछ व्यर्थ है-"शुद्धातम अनुभौ बिना क्यों पावै सिवषेत।"[6] वही मोक्ष मार्ग का विशेष साधन है—

भाव बिना द्रव्य नाहि, द्रव्य बिना लोक नाहिं,
लोक बिना शून्य सब मूल भूत भाव हैं।[7]

---

1. मोक्ख पाहुड़, 61
2. भाव पाहुड़, 2.
3. पाहुड़, दोहा 135, परमात्म प्रकाश, 2.70 ॥
4. बनारसी बिलास, मोक्षपैड़ी, 8 पृ. 132.
5. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी 11, पृ. 10.
6. उपदेश दोहाशतक, 5–18.
7. मदनमोहन पंचशती, छत्रपति, 99, पृ. 48.

शुद्ध भाव की प्राप्ति हो जाने पर पर पदार्थों से अरुचि हो जाती है, संशयादिक दोष दूर हो जाते है, विधि निषेध का ज्ञान हो जाता है, रागादिक वासना दूर होकर निर्वेद भाव जाग्रत हो जाता है।[1] इसलिए शुद्धभाव और आत्मज्ञान के बिना किया गया मिथ्या दृष्टि का करोड़ों जन्मों का बालतप उतने कर्मों का विनाश नहीं कर पाता जितना सम्यग्ज्ञानी जीव क्षण मात्र में कर डालता। इसलिए कवि दौलतराम शुद्ध भाव माहात्म्य को समझकर कह उठते हैं—मेरे कब है वा दिन की सुघरी।

तन बिन वसन असन बिन बन में निवसौ नास दृष्टि धरि ।।
पुण्य पाप परसों कब बिरचों, परचों निजविधि चिर-बिखरी ।
तज उपाधि, सज सहज समाधि सहों घाम-हिम मेघ झरी ।।
कब थिर-जोग धरों ऐसों मोहि उपल जान मृगखाज हरी ।
ध्यान-कमान तान अनुभवशर, छेदों किहि दिन मोह अरी ।।
कब तन कंचन एक गनों अरु, मनि जड़ितालय शैल दरी ।।
दौलत सदगुरु चरनन सेऊं जो पुरवौ आश यहै हमारी ।।[2]

भावशून्य बाह्य क्रियाओं का निषेधकर साधक अन्तरंग शुद्धि की ओर अग्रसर होता है। वह समझने लगता है कि अपने आपको जाने बिना देहाश्रित क्रियायें करना तथा-निर्वेद हुए बिना कठिन तप करना व्यर्थ है इसलिए दौलतराम कहते हैं कि यदि तू शिव पद प्राप्त करना चाहता है तो निज भाव को जानो।[3]

यह चित्तविशुद्धि आत्मालाचन गर्भित होती है। आत्मालोचन के बिना साधक आत्मविकास की ओर सफलतापूर्वक पग नहीं बढ़ पता। आत्मालोचन और आत्मशोधन परस्पर गुथे हुए हैं। जैन कवियों ने इन दोनों क्षेत्रों में सहजता और सरलतापूर्वक आत्म दोषों को प्रगट कर चित्तविशुद्धि की ओर कदम बढ़ाये हैं—1 रूपचन्द को इस बात का पश्चात्ताप है कि उन्होंने अपना मानुस जन्म व्यर्थ खो दिया 'मानुस जन्म वृथा तैं खोयो' (हिन्दी पद संग्रह, पद 46)। द्यानतराय (द्यानतविलास, पद 21) कवि चिन्ता ग्रस्त है कि उसे वैराग्यभाव कब उदित होगा—"मेरे मन कब ह्वै है वैराग" (द्यानत पद संग्रह, पद 241) यही सोचते-सोचते वे कह उठते हैं-

1. वही, 103–105.
2. अध्यात्म पदावली, पृ. 341.
3. शिव चाहै तो द्विविध धर्म तैं, कर निज परनति न्यारी रे।
दौलत जिन जिन भाव पिछाण्यौ, तिन भवविपति विदारी रे।। वही, पृ. 332.

'दुविधा कब जै है या मन की' ।
कब निजनाथ निरंजन सुमिरौ तज सेवा जन-जन की ।
कब रुचि सौं पीवें दृग चातक, बुन्दा अखय पद घन की ।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि, करूं न ममता तन की ।
कब घट अन्तर रहै निरन्तर, दिढ़ता सुगुरु वचन की ।
कब सुख लहौं भेद परमारथ, मिटै धारना धन की ।
कब घर छांड़ि होहुं एकाकी, लिये लालसा वन की ।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हौं बलि-बलि वा धन की ।।
—(हिन्दी पद, सग्रह, पद 80)

दौलतराम "हम तो कबहुं न निजगुन आये" कह 'निज घर नाहिं पिछान्यौ रे' कह उठते हैं । विद्यासागर भी "मैं तो या भव योंहि गमायो" कहकर यही भाव व्यक्त कर करते हैं । ये भाव साधक की आंतरिक पवित्रता से उत्पन्न मार्मिक स्वर हैं जिनमें परमात्मा के साक्षात्कार की गहन आशा जुडी हुई है जिसके बल पर वह आध्यात्मिक प्रगति के सोपान चढ़ता रहता है ।

इस प्रकार जैन धर्म में अन्तरंग की विशुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है । इसलिए बनारसीदास ने ज्ञानी और अज्ञानी की साधना के फल मे अन्तर दिखाते हुए स्पष्ट कहा है—

जाके चित्त जैसी दशा ताकी तैसी दृष्टि ।
पंडित भव खंडित करें, मूढ बनावे सृष्टि ।।[1]

स्व-पर का विवेक भेदविज्ञान कहलाता है । उसका प्रकाश आदिकाल से लगे हुए जीव के कर्म और मोह के नष्ट हो जाने पर होता है । सम्यग्दृष्टि ही भेद-विज्ञानी होता है । उसे भेदविज्ञान सांसारिक पदार्थों से ऐसे पृथक् कर देता है जैसे अग्नि स्वर्ण को किट्टिका आदि से भिन्न कर देती है ।[2] रूपचन्द इसी को सुप्रभात कहते हैं—"प्रभु मोकौं अब सुप्रभात भयो ।" वह मिथ्याभ्रम, मोहनिद्रा, क्रोधादिक कषाय, कामविकार आदि नष्ट होने पर प्राप्त होता है । यही मोक्ष का कारण है ।[3]

8. भेदविज्ञान

भेदविज्ञान होने पर चेतन को स्वानुभव होने लगता है अन्य पक्ष के स्थान पर अनेकान्त की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, आनन्द कन्द अमन्द मूर्ति में मन रमण करने लगता है ।[4] इसलिए भेदविज्ञान को 'हिये की आखें' कहा गया है ।

---

1. बनारसी विलास, कर्म छत्तीसी, 37, पृ. 139.
2. नाटक समयसार, जीवद्वार, 23.
3. हिन्दी पद संग्रह, दृ. 36.
4. वही, पृ. 36–37.

जिसके प्राप्त होने पर अमृतरस बरसने लगता है और परमार्थ स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[1] जैसे कोई व्यक्ति धोबी के घर जाकर दूसरे के कपड़े पहन लेता है और यदि इस बीच उन कपड़ों का स्वामी आकर कहता है कि ये कपड़े मेरे हैं तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिन्ह देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्म संयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव में रहता है अर्थात् शरीरादि को अपना मानता है। परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब स्व-पर का विवेक हो जाता है तो वह रागादि भावों से भिन्न अपने स्वस्वभाव को ग्रहण करता है।[2] जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीर का पृथक्करण कर देता है उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदन-शक्ति से जीव और पुद्गल को जुदा-जुदा करता है। पश्चात् यह भेदविज्ञान उन्नति करते-करते अवधिज्ञान मनः पर्यय-ज्ञान और परमावधि ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है जिसमें लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं—

जैसें करवत एक काठ बीच खण्ड करैं,
जैसे राजहंस निवारैं दूध जलकौं।
तैसें भेदग्यान निज भेदक सकतिसेती,
भिन्न-भिन्न करै चिदानन्द पुद्गल कौं।।[3]

शुद्ध, स्वतन्त्र, एकरूप, निराबाध भेदविज्ञान रूप तीक्ष्ण करौंत अन्तःकरण में प्रवेश कर स्वभाव-विभाव और जड़ चेतन को पृथक्-पृथक् कर देता है वह भेद-विज्ञान जिनके हृदय में उत्पन होता है उन्हें शरीर आदि पर वस्तु का आश्रय नहीं सुहाता। वे आत्मानुभव करके ही प्रसन्न होते हैं और परमात्मा का स्वरूप

---

1. वही, बनारसीदास, पृ. 59.
2. जैसें कोऊ जन गयौ धोबीकै सदन तिन,
   पहिरयौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
   धनि देखि कह्यौ भैया यह तो हमारौ वस्त्र,
   तैसैं ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव,
   संग के ममत्व सौं विभाव तामैं बह्यौ है।
   भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
   न्यारौ परभावसौं स्वभाव निज गह्यौ है। नाटक समयसार, जीवद्वार, 32.
3. नाटक समयसार, अजीवद्वार, 14 पृ. 64,

पहचानते हैं ।[1] इसलिए भेदविज्ञान को संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण माना गया है ।[2] भेदविज्ञान के बिना शुभ-अशुभ की सारी क्रियायें भागवद् भक्ति, बाह्य-तप आदि सब कुछ निरर्थक है ।[3] भेदविज्ञान अपनी ज्ञान शक्ति से द्रव्य कर्म-भावकर्म को नष्ट कर मोहान्धकार को दूर कर केवल ज्ञान की ज्योति प्राप्ति करता है। कर्म और नोकर्म से न छिप सकने योग्य अनन्त शक्ति प्रकट होती है जिससे वह सीधा मोक्ष प्राप्त करता है—

> जैसौ कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान,
> खोदि मूल वृच्छ को उखारै गहि बाहू सौं ।
> तैसैं मतिमान दर्व कर्म भावकर्म त्यागि,
> रहै अतीत मति ग्यान की दशाहू सौं ।
> याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अन्धकार
> जगै जोति केवल प्रधान सविताहू सौं ।
> चुकै न सुकतीसों लुकै न पुद्गल मांहि,
> धुकै मोख थलको रुकै न फिर काहू सौ ।।[4]

भेदविज्ञान को ही आत्मोपलब्धि कहा गया है । इसी से चिदानन्द अपने सहज स्वभाव को प्राप्त कर लेता है । पीताम्बर ने ज्ञानवावनी में इसी तथ्य को काव्यात्मक ढंग से बहुत स्पष्ट किया है ।[5] बनारसीदास ने इसी को कामनाशिनी पुण्यपापताहरनी, रामरमणी, विवेकसिंहचरनी, सहज रूपा, जगमाता रूप सुमतिदेवी कहा है ।[6] भैया भगवतीदास ने "जैसो शिवखेत तैसौ देह में विराजमान, ऐसो लखि सुमति स्वभाव मे पगते है ।"[7] कहकर "ज्ञान बिना बेर-बेर क्रिया करी फेर-फेर, कियो कोऊ कारज न आतम जतन को" कहा है ।[8] कवि का चेतन जब अनादिकाल से लगे मोहादिक को नष्ट कर अनन्तज्ञान शक्ति को पा जाता है तो कह उठता है—

---

1. वही, संवरद्वार, 3 पृ. 183.
2. वही, संवरद्वार, 6, पृ. 125.
3. वही, निर्जराद्वार, 9, पृ. 135
4. वही, पृ. 210.
5. बनारसी विलास, ज्ञानवावनी, पृ. 72–90.
6. वही, नवदुर्गा विधान, पृ. 7, पृ. 169–70.
7. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, 34.
8. वही, परमार्थ पद पंक्ति, 14, पृ, 114.

"देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवै।
काल अनादि फिरयो परवश ही अब निज सुधहि चितावै [1]।।"

भेदविज्ञान रूपी तरुवर जैसे ही सम्यक्त्वरूपी धरती पर ऊगता है वैसे ही उसमें सम्यग्दर्शन की मजबूत शाखायें आ जाती हैं, चारित्र का का दल लहलहा जाता है, गुण की मंजरी लग जाती है, यश स्वभावत: चारों दिशाओं में फैल जाता है। दया, वत्सलता, सुजनता, आत्मनिन्दा, समता, भक्ति, विराग, धर्मराग, मन-प्रभावना, त्याग, धैर्य, हर्ष, प्रवीणता आदि अनेक गुण गुणमंजरी में गुंथे रहते हैं।[2] कवि भूधरदास को भेदविज्ञान हो जाने पर आश्चर्य होता है कि हर आत्मा में जब अनन्तज्ञानादिक शक्तियां हैं तो संसारी जीव को यह बात समझ में क्यों नहीं आती। इसलिए वे कहते हैं—

पानी विन मीन प्यासी, मोहे रह-रह आवै हांसी रे ।।[3]

द्यानतराय आत्मा को सम्बोधते हुए स्वयं आत्मरमण की ओर झुक जाते हैं और उन्हें आत्मविश्वास हो जाता है कि 'अब हम अमर भये न मरेंगे।' भेदविज्ञान के द्वारा उनका स्वपर विवेक जाग्रत हो जाता है और वे आत्मानुभूतिपूर्वक चिन्तन करते हैं। अब उन्हे चर्मचक्षुओं की भी आवश्यकता नहीं। अब तो मात्र आत्मा की अनन्तशक्ति की ओर उनका ध्यान है। सभी वैभाविक भाव नष्ट हो चुके हैं और आत्मानुभव करके संसार-दुःख से छूटे जा रहे हैं—

हम लागे आतमराम सौं।
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धन-धान सौं ।।
समता सुख घट में परगार्‍यो, कौन काज है काम सौं।
दुविधाभाव जलांजलि दीनौ, मेल भयौ निज स्वाम सौं ।।
भेदज्ञान करि निज-पर देख्यौ, कौन विलौकै चाम सौं।
उरै-परै की बात न भावै, लौ लागी गुण-ग्राम सौं ।।
विकलप भाव रंक सब भाजैं, झरि चेतन अभिराम सौं।
'द्यानत' आतम अनुभव करि कै, छूटे भव-दुख धाम सौं ।।[4]

कवि छत्रपति ने भी भेदविज्ञान के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन किया है।[5]

---

1. वही, शतअष्टोत्तरी, 64.
2. वही, गुणमंजरी, 2–6, पृ. 126.
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ.
4. अध्यात्म पदावली, 47, पृ. 358.
5. मनमोदनपत्र, 76, पृ. 36.

स्वपर-विवेक रूप यह भेदविज्ञान साधक के मन में संसार और पदार्थ के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है और उससे सम्बद्ध रागादिक विकारों को दूर करने में सहायक होता है। उसके मन में रहस्य भावना की प्राप्ति और उसकी साधना के प्रति आत्मविश्वास बढ़ जाता है और फलतः वह रत्नत्रय की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

9. रत्नत्रय

रत्नत्रय का तात्पर्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समन्वित रूप है। इन तीनों की प्राप्ति ही मुक्ति का मार्ग है।[1] यह मार्ग भेदविज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। भेदविज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। सम्यग्ज्ञानी वही है जिसे आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो, परमार्थ से सही प्रेम हो, सत्यवादी और निर्विरोधी हो, पर पदार्थों में आसक्ति न हो, अपने ही हृदय में आत्म हित की सिद्धि, आत्मशक्ति की ऋद्धि और आत्मगुणों की वृद्धि प्रगट दिखती हो तथा आत्मीय सुख से आनंदित हो।[2] इसी से आत्मस्वरूप की पहिचान होती है और साधक समझ लेता है—

'अब ग्यान कला जागी भरम की दृष्टि भागी,'
अपनी परायी सब सौज पहिचानी है।[3]

सम्यग्ज्ञानी इन्दियजनित सुख-दुःख से अभिरुचि हटाकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है तथा दर्शन-ज्ञान-चरित्र को ग्रहण कर आत्मा की आराधना करता है।[4] ज्ञान रूपी दीपक से उसका मोह रूपी महान्धकार नष्ट हो जाता है। उस दीपक मे किंचित भी धुंआ नहीं रहता, हवा के झकोरों से बुझता नहीं, एक क्षण भर में कर्मपतंगों को जला देता है, बत्ती का भोग नहीं, घृत तेलादि की भी आवश्यकता नहीं, आंच नहीं, राग की लालिमा नहीं। उसमें तो समता, समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं, निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग जाग्रत हो जाते हैं।[5] कुल जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप, प्रभुता, ये आठ मद दूर हो जाते हैं, कुगुरु,

---

1. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः : तत्वार्थ सूत्र 1, 1.
2. नाटक समयसार, उत्थानिका, 7, पृ. 7.
3. वही, कर्ता कर्म द्वार, 28 पृ. 87.
4. वही, निर्जराद्वार, 8, 9, 19 संवर द्वार 5.
5. वही, निर्जराद्वार, 38, 60.

कुदेव, कुधर्म, कुगुरु सेवक, कुदेवसेवक और कुधर्मसेवक, ये छह अनायतन, कुगुरुसेवा, कुदेवसेवा और कुधर्मसेवा ये तीन मूढ़तायें सम्यक्त्वी के दूर हो जाती हैं।[1]

सम्यग्ज्ञानी जीव, सदैव आत्मचिन्तन में लगा रहता है। उसे दुनियां के अन्य किसी कार्य से कोई प्रयोजन नहीं होता। आनंदघन ने एक अच्छा उदाहरण दिया है। जैसे ग्रामवधुयें पांच-सात सहेलियां मिलकर पानी भरके घर की ओर चलीं। रास्ते में हंसती इठलाती चलती हैं पर उनका ध्यान निरन्तर घड़ों में लगा रहता है। गायें भी उदर पूर्ति के लिए जंगल जाती हैं, घास चाटती हैं, चारों दिशाओं में फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ों की ओर लगा रहता है। इसी प्रकार सम्यक्त्वी का भी मन अन्य कार्यों की ओर झुका रहने पर भी ब्रह्म-साधना की ओर से विमुख नहीं होता।

सात पांचसहेलियां रे हिल-मिल पाणीड़े जाय।
ताली दिये खल हंसै, वाकी सुरत गगरुआमायं।
उदर भरण के कारणों रे गउवां वन में जाय।
चारों चरैं चहुं दिसि फिरैं, वाकी सुरत बछरूआ मायं॥[2]

भैया भगवतीदास ने सम्यक्त्व को सुगति का दाता और दुर्गति का विनाशक कहा है।[3] छत्रपति की दृष्टि में जिस प्रकार वृक्ष की जड़ और महल की नींव होती है वैसे ही सम्यक्त्व धर्म का आदि और मूल रूप है। उसके बिना प्रशमभाव, श्रुतज्ञान, व्रत, तप, व्यवहार आदि सब कुछ भले ही होता रहे पर उनका सम्बन्ध आत्मा से न हो, तो वे व्यर्थ रहती हैं, इस प्रकार सम्यक्त्व के बिना भी सभी क्रियायें सारहीन होती है।[4]

भूधरदास का कवि सम्यक्त्व की प्राप्ति से वैसा ही प्रफुल्लित हो जाता है जैसे कोई रसिक सावन के आने से रसमग्न हो उठता है। मिथ्यात्वरूपी ग्रीष्म व्यतीत हो गया, पावस बड़ा सुहावना लगने लगा। आत्मानुभव की दामिनि दमकने लगी, सुरति की घनी घटायें छाने लगीं। विमल विवेक रूप पपीहा बोलने

---

1. दौलतराम, 3. 11–15.
2. जैनशोध और समीक्षा, पृ. 132, नाटक समयसार, निर्जराद्वार, 34.
3. ब्रह्मविलास, पुण्यपचीसिका, 8–10 पृ. 3–4.
4. विरच्छ के जर वर महल के नींव जैसे, धरम की आदि तैसे सम्यकदरश है। या बिन प्रशमभाव श्रुतज्ञान व्रत तप, विवहार हौल है न आतम परस है॥ जैसें बिन बीज अख साधन न अन्न हेत, रहत हमेश परशेय को तरस है॥27॥ मनमोदन, 27, पृ. 13.

लगे, सुमति रूप सुहागिन मन को रमने लगी, साधक भाव अंकुरित हो गये, हर्षवेग आ गया, समरस का जल झरने लगा। कवि अपने घर में आ गये, फिर बाहिर जाने की बात उनके मन से चली गयीं—

'अब मेरे समकित सावन आयो।।'
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम पावस सहज सुहायो।। अब।।1।।
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
बोलैं विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन पायो।। अब।।2।।
गुरुधुनि गरज सुनत सुख उपजैं, मोर सुमत विहसायो।
साधक भाव अंकूर उठे बहु, जित तित हरण सवायो।। अब।।3।।
भूल भूलकहि भूल न सूझत, समरस जल झरलायो।
भूधर को निकसैं अब बाहिर, निज निरचू घर पायो।। अब।।4।।[1]

सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र का भी सम्बन्ध है। शुद्धज्ञान के साथ शुद्ध चरित्र का अंश रहता है। इससे ज्ञानी जीव हेय, उपादेय को सही ढंग से समझता है। उसका वैराग्य पक जाता है, राग, द्वेष, मोह से उसकी निवृति हो जाती है, पूर्वोपार्जित कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं और वर्तमान तथा भविष्य में उनका बन्ध नहीं होता। ज्ञान और वैराग्य, दोनों एक साथ मिलकर ही मोक्ष के कारण होते हैं। जैसे किसी जगल में दावानल लगने पर लंगड़ा मनुष्य अंधे के कधे पर चढ़े और उसे रास्ता बताता जाये तो वे दोनो परस्पर के सहयोग से दावानल से बच जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान और चारित्र मे एकता मुक्ति प्राप्ति के लिए आवश्यक है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप जानता है और चारित्र आत्मा में स्थिर होता है।[2] रूपचन्द ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनो का सामुदायिक रूप ही साध्य की प्राप्ति में कारण बताया है। दर्शन से वस्तु के स्वरूप को देखा जाता है, ज्ञान से उसे जाना जाता है और चारित्र से उस पर स्थिरीकरण होता है। द्रव्यसंग्रह में भी यही बात कही गयी है।[3]

मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की समन्वित अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति भेदविज्ञान के द्वारा होती है। अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकार

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 147.
2. नाटक समयसार, सर्वविशद्धि द्वार, 82–85.
3 दोहा परमार्थ, 58–62, बधीचन्द मंदिर, जयपुर के शास्त्र भण्डार में सुरक्षित.

के परिग्रहों से दूर रहकर परिषह सहते हुए तप करने से परम पद प्राप्त होता है।[1] साधक आत्मानुभव करने पर कहने लगता है—हम लागे आतमराम सों। उसके आत्मा में समता सुख प्रगट हो जाता है, दुविधाभाव नष्ट हो जाता और भेदविज्ञान के द्वारा स्व-पर का विवेक जाग्रत हो जाता है। इसलिए द्यानतराय कहने लगते 'आतम अनुभव करना रे भाई।' भेदविज्ञान जब तक उत्पन्न नहीं होता तब तक जन्म-मरण का दुःख सहना पड़ता है। सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन, व्रत तप, संयम आदि आत्मज्ञान के बिना निरर्थक हैं। इसलिए कवि रागादिक परिणामों को त्याग-कर समता से लौ लगाने का संकल्प करता है, क्षायक श्रेणी चढ़कर चरित मोह का नाश करना चाहता है, क्रमशः घातिया-अघातिया कर्मों को नष्ट,कर अर्हन्त और सिद्ध अवस्था प्राप्त करने की बात करता है। उसकी संकल्प पूर्ति की आतुरता 'आतम जानो रे भाई' और कभी 'करकर आतम हित रे प्रानी' कह उठता है। जब भेदविज्ञान हो जाने का उसे विश्वास हो जाता है तो 'अब हम आतम को पहिचानी', दुहराकर 'मोहि कब ऐसा दिन आय है' कह जाता है। ससार की स्वार्थता देखकर उसे यह भी अनुभव हो जाता है—दुनिया मतलब की गरजी, अब मोहे जान पड़ी।[2]

भैया भगवतीदास ने राग द्वेष को जीतना, क्रोध मानादिक माया-लोभ कषाओं को दूर करना, मुक्ति प्राप्ति के लिए आवश्यक बताया है।[3] वे भेदविज्ञान को निजनिधि मानते है। उसको पाने वाला ब्रह्म ज्ञानी है और वही शिवलोक की निशानी कही गयी है।[4] विश्वभूषण ने अनेकान्तवाद के जागते ही ममता के भाग जाने की बात कही और उसी को मुक्ति प्राप्ति का मार्ग कहा।[5] वह उस योगी में

---

1. हिन्दी पद सग्रह, द्यानतराय, पृ. 109–141.
2. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय, पृ. 109–141.
3. जबलों रागद्वेष नहिं जीतय तबलों, मुकति न पावै कोइ।
   जबलों क्रोधमान मनधारत, तबलों सुगति कहो ते होइ॥
   जबलों माया लोभ बसे उर, तबलों सुख सुपने नहिं जोइ।
   एअरि जीत भयो जो निर्मल, शिव संप्रति विलसत है सोइ॥45॥
   ब्रह्मबिलास, शत अष्टोत्तरी, 45, पृ. 18.
4. निजनिधि पहिचानी तब भयो ब्रह्मज्ञानी,
   शिवलोक की निशानी आप में धरी-धरी॥ वही, सुबुद्धि चौबीसी, 12 पृ. 16.
5. पद संग्रह, दि. जैन मंदिर बड़ौत, 49, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 263.

चित्त लगाना चाहता है जिसने सम्यक्त्व की डोरी से शील के कछोटा को बांध रखा है। ज्ञान रूपी गूदड़ी गले में लपेट ली है। योग रूपी आसन पर बैठा है। वह आदि गुरु का चेला है। मोह के कान फड़वाये हैं। उनमें शुक्ल ध्यान की मुद्रा बहती है। क्षायकरूपी सिंगी उसके पास है जिसमें करुणानुयोग का नाद निकलता है। वह अष्ट कर्मों के उपलों की धुनी रमाता है और की अग्नि जलाता है उपशम के छन्ने से छानकर सम्यक्त्व रूपी जाल से मल-मलकर नहाता है। इस प्रकार वह योग रूपी सिंहासन पर बैठकर मोक्षपुरी जाता है। उसने गुरु की सेवा की है जिससे उसे फिर कलियुग में न आना पड़े।[1]

इस प्रकार जैन-साधक रहस्य-साधना के साधक तत्त्वों पर स्वानुभूतिपूर्वक चलने का उपक्रम करता है। वह सद्गुरु अथवा स्वाध्याय के माध्यम से संसार की क्षणभंगुरता तथा अनित्यशीलता पर गम्भीर चिन्तन कर शनैः-शनैः सम्यक्त्व के सोपन पर चढ़ जाता है। साधनात्मक रहस्य भावना की प्रवृत्तियों का जन्म तथा सांगोपांगता पर विचार करने के साथ ही इन प्रवृत्तियों में सहज-योग साधना तथा समरसता के भाव जाग्रत होते है। साधक इन्हीं भावनाओं के आधार पर स्वात्मा के उत्तर विकास पर पहुचने का मार्ग प्रशस्त कर लेता है।

---

1. वही, पन्ना 49, हि. जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 263.

सप्तम परिवर्त

रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियाँ

रहस्य भावना के बाधक तत्त्वों को दूरकर साधक, साधक तत्त्वो को प्राप्त करता है और उनमें रमण करते हुए एक ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है जब उसके मन में संसार से वितृष्णा और वैराग्य का भाव जाग्रत हो जाता है। फलतः वह सद्गुरु की प्रेरणा से आत्मा की विशुद्धावस्था में पहुंच जाता है। इस अवस्था में साधक का आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करने के लिए आतुर हो उठता है और उस साक्षात्कार की अभिव्यक्ति के लिए वह रूपक, आध्यात्मिक विवाह, आध्यात्मिक होली, फागु आदि साहित्यिक विधाओं का अवलम्बन खोज लेता है। मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्यों में इन विधाओं का विशेष उपयोग हुआ है। उसमें साधनात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकार की रहस्य साधनाओं के दिग्दर्शन होते है। साधना की चिरन्तनता, मार्मिकता संवेदनशीलता, स्वसंवेदनता, भेदविज्ञान आदि तत्त्वों ने साधक को निरंजन, निराकार, परम वीतराग आदि रूपों में पगे हुए साध्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रस्तुत किया है और चिदानन्द चैतन्यमय ब्रह्मानन्द रस का खूब पान कराया है। साथ ही परमात्मा को अलख, अगम, निराकार, अध्यातमगम्य, परब्रह्म, ज्ञानमय, चिद्रूप, निरंजन, अनक्षर, अशरीरी, गुसाई, अगूढ़ आदि शब्दों का प्रयोग कर उसे रहस्यमय बना दिया है।[1] दाम्पत्य-मूलक प्रेम का भी सरल प्रवाह उसकी अभिव्यक्ति के निर्झर से झरता हुआ दिखाई देता है। इन सब तत्त्वों के मिलन से जैन-साधकों का रहस्य परम रहस्य बन जाता है।

प्रस्तुत परिवर्त में साधक का आत्मा बहिरात्मा से मुक्त होकर अन्तरात्मा की ओर मुड़ता है। अन्तरात्मा बनने के बाद तथा परमात्मपद प्राप्ति के पूर्व, इन दोनों अवस्थाओं के बीच में उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति

---

1. बनारसी विलास, जिनसहस्रनाम

को ही रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का नाम दिया गया है। इन प्रवृत्तियों में मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने प्रपत्ति (भक्ति) सहज योग साधना और समरसता तथा रहस्य भावना का विशेष रूप से उपयोग किया है। हम आगे इन्हीं तत्त्वों का विवेचन करेंगे।

1. प्रपत्ति भावना :

रहस्य साधना में साधक परमात्मपद पाने के लिए अनेक प्रकार के मार्ग अपनाता है। जब योग साधना का मार्ग साधक को अधिक दुर्गम प्रतीत होता है तो वह प्रपत्ति का सहारा लेता है। रहस्य साधकों के लिए यह मार्ग अधिक सुगम है। इसलिए सर्वप्रथम वह इसी मार्ग का अवलम्बन लेकर क्रमशः रहस्य भावना की चरम सीमा पर पहुंचता है। रहस्य भावना किंवा रहस्यवाद की भूमिका चार प्रमुख तत्त्वों से निर्मित होती है-आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुरु की प्रधानता और सहज मार्ग। जैन साधको की आस्तिकता पर सन्देह की आवश्यकता नहीं। उन्होंने तीर्थंकरों के सगुण और निर्गुण, दोनो रूपो के प्रति अपनी अनन्य भक्ति–भावना प्रदर्शित की है। उनकी भगवद् प्रेम भावना उन्हे प्रपन्न भक्त बनाकर प्रपत्ति के मार्ग को प्रशस्त करती है।

'प्रपत्ति' का तात्पर्य है—अनन्य शरणागत होने अथवा आत्मसमर्पण करने की भावना। भगवद् गीता मे 'शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वं प्रपन्नम्''[1] कहकर इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है। नवधा भक्ति[2] का भी मूल उत्स प्रपत्ति है। अतः हमने यहा 'प्रपत्ति' शब्द को विशेष रूप से चुना है। भागवत्पुराण की नवधा भक्ति के 9 लक्षण माने गये है–श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन (शरण) अर्चना, वन्दना दास्यभाव, सख्यभाव और आत्म निवेदन। कविवर बनारसीदास ने इसमें कुछ अंतर किया है।[3] ये तत्त्व हीनाधिक रूप से सगुण और निर्गुण, दोनों प्रकार की भक्ति साधनाओ मे उपलब्ध होते है। भक्ति के साधनों मे कृपा, रागात्मक सम्बन्ध, वैराग्य ज्ञान और सत्संग प्रमुख है। प्रपत्ति मे इन साधनो का उपयोग होता है। पांचरात्र लक्ष्मी संहिता मे प्रपत्ति की षड्विधाये दी गई हैं—आनुकूल्य का संकल्प, प्रातिकूल्य का विसर्जन, संरक्षण, एतद्रूप विश्वास गोप्तृत्व रूप मे वरण, आत्मनिक्षेप और

---

1. भगवद्गीता, 27.4.
2. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
3. श्रवन कीरतन चितवन सेवन बन्दन ध्यान।
   लघुता समता एकता नोधा भक्ति प्रवान॥
   नाटक समयसार, मोक्षद्वार, 8, पृ. 217.

कार्पण्य भाव ।[1] प्रपत्तिभाव के अतिरिक्त नारद भक्तिसूत्र में साध्य रूपा प्रेमाभक्ति की ग्यारह आसक्तियां बतायी हैं-गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, कान्त्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, और परमविरहासक्ति । दास्यासक्ति में विनयभाव का समावेश है । विनय के अन्तर्गत दीनता मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा ये सात तत्त्व आते हैं । पश्चात्ताप, उपालम्भ आदि भाव भी प्रपत्ति मार्ग में सम्मिलित हैं लगभग ये सभी भाव भक्ति साधना में दृष्टिगोचर होते है ।[2]

जैन साधना में भक्ति का स्थान मुक्ति के लिए सोपानवत् माना गया है । भगवद् भक्ति का तात्पर्य है-अपने इष्टदेव में अनुराग करना । अनुराग के साथ ही विनय, सेवा, उपासना, स्तुति, शरणगमन आदि क्रियायें विकसित हो जाती हैं । इस सन्दर्भ में पर्युपासना शब्द का भी प्रयोग हुआ है । उपासगदसाओ में पर्युपासना का क्रम इस प्रकार मिलता है-उपगमन, अभिगमन, आदक्षिणा, प्रदक्षिणा, वंदण नमस्सण एवं पर्युपासना । स्तवन, नामस्मरण, पूजा, सामायिक आदि के माध्यम से भी साधक अपनी भक्ति प्रदर्शित करता हुआ साधना को विशुद्धतर बनाने में जुटा रहता है हिन्दी जैन कवियों ने इन सभी प्रकारों को अपनाकर भक्ति का माहात्म्य प्रस्थापित किया है ।

कविवर बनारसीदास ने भक्ति के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि हमारे हृदय में भगवान की ऐसी भक्ति है जो कभी तो सुबद्धि रूप होकर कुबुद्धि को मिटाती है, कभी निर्मल ज्योति होकर हृदय मे प्रकाश डालती है । कभी दयालु होकर चित्त को दयालु बनाती है, कभी अनुभव की पिपासा रूप होकर नेत्रों को स्थिर करती है, कभी आरती रूप होकर प्रभु के सन्मुख आती है, कभी सुन्दर वचनों में स्तोत्र बोलती है । जब जैसी अवस्था होती है तब तैसी क्रिया करती है—

कबहूं सुमति ह्वै कुमतिको निवास करै,
कबहूं विमल जोति अन्तर जगति है ।
कबहूं दया ह्वै चित करत दयाल रूप,
कबहूं सुलालसा ह्वै लोचन लगति है ।।
कबहूं आरती के प्रभु सनमुख आवै,
कबहूं सुभारती व्है बाहरि वगति है ।

---

1. आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
   रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
   आत्म निक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।।"
2. इसके विस्तृत विवेचना के लिए देखिये—डॉ. प्रेमसागर जैन के शोध प्रबन्ध का प्रथम भाग जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि ।

घरैं दसा जैसी तब करैं रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारैं भगवंत की भगति है।[1]

जैन साधना के क्षेत्र में दस प्रकार की भक्तियाँ प्रसिद्ध हैं–सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चरित्र भक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, पंचमहागुरु भक्ति, चैत्य भक्ति, वीर भक्ति, चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति और समाधि भक्ति। इनके अतिरिक्त निर्वाण भक्ति, नंदीश्वर भक्ति और शांति भक्ति को भी इसमें सम्मिलित किया गया है। भक्ति के दो रूप हैं—निश्चय नय से की गई भक्ति और व्यवहार नय से की गई भक्ति। निश्चय नय से की गई भक्ति का सम्बन्ध वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्ध आत्म तत्त्व की भावना से है और व्यवहार नय से की गई भक्ति का सम्बन्ध सराग सम्यग्दृष्टियों के पंच परमेष्ठियों की आराधना से है। व्यवहार में उपास्य को कर्म, दुःख मोचक आदि बनाकर भक्ति की जाती है पर वह अन्तरंग भावों के सापेक्ष होने पर ही सार्थक मानी गई है अन्यथा नहीं। नवधा भक्ति आदि के माध्यम से साधक निश्चय भक्ति की ओर अग्रसरित होता है। इसी को प्रपत्ति मार्ग कहा जाता है।

उपर्युक्त प्रपत्ति मार्ग के प्रमुख तत्वो के आधार पर हम यहाँ मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों द्वारा अभिव्यक्त रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त अवलोकन करेंगे। बनारसीदास ने नवधा भक्ति में सर्वप्रथम श्रवण को स्थान दिया है। श्रवण का तात्पर्य है अपने आराध्य देव के उपदेशों का सम्यक् श्रवण करना और तदनुकूल सम्यक्ज्ञान पूर्वक आचरण करना। भक्त के मन में आराध्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम भावना का अतिरेक होता है। अतः मात्र उसी के उपदेश आदि को सुनकर अपने जीवन को कृतार्थ माना है। वह अपने अंगो की सार्थकता को तभी स्वीकार करता है जबकि वे आराध्य की ओर झुके रहें। मनराम ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

नैन सफल निरखै जु निरजन, सीस सफल नमि ईसर भावहि।
श्रवन सफल विहि सुनत सिद्धांतहि मुषज सफल जपिय जिन नांवहि।
हिर्दो सफल जिहि धर्मवसे ध्रुव, करज सुफल पुन्यहि प्रभु पावहि।
चरन सफल मनराम वहै गनि, जे परमारथ के पथ धावहि॥[2]

इसी को द्यानतराय ने 're जिय जनम लहो लेह' कहकर चरण, जिहवा, श्रोत्र आदि की सार्थकता तभी मानी है जब वे सद्गुरु की विविध उपासना में जुटे रहें।[3]–

1. नाटक समयसार, उत्थानिक, पृ. 11–12.
2. मनराम विलास, 90, ठोंलियों का दि. जैन मन्दिर, जयपुर, वेष्टन नं. 305.
3. द्यानत पद संग्रह, 9, पृ. 4, कलकत्ता,

भक्त कवि ने अपने आराध्य का गुण कीर्त्तन करके अपनी भक्ति प्रकट की है। वह आराध्य में असीम गुणों को देखता है पर उन्हें अभिव्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण कह उठता है—

प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी।
गणधर कहत पार नहिं पावैं, कहा बुद्धि है मेरी॥
शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि तुम जस होत न पूरा।
एक जीभ कैसे गुण गावै उल्लू कहै किमि सूरा॥
चमर छत्र सिंहासन बरनौं, ये गुण तुमतैं न्यारे।
तुम गुण कहन वचन बल नाहीं नैंन गिनैं किमि तारे॥[1]

भगवत् गुण कीर्त्तन से भक्त को भोग पद, राज पद, ज्ञान पद, चक्री और इन्द्र पद ही नहीं मिलते बल्कि शाश्वत पद भी मिल जाता है इसलिए विनयप्रभ उपाध्याय ने कहा है—एह माहप्प तुह सयल जगि गज्जए।[2] उन्हें परमाराध्य भगवद् गुण कीर्त्तन 'पुन्य भंडार भरेसुए, मानव भव सफल करे सुए'[3] का कारण प्रतीत होता है। इस गुण कीर्त्तन से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है—'वांछित फल बहु दान दातार, सारद सामिण वीनवु'[4] और भवबंधन क्षीण होता है—'भव बंधन खीणो समरसलीणो, ब्रह्म जिनदास पाय वंदणो॥'[5] भट्टारक ज्ञानभूषण की दृष्टि में ये गुण भगवान में उसी प्रकार भरे हैं जैसे शरदकालीन सरोवर में निर्मल जल भरा रहता है—

आहे नयन कमल दल सम किल कोमल बोलइ वाणी।
शरद सरोवर निर्मल सकल अकल गुण खानि॥[6]

भगवान् महावीर कलिकाल के समस्त पापों को नष्ट करने वाले हैं।[7] उनका

---

1. वही, 45.
2. सीमन्धर स्वामी स्तवन, 19.
3. अजित शांति स्तवन, जैन स्तोत्र संदोह, अहमदाबाद, सन् 1932.
4. धनपालरास, मंगलाचरण, आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में सुरक्षित हस्त-लिखित प्रति.
5. मिथ्या दुकड़, 1(अंतिम) आमेर शास्त्र भंडार जयपुर की हस्तलिखित प्रति.
6. आदीश्वर फागु, 145, आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति.
7. अनस्तमितव्रत संधि-हरिचन्द, दि. जैन बड़ा मंदिर जयपुर की हस्तलिखित प्रति, गुटका नं. 171.

स्वरूप निर्विकार, निश्चल, निकल और ज्ञानगम्य है जिसने उसे जान लिया उसे संसार में और कुछ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती ।[1]

कविवर द्यानतराय ने पार्श्वनाथ स्तोत्र में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की महिमा का अनेक प्रकार से गुणगान किया है—

दुखी दुःखहर्ता सुखी सुक्खकर्ता । सदा सेवकों को महानन्द भर्ता ।।
हरे यक्ष राक्षस भूतं पिशाचं । विषं डांकिनी विघ्न के भय अवाचं ।।3।।
दरिद्रीन को द्रव्य के दान दीने । अपुत्रीन कों तु भले पुत्र कीने ।।
महासंकटो से निकारै विधाता । सबे संपदा सर्व को देहि दाता ।।4।।[2]

पं. रूपचन्द्र प्रभु की अनन्त गुण गरिमा से प्रभावित होकर कह उठते है—'प्रभु तेरी महिमा को पावै ।'[3] कविवर बुधजन भी 'प्रभु तेरी महिमा वरणी न जाई'[4] कहकर, इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं । इसीलिए भक्त कवि भावविभोर होकर कह उठते है—गणधर इन्द्र न करि सकैं तुम विनती भगवान । विनती आप निहारिकैं कीजै आप समान ।

साधक गुण आराध्य कीर्त्तन कर उसके चिन्तवन मे अपने को लीन कर लेना है । उसके नाम स्मरण से ही उसकी सारी इच्छाये पूर्ण हो जाती हैं । उसके लिए भगवान काम घट-देवमणि और देवतरु के समान लगते हैं ।[5] भट्टारक कुमुदचन्द्र ने इसी तथ्य को 'नाम लेत सहू पातक चूरे' कहकर अभिव्यक्त किया है ।[6] मुनिचरित्रसेन नेमिनाथ के समाधिमरण का स्मरण करने के लिए कहते हैं जिससे अन्तःकरण का समूचा विष नष्ट हो जाता है—'नेमि समाधि सुमरि जिय बिसु नासइ ।[7] प्रभु का स्मरण करके ब्रह्मरायमल्ल का मन अत्यत उत्साहित होता है—'तोहु सुमिरण मन होइ उछाह तो हुआ छ अरु होय जी सी ।' इससे अठारह दोष दूर हो जाते हैं और

---

1. निर्विकार निश्चल निकल निर्मल ज्योति
   ग्यानगम्य ग्यायक कहां लो ताहि बरनौं ।
   निहचै सरूप मनराम जिन जानौ ऐसो,
   नाको और कारिज रह्यो न कछु करनौ ।।
   मनराम विलास, ठोलियों के दि. जैन मंदिर जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति, वेष्टन नं. 395.
2. बृहज्जिनवाणी संग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित ।
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 26.
4. वही, पृ. 206.
5. सीमन्धर स्वामी स्तवन-विनयप्रभ उपाध्याय,
6. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 17.
7. जैन पंचायती मं दिल्ली में सुरक्षित हस्त. लि. प्र.

छयालीस गुण उत्पन्न हो जाते हैं ।[1] भैया भगवतीदास के लिए प्रभु का नामस्मरण कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि और अमृत-सा लगता है जो समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला और सुख प्राप्ति का कारण है ।[2] द्यानतराय प्रभु के नामस्मरण के लिए मन को सचेत करते हैं जो अघजाल को नष्ट करने में कारण होता है—

रे मन भज-भज दीन दयाल ॥
जाके नाम लेत इक खिन में, कटै कोटि अघ जाल ॥1॥
पार ब्रह्म परमेश्वर स्वामी, देखत होत निहाल ।
सुमरण करत परम सुख पावत, सेवत भाजै काल ॥1॥
इन्द्र फणिन्द्र चक्रधर गावैं, जाको नाम रसाल ।
जाके नाम ज्ञान प्रकासै, नासै मिथ्याजाल ॥3॥
जाके नाम समान नहीं कछु, ऊरध मध्यपताल ।
सोई नाम जपो नित द्यानत, छांड़ि विषै विकराल ॥4॥[3]

प्रभु का यह नामस्मरण (चिंतवन) भक्त तब तक करता रहता है जब तक वह तन्मय नहीं हो जाता । 'जैनाचार्यों ने स्मरण और ध्यान को पर्यायवाची कहा है । स्मरण पहले तो रुक-रुककर चलता है, फिर शनैः शनैः उसमें एकान्तता आती जाती है, और वह ध्यान का रूप धारण कर लेता है । स्मरण में जितनी अधिक तल्लीनता बढ़ती जायेगी वह उतना ही तद्रूप होता जायेगा । इससे सांसारिक विभूतियों की प्राप्ति होती अवश्य है किन्तु हिन्दी के जैन कवियों ने आध्यात्मिक सुख के लिए ही बल दिया है । प्रभु के स्मरण पर तो लगभग सभी कवियों ने जोर दिया है किन्तु ध्यानवाची स्मरण जैन कवियों की अपनी विशेषता है ।[4] इस प्रकार के ध्यान से भक्त कवि का दुविधाभाव समाप्त हो जाता है और उसे हरिहर ब्रह्म पुरन्दर की सारी निधियां भी तुच्छ लगने लगती हैं । वह समता रस का पान करने लगता है । समकित दान मे उसकी सारी दीनता चली जाती है और प्रभु के गुणानुभव के रस के आगे और किसी भी वस्तु का ध्यान नहीं रहता—

हम मगन भये प्रभु ध्यान में
विसर गई दुविधा तन मन की, अचिरा सुत गुन गान में ॥
हरि-हर-ब्रह्म-पुरन्दर की रिधि, आवत नहिं कोउ मान में ।

---

1. प्रद्युम्न चरित्र, 1, आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति.
2. ब्रह्मविलास, कुपंथ पचीसिका, 3, पृ. 180.
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 125–26.
4. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 16–17.

चिदानन्द की मौज मची है, समता रस के पान में ।।
इतने दिन तूं नांहि पिछान्यो, जन्म गंवायो अजान में ।
अब तो अधिकारी है बैठे, प्रभु गुन अखय खजान में ।।
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में ।
प्रभु गुन अनुभव के रस आगे, आवत नहिं कोइ ध्यान मे ।।[1]

जगजीवन भी प्रभु के ध्यान को बहुत कल्याणकारी मानते हैं ।[2] द्यानतराय अरहन्त देव का स्मरण करने के लिए प्रेरित करते हैं । वे ख्यातिलाभ पूजादि छोड़कर प्रभु के निकटतर पहुंचना चाहते हैं ।[3] इसी प्रकार एक पद में मन को इधर-उधर न भटकाकर जिन नाम के स्मरण की सलाह दी है क्योंकि इस से संसार के पातक कट जाते हैं—

जिन नाम सुमरि मन बावरे, कहा इत उत भटके ।
विषय प्रगट विष बेल है इनमें मत अटके ।।
द्यानत उत्तम भजन है कीजै मन रटकैं ।
भव भव के पातक सबैं जैंहे तो कटकैं ।।[4]

भक्त कवि अपने इष्टदेव के चरणों में बैठकर उनका उपदेश सुनता है ।[5] फलत: उसके राग द्वेष दूर हो जाते हैं और वह सदैव भगवान के चरणों में रहकर उनकी सेवा करना चाहता है ।[6] बनारसीदास ने भगवान की स्तुति करते हुए उन्हें देवों का देव कहा है । उनके चरणों की सेवा कर इन्द्रादिक देव भी मुक्ति प्राप्त कर लेते है । कवि अठारह दोषों से मुक्त प्रभु की चरण सेवा करने की आकांक्षा व्यक्त करता है—

---

1. जसविलास—यशोविजय उपाध्याय, सज्झाय पद अने स्तवन संग्रह में मुद्रित ।
2. करिवे प्रभु ध्यान, पाप कटैं भवभव के या मै वहोत भलासे हो ।।
   हिन्दी पद संग्रह, पृ. 178.
3. अरहंत सुमरि मन बावरे ।।
   ख्याति लाभ पूजा तजि भाई । अंतर प्रभु लौं जाव रे ।। वही, पृ. 139.
4. वही, पृ. 138. इसके अतिरिक्त 'सुमिरन प्रभु जी की कट रे प्रानी, पृ. 164, अरे मन सुमरि देव जिनराय, पृ. 187 भी दृष्टव्य हैं ।
5. सीमन्धर स्वामी स्तवन, 14-15.
6. चतुर्विन्शति जिनस्तुति, जैन गुर्जर कविओ, तृतीय भाग, पृ. 1479, देखिये-चेतन पुद्गल ढमाल, 29, दि. जैन मंदिर नागदा बूंदी में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति.

जगत में सौ देवन को देव ।
जासु चरन परसै इन्द्रादिक होय मुकति स्वमेव ।
नहीं तन रोग न श्रम नहि चिन्ता, दोष अठारह मेव ।
मिटे सहज जाके ता प्रभु की करत बनारसि सेव ।[1]

कुमुदचन्द्र भी प्रभु के चरण-सेवा की प्रार्थना करते हैं--'प्रभु पाय लागौं करूं, सेव थारी, तू सुनलो अरज श्री जिनराज हमारी ।'[2] भैया भगवतीदास प्रभु के चरणों की शरण में जाकर प्रबल कामदेव की निर्दयता का शिकार होने से बचना चाहते हैं ।[3] आनंदघन संसार के सभी कार्य करते हुए भी प्रभु के चरणों में उसी प्रकार मन लगाना चाहते हैं जिस प्रकार गायों का मन सब जगह घूमते हुए भी उनके बछड़ों में लगा रहता है---

ऐसे जिन चरण चित पद लाउं रे मना,
ऐसे अरिहंत के गुण गाऊं रे मना ।
उदर भरण के कारणे रे गउवां बन में जाय,
चारो चहुं दिसि फिरै, बाकी सुरत बछरू आ मांय ।।[4]

भगवतीदास पार्श्वजिनेन्द्र की भक्ति में अगाध निष्ठा व्यक्त करते हुए संसारी जीव को कहते है कि उसे इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं हैं ।'उसकी रात-दिन की चिन्ता पार्श्वनाथ की सेवा से ही नष्ट हो जायेगी---

काहे को देशदिशांतर धावत, काहे रिझावत इन्द्र नरिंद ।
काहे को देवि औ देव मनावत, काहे को शीस नवावत चंद ।।
काहे को सूरज सीं करजोरत, काहे निहोरत मूढ़ मुनिंद ।
काहे को सोच करे दिन रैन तू, सेवत क्यों नहि पार्श्व जिनंद ।।[5]

जगतराम प्रभु के समक्ष अपनी भूल को स्वीकार करते हुए कहते हैं जिन विषय कषाय रूपी नागों ने उसे डसा है उससे बचने के लिए मात्र आपका भक्ति-

---

1. हिन्दी पद संग्रह, भूमिका, पृ. 16–17.
2. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 132.
3. तेरी ही शरण जिन जारे न बसाय याको सुभटा सो धूजे तोहि-मोहि ऐसो भायो है । ब्रह्मविलास, जैन शोध और समीक्षा, पृ. 55.
4. आनंदघन पद संग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल बंबई, सं. 1971, पद 95, पृ. 413.
5. ब्रह्मविलास, फुटकर कविता, पृ. 91.

गरूड़ ही सहायक सिद्ध हो सकता है।'[1] खुशालचन्द काला भगवान् की चरण सेवा का आश्रय लेकर संसार-सागर से पार होना चाहते हैं 'सुरनर सेस सेवा-करें जी चरण कमल की वोर, भमर समान लग्यो रहे जी, निसि-पासर भोर ॥'[2] कविवर दौलतराम अपने आराध्य के सिवा और किसी की चरण सेवा में नहीं जाना चाहते हैं-

जाउं, कहां शरन तिहारो ॥
चूक अनादि तनी या हमारी, माफ करौं करुणा गुन धारै ॥
डुबत हों भवसागर में अब, तुम बिन को मोहि पार निकारै ॥
तुन सम देव अबर नहि कोई, तातैं हम यह हाथ पसारे ॥
मोसम अधम अनेक ऊबारे, बरनत हैं गुरु शास्त्र अपारे ॥
दौलत को भवपार करो अब. आयो है शरनागत थारे ।[3]

कवि बुधजन को भी जिन शरण में जाने के बाद मरण का कोई भय नहीं दिखाई देता। वह भ्रमविनाशक, तत्त्व प्रकाशक और भवदधितारक है—

हम शरन गह्यौ जिन चरन को।
अब औरन की मान न मेरे, डर हुरह्यौ नहिं मरनको ॥1॥
भरम विनाशन तत्त्व प्रकाशन, भवदधि तारन तरन को।
सुरपति नरपति ध्यान धरत वर, करि निश्चय दु:ख हरन को ॥2॥
या प्रसाद ज्ञायक निज मान्यौ, जान्यौ तन जड़ परन को।
निश्चय सिधसौ पै कषायतैं, पात्र भयो दुख भरन को ॥3॥
प्रभु बिन और नही या जग में, मेरे हित के करन को।
बुधजन की अरदास यही है, हर संकट भव फिरन को ॥4॥[4]

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने स्तुति अथवा वन्दनापरक सैकड़ों पद और गीत लिखे हैं। उनमें भक्त कवियों ने विविध प्रकार से अपने आराध्य से याचनायें की है। भट्टारक कुमुदचन्द्र पार्श्व प्रभु की स्तुति करके ही अपने जन्म

---

1. प्रभु बिन कौन हमारो सहाई।............
   जैन पदावली, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका 15वां त्रैवार्षिक विवरण, संख्या 95; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 256.
2. चौबीस स्तुति पाठ, दि. जैन पंचायती मंदिर बड़ौत, संभवनाथजी की विनती, गुटका नं. 47, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 335.
3. दौलत जैन पद संग्रह, पद 18, पृ. 11, इसी तरह का एक अन्य पद नं. 34 भी देखिये, हिन्दी पद संग्रह—द्यानतराय, पृ. 140.
4. बुधजन विलास, पृ. 28–29.

सफलता मानते हैं। उसी से उनके तन-मन की प्राधि-व्याधि भी दूर हो जाती है—'जनम सफलभयौ भयौ सुकाज रे। तन की तपत टरी सब मेरी, देखत लोड़ण पास भाज रे।'[1] लावण्य समय ने भगवान ऋषभदेव की वन्दना करते हुए उन्हें भवतारक और सुखकारक कहा है।[2] श्री क्षान्तिरंग गणि को पूर्ण विश्वास है कि पार्श्व जिनेन्द्र की वन्दना करने से अज्ञान ही नष्ट नहीं होता वरन् मनवांछित फल की भी प्राप्ति होती है—

पास जिणंद खहराबाद मंडण, हरष धरी नितु नमस्यं हो ॥
रोर तिमिर सब हेलेंहि हरस्यूं, मनवांछित फलवरस्यं ॥[3]

कुशललाभ कवि सरस्वती की वन्दना करते हुए उसे सुराणी, स्वामिनी और वचन विलासणी मानते हैं। वह समस्त संसार में व्याप्त एक ज्योति है।[4] रामचन्द तीर्थंकर वर्धमान को प्रणाम करते हैं और लोकालोक प्रकाशक उनके स्तवन से मोहतम को दूर करते हैं-'प्रणामो परम पुनीत नर, वरधमान जिनदेव।'[5] कविवर बनारसीदास ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अनेक प्रकार से स्तुति की है जिसमें भाव और भाषा का सुन्दर समन्वय हुआ है—

करम भरम जग तिमिर हरनखग,
उरन लखन रग सिवमगदरसी।
निरखत नयन भविकजल बरसत,
हरखत अमित भविक जन सरसी ॥
मदन कदन-जिन परम धरम हित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद तन मुकुट सपत फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी ॥1॥[6]

कविवर दौलतराम अपने आराध्य से भव दुःख को हरण करने की प्रार्थना करते हैं, और उनका गुणगान करते हुए कहते हैं कि हे परमेश, तुम मोक्षमार्ग दर्शक

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 19.
2. वैराग्यविनती, जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग. पृ. 71–78.
3. पार्श्वजिनस्तवन, खैराबाद स्थित गुटके में निबद्ध हस्तलिखित प्रति.
4. गोडी पार्श्वनाथ स्तवनम्, जैन गुर्जर कविओ, पहला भाग, पृ. 216.
5. सीताचरित, का. ना. प्र. पत्रिका का बारहवां त्रैवार्षिक विवरण, ऐपेन्डिक्स 2, पृ. 1261, बाराबंकी के जैन मन्दिर से उपलब्ध प्रति।
6. नाटक समयसार, मंगलाचरण, पृ. 2.

हो और मोह रूपी दावानल के लिए नीर हो। मेरी वेदना को दूर करो और कर्म-जंजीर से मुझे मुक्त करो—

हमारी वीर हरो भव पीर ॥
मैं दुःख तपित दयामृतसर तुम, लखि आयो तुम तीर।
तुम परमेश मोखमगदर्शक, मोहदवानलनीर ॥1॥
तुम विनहेत जगत उपगारी. शुद्ध चिदानन्द धीर।
गनपतिज्ञान समुद्र न लंघें, तुम गुनसिन्धु गहीर ॥2॥
याद नहीं मैं विपति सही जो, धर धर अमित शरीर।
तुम गुन चिंतत नशत तथा भव ज्यों घन चलत समीर ॥3॥
कोटवार की अरज यही है, मैं दुःख सहूं अधीर।
हरहु वेदना फन्द दौल की, कतर कर्म जंजीर ॥4॥[1]

जगजीवन के पद भी बड़े हृदयहारी हैं। कवि अपने आराध्य से जन्म–मरण का चक्कर दूर करने का निवेदन करता है और 'दीनबन्धु' जैसे विरद को निर्वाह करने की प्रार्थना करता है।[2] बुधजन भी प्रभु की महिमा को अच्छी तरह जानते हैं। वे उनके दर्शन मात्र से ही अपने राग-द्वेष को भूल जाते हैं—

प्रभु तेरी महिमा बरणी न जाई ॥
इन्द्रादिक सब तुम गुण गावत, में कछु पार न पाई ॥1॥
षट् द्रव्य मे गुण व्यापत जैते, एक समय में लखाई।
ताकी कथनी विधि निषेधकर, द्वादस अंग सवाई।
क्षायिक समकित तुम ढिग पावत और ठौर नहिं पाई
जिन पाई तिन भव तिथि गाही, ज्ञान की रीति बढ़ाई ॥3॥
मो से अल्प बुधि तुम उपावत, श्रावक पदवी पाई।
तुम ही तै अभिराम लखूं निज राग दोष विसराई ॥4॥[3]

भक्त कवि आराध्य से अपने आपको अत्यन्त हीन समझता है और लघुता व्यक्त करते हुए दास्य भाव को प्रकट करता है। भ. कुमुदचन्द के भक्तिराग ने उन्हें अनाथ बना दिया और फलतः स्वयं को भगवान के चरण-शरण में छोड़ दिया।

---

1. दौलत जैनपद संग्रह, कलकत्ता, पद 31, पृ. 19.
2. तेरहपन्थी मन्दिर, जयपुर, पद सग्रह 946. पत्र 90, हिन्दी जैन भक्त कवि और काव्य पृ. 214.
3. हिन्दी पद संग्रह. 206.

नाथ अनाथनि कूं कछु दीजे ॥
विरद संभारी धारी हठ मन तें, काहे न जग जस लीजे ॥1॥
तुम्ही निवाज कियो हूं मानष गुण अवगुण न गणीजे।
व्याल बाल प्रतिपाल सविषतरु, सौ नहीं आप हणीजे ॥2॥
में तो सोई जो ता दीन हुतो जा दिन को न छूईजे।
जो तुम जानत और भयो है बाधि बाजार बेचीजे ॥3॥
मेरे तो जीवन धन सब तुमहि, नाथ तिहारे जीजे।
कहत कुमुदचन्द चरण शरण मोहि, जे भावे सो कीजे ॥4।[1]

कविवर बनारसीदास ने आराध्य के प्रति लघुता व्यक्त करते हुए उसके स्वरूप को अगम और अथाह माना है उसके स्वरूप का वर्णन करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार उलूकपोत रवि किरण के उद्योत का वर्णन नहीं कर सकता और बालक अपनी बाहों से सागर पार नहीं कर सकता।

प्रभुस्वरूप अति अगम अथाह। क्यों हमसे इह होय निवाह।
ज्यौं जिन अंध उलूको पोत। कहि न सकै रवि किरन उदोत ॥4॥
तुम असंख्य निर्म्मलगुणखानि। मैं मतिहीन कहों निजबानि।
ज्यौं बालक निजबांह पसार। सागर परिमित कहै विचार ॥6॥[2]

जगतराम प्रभु का अनुग्रह पाने के लिए हाथ जोड़कर बैठे हैं और अवगुणों को अनदेखा करने की प्रार्थना कर रहे हैं। कवि का यह 'चेरा' का स्वरूप दृष्टव्य है-

तुम साहिब में चेरा, मेरा प्रभु जी हो ॥
चूक चाकरी मो चेरा की, साहिब सी जिन मेरा ॥1॥
टहल यथाविधि बन नहीं आवे, करम रहे कर बेरा।
मेरो अवगुण इतनो ही लीजे, निशदिन सुमरन तेरा ॥2॥
करो अनुग्रह अब मुझ ऊपर मेरो अब उरझेरा।
'जगतराम' कह जोड़ बीनवें राखो चरणन नेरा ॥3॥[3]

---

1. वही, पृ. 15, रूपचन्द भी लघुमंगल में 'अद्भुत है प्रभु महिमा तेरी, बरनी न जाय अलिप मति मेरी' कहकर लघुता व्यक्त करते हैं।
2. बनारसीविलास, कल्याण मन्दिर स्तोत्र, भाषानुवाद, पद्य 4 और 6 पृ. 124.
3. वही, पृ. 100.

बखत राम साह भी इसी तरह—"दीनानाथ दया मो पे कीजे" कहकर अपने आपको अधम और पातिक बताते हैं ।[1] बुधजन भी चेरा' बनकर अष्टकर्मों को नष्ट करना चाहते हैं[2]—

साधक भक्त कवि की समता और एकता की प्रतीति के सन्दर्भ में मैं पहले विस्तार से लिख चुकी हूं । 'समता भाव भये हैं मेरे आंन भाव सब त्यागोजी' जैसे भाव उसके मन में उदित होते हैं और वह एकाकारता की अनुभूति करने लगता है ।[3] वह अब रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित कर संसार सागर से पार करने की प्रार्थना करता है-

तुम माता तुम तात तुम ही परम धणीजी ।
तुम जग सांचा देव तुम सम और नहीं जी ॥1॥
तुम प्रभु दीनदयालु मुन्द दुष दूरि करो जी ।
लीजे मोहि उबारि मैं तुम सरण गही जी ॥2॥
संसार अनंतन ही तुम ध्यान धरो जी ।
तुम दरसन बिन देव दुरगति मांहि सह्यौजी ॥3॥[4]

भक्त कवि आराध्य के रूप पर आसक्त होकर उसके दर्शन की आकांक्षा लिये रहता है । सीमान्धर स्वामी के स्तवन में भेरुनन्द उपाध्याय ने प्रभु के रूप का बड़ा सुन्दर चित्रांकन किया है जिसमें उपमान-उपमेय का स्वाभाविक संयोजन हुआ है ।[5] भट्टारक ज्ञानभूषण (वि. सं. 1572) ने तीर्थंकर ऋषभ की बाल्यावस्था का का चित्रण करते समय उनके मुख को पुर्णमासी के समान बताया और हाथों को कल्पवृक्ष की उपमा दी । उनके काव्य में बालक का चित्र अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से उभरा हुआ है जिसमे अनेक उपमानों का प्रयोग है ।[6]

---

1. वही, पृ. 163.
2. बुधजनविलास, पद 52, पृ. 29.
3. हिन्दी पद संग्रह, नवलराम, पृ. 182.
4. कर्मघटावलि, कनक कीर्ति, बधीचन्द दि जैन मन्दिर, जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति, गुटका नं. 108.
5. सीमान्धर स्वामी स्तवन, 9 जैन स्तोत्र संदोह, प्रथम भाग, अहमदाबाद, 1932, पृ. 340-345.
6. आहे मुख जिसु पुनिम चन्द नरिंदनमित पद पीठ ।
   त्रिभुवन भवन मंझारि सरीखउ कोई न दीठ ॥
   आहे कर सुरतरु वरं शाख समान सजानु प्रमाण ।
   तेह सरीखउ लहकड़ीं भूप सरूपहिं जांणि ॥
   आदीश्वर फागु, 141, 146, आमेरशास्त्र भण्डार, जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति, क्रमसंख्या, 95.

पांडे रूपचन्द का काव्य सौष्ठव देखिये जिसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का समुचित प्रयोग हुआ है—

प्रभु तेरी परम विचित्र मनोहर, मूरति रूप बनी।
अंग-अंग की अनुपम सोभा, बरनि न सकति फनी॥
सकल बिकार रहित बिनु अम्बर, सुन्दर सुभ करनी।
निराभरन भासुर छबि सोहत, कोटि तरुन तरनी॥
वसु रस रहित सांत रस राजत, खलि इहि साधुपनी।
जाति विरोधि जन्तु जिहि देखत, तजत प्रकृति अपनी॥
दरिसनु दुरित हरै चिर संचितु, सुरनरफनि मुहनी।
रूपचन्द कह कहौ महिमा, त्रिभुवन मुकुट-मनी॥[1]

कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में पंचपमेष्ठियों की जो स्तुतियाँ की हैं उनमें तीर्थंकर के शरीर की स्तुति यहा उल्लेखनीय है।[2] जगतराम ने भी इसी प्रकार आराध्य की छवि देखकर शाश्वत सुख की प्राप्ति की आशा की है।[3] नवलराम के नेत्रों में उसकी छाया सुखद प्रतीत होती है—'म्हारा तो नैना में रही छाय, हो जी हो जिनन्द थांकी मूरति।"[4] दौलतराम को भी ऐसा ही सुखद अनुभव होता है और साथ ही उनके मोह महातम का नाश हुआ है—'निरखत सुख पायौ जिन मुख चन्द मोह महातम नाश भयौ है, उर अम्बुज प्रफुलायौ। ताप नस्यौ बढि उदधि अनन्द॥[5] बुधजन भी 'छवि जिनराई राजै छै' कहकर भगवान की स्तुति करते हैं।[6]

---

1. रूपचन्द शतक (परमार्थी दोहाशतक, जैन हितैषी, भाग 6, अंक 5–6.
2. जाके देह-द्युति सो दसो दिशा पवित्र भई-ना. स., जीवद्वार, 25.
3. अद्भुत रूप अनूपम महिमा तीन लोक में छाजै।
   जाकी छवि देखत इन्द्रादिक चन्द्र सूर्य गण लाजै॥
   अरि अनुराग विलोकत जाकों अशुभ करम तजि भाजै।
   जो जगराम बनै सुमरन तो अनहद बाजा बाजै॥
   दि. जैन मन्दिर, बड़ौत में सुरक्षित पद संग्रह, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 257.
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 184.
5. दौलत जैन पद संग्रह, 43 वां पद, पृ. 25.
6. बुधजन बिलास, 57 वां पद, पृ. 30.

रूपासक्तिमय भक्ति के माध्यम से भक्त भगवद् दर्शन के लिए लालायित रहता है। वह जिनेन्द्र का दर्शन करने में अपना जन्म सफल मानता है और ध्यान धारण करने से संसिद्धि प्राप्त करता है।[1] उपाध्याय जयसागर को आदिनाथ के दर्शनों से अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है।[2] पद्म तिलक ने भी आदिनाथ की स्तुति की है जिससे समस्त मनोवांछित अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं।[3] मुनि जयलाल का मन प्रभु के दर्शन से हर्षित हो जाता है। वह राज ऋद्धि की आकांक्षा नहीं करता, बस, उसे तो आराध्य के दर्शनों की ही प्यास लगी है।[4] यह दर्शन सभी प्रकार के संकट और दुरित का निवारक है–'उपसमै संकट विकट कष्टक दुरित पाप निवारणा।'[5] मनोवांछित चिन्तामणि है।[6] जिसे वह अच्छा नहीं लगता वह मिथ्या दृष्टि है। जिन प्रतिमा जिनेन्द्र के समान है। उसके दर्शन करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं—

जिन प्रतिमा जिन सम लेखीयइ।
ताको निमित्त पाय उर अन्तर राग दोष नहि देखीयइ।।
सम्यग्दृष्टि होइ जीव जे, जिस मन ए मति रेखीयइ।
यहु दरसन जांकू न सुहावइ, मिथ्यामत सेखीयइ।
चितवत चित चेतना चतुर नर नयन मेष जे मेखीयइ।
उपशम कृपा ऊपजी अनुपम, कर्म करइ न सेखीयइ।।
वीतराग कारण जिन भावन, ठवणा तिण ही पेखीयइ।
चेतन कवर भये निज परिणति, पाप पुन्न दुइ लेखीयइ।।[7]

विद्यासागर ने 'निरख्यो नयने जब रसायन मन्दिर सुखकर' लिखकर भगवान के दर्शन का आनन्द लिया है।[8] बनारसीदास ने जिनबिम्ब प्रतिमा के माहात्म्य का इस प्रकार वर्णन किया है—

---

1. सीमन्धर स्वामी स्तवन, विनयप्रभ उपाध्याय, पृ. 120–24.
2. चतुर्विन्शती जिनस्तुति, जैन गुर्जर कविओ, तृतीय भाग, पृ. 1479.
3. गर्भ विचार स्तोत्र, 27 वां पद्य
4. विमलनाथ, जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 94.
5. पार्श्वजिनस्तवन-गुणसागर, जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 95.
6. गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन-कुशललाभ, जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ. 216 अन्तिम कलश.
7. कुअरपाल का पद। कवि की अनेक रचनायें सं. 1684-1685 में लिखे एक गुटके में निबद्ध हैं जो की श्री अगरचन्द नाहटा को उपलब्ध हुआ था।
8. भूपाल स्तोत्र छप्पय, दूंणी, जयपुर का जैन शास्त्र भण्डार, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 389.

जाके मुख दरससौं भगत के नैननिकों,
थिरता की बानि बढे चंचलता बिनसी।
मुद्रा देखि केवली की मुद्रा याद आवै जहां,
जाके आगे इन्द्र की विभूति दीसै तिनसी ।।
जाको जस जपत प्रकाश जगे हिरदै मे,
सोइ सुद्धमति होई हुती जु मलिन सी।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
सो है जिनकी छवि सुविद्यमान जिनसी ।।[1]

कविवर दौलतराम ने जिन दर्शन करके भरपूर सुख पाया 'निरखत सुख पायौ, जिन मुखचन्द'। उन्हें जिन छवि त्रिभुवन आनन्दकारिणी और जगतारिणी प्रतीत हुई है।[2] बुधजन के नयन नाभिकुमर के दर्शन करते ही सफल हो गये—'तिरखै नाभिकुमरजी, मेरे नैन सफल भये।' जिनेन्द्र के दर्शन करते ही उनका मिथ्यातम भाग गया, अनादिकालीन संताप मिट गया और निजानुभव पाकर अनन्त हर्ष पा लिया—

लखै जी अज चन्द जिनन्द प्रभु कौं मिथ्यातम मम भागौ ।।टेक।।
अनादिकाल की तपत मिटी सब, सूतौ जियरौ जागौ ।।1।।
निज संपति निज ही मे पाई, तब निज अनुभव लागौ।
बुधजन हरषत आनन्द बरषत, अमृत झर मैं पागौ ।।2।।[3]

भक्त कवि आराध्य का दर्शन कर भक्तिवशात् उनके समक्ष अपने पूर्वकृत कर्मों का पश्चात्ताप करता है जिससे उसका मन हल्का होकर भक्ति भाव में और अधिक लीन हो जाता है। भट्टारक कुमुदचन्द्र 'मैं तो नरभव बाधि गवायो। न कियो जपतप व्रत विधि सुन्दर, काम भलो न कमायो।' तथा "चेतन चेतत क्यूं बावरे। विषय विषे लपटाय रहियो कहा, दिन दिन छीजत जात आपरे' जैसे पद्यों में अपना भक्ति-सिक्त पश्चात्ताप व्यक्त करते हैं।[4] रूपचन्द 'जनमु अकारथ ही जु गयौ ।। धरम अकारथ काम पद तीनौ, एकोकरि न लयौ।'[5] द्यानतराय तो 'कबहूं न निज घर आये ।। परघर फिरत बहुत दिन बीते नांव अनेक धराये ।।'[6] व नवलराम 'प्रभु चूक

1. नाटक समयसार, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, पृ. 365.
2. दौलत जैन पद संग्रह, 43, 111, 112 वें पद्य.
3. बुधजन विलास, 117, पृ. 60.
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 14 और 20.
5. वही, पृ. 40.
6. वही, पृ. 109.

तकसीर मेरी माफ करिये' कहकर मिथ्यात्व क्रोध-मान माया लोभ इत्यादि विकार भावों के कारण किये गये कर्मों की भर्त्सना करते हैं और आराध्य से भवसागर पार कराने की प्रार्थना करते है [1]—"प्रभु चूक तकसीर मेरी माफ करिये।"

साधक पश्चात्ताप के साथ भक्ति के वश आराध्य को उपालम्भ देता है कि 'जो तुम दीनदयाल कहावत। हमसे अनाथनि हीन दीन कूं काहे न नाथ निवाजत ॥' प्रभु, तुम्हें अनेक विघ्नों से घिरे सेवक के प्रति मौन धारण नहीं करना चाहिए। तुम विघनहारक, कृपा सिन्धु जैसे विरुदों को धारण करते हो तब उनका पूरा निर्वाह करना चाहिए।[2] द्यानतराय उपालम्भ देते हुए कुछ मुखर हो उठते हैं। और कह देते हैं कि आप स्वयं तो मुक्ति में जाकर बैठ गये पर मैं अभी भी संसार में भटक रहा हूं। तुम्हारा नाम हमेशा मैं जपता हूं पर मुझे उससे कुछ मिलता नहीं। और कुछ नहीं, तो कम से कम राग-द्वेष को तो दूर कर ही दीजिए—

तुम प्रभु कहियत दीनदयाल।
आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल ॥1॥
तुमरो नाम जपैं हम नीके, मनवच तीनों काल।
तुम तो हमको कछु देत नहिं, हमरो कौन हवाल ॥2॥
बुरे भले हम भगत तिहारे जानत हो हम चाल।
और कछु नहिं यह चाहत हैं, राग-दोष को टाल ॥3॥
हम सौ चूक परी सो वकसो, तुम तो कृपा विशाल।
द्यानत एक बार प्रभु जगतैं, हमको लेहु निकाल ॥4॥[3]

एक अन्यत्र स्थान पर कवि का उपालम्भ देखिये वह उद्धार किये गये व्यक्तियों का नाम गिनाता है और फिर अपने इष्ट को उलाहना देता है कि मेरे लिए आप इतना विलम्ब क्यों कर रहे है।

मेरी बेर कहा ढील करी जी।
सूली सो सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी ॥

---

1. वही, पृ. 181–अ2.
2. प्रभु मेरे तुमकूं ऐसी न चाहिए
   सघन विघन घेरत सेवक कुं, मौन धरी किऊं रहिये ॥1॥
   विघन हरन सुखकरन सबनिकुं चित चिन्तामनि कहिये।
   असरण शरण अबंधुबंधु कृपासिन्धु को विरद निबहिये।
   हिन्दी पद सग्रह, भ. कुमुदचन्द्र, पृ. 14, लूणकरणजी पाण्डया मन्दिर, जयपुर के गुटक नं. 114 मे सुरक्षित पद।
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 114–15.

सीता सती अगनि में बैठी पावक नीर करी सगरी जी।
वारिषेण पै खड्ग चलायो, फूलमाल कीनी सुथरी जी॥
धन्या वापी परलो निकाल्यौ ता घर रिद्ध अनेक भरी जी।
सिरीपाल सागर तैं तारयो, राजभोग कै मुकति वरी जी॥
सांपकियौ फूलन की माला, सोमा पर तुम दया घरी जी।
'द्यानत' में कुछ जांचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी।[1]

दौलतराम भी इस प्रकार उपालम्भ देते है और अवगुणों की क्षमा याचना कर आराध्य से दुःख दूर करने की प्रार्थना करते हैं—

नाथ मोहि तारत क्यों ना, क्या तकसीर हमारी॥
अंजन चोर महा अघ करता सप्त विसन का धारी।
वो ही मर सुरलोक गयो है, बाकी कछु न विचारी॥1॥
शूकर सिंह नकुल वानर से, कौन-कौन व्रत धारी।
तिनकी करनी कछु न बिचारी, वे भी भये सुर भारी॥2॥
अष्ट कर्म बैरी पूरब के, इन मो करी खुवारी।
दर्शन ज्ञान रतन हर लीने, दीने महादुख भारी॥3॥
अवगुण माफ करे प्रभु सबके, सबकी सुधि न विसारी।
दौलतराम खड़ा कर जोरे, तुम दाता मैं भिखारी॥4॥[2]

इस प्रकार प्रपत्तभावना के सहारे साधक अपने आराध्य परमात्मा के सान्निध्य मे पहुंचकर तत्तत् गुणो को स्वात्मा मे उतारने का प्रयत्न करता है। प्रपत्ति मे श्रद्धा और प्रेम की विशुद्ध भावना का अतिरेक होने के फलस्वरूप साधक अपने आराध्य के रग में रंगने लगता है। तद्रूप हो जाने पर उसका दुविधा भाव समाप्त हो जाता है और समरसभाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। यही सांसारिक दुःखों से त्रस्त जीव शाश्वत शांति की प्राप्ति कर लेता है और वीतरागता शुक्ल-ध्यान के रूप में स्फुरित हो जाती है। मध्यकालीन हिन्दी जैन भक्तो की भावाभि-व्यक्ति में इसी प्रकार की शान्ता भक्ति का प्राधान्य रहा है।

2. सहज-साधना और समरसता

योग साधना भारतीय साधनाओं का अभिन्न अंग है। इसमें साधारणतः मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया का समावेश किया गया है। उत्तर काल में यह

1. धर्मविलास, 54वां पद्य।
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 216–7. खुशालचन्द काला भी इसी प्रकार उलाहना देते हुए भक्ति व्यक्त करते हैं—'तुम प्रभु अधम अनेक उधारे ढील कहा हम बारो जी।'

परम्परा हठयोग की प्रस्थापना में मूलकारण रही। इसमें सूर्य और चन्द्र के योग से श्वासोच्छ्वास का निरोध किया जाता है अथवा सूर्य (इड़ा नाड़ी) और चन्द्र (पिंगला) को रोककर सुषुम्णा मार्ग से प्राणवायु का संचार किया जाता है। उत्तर कालीन वैदिक और बौद्ध सम्प्रदाय में हठयोग साधना का बहुत प्रचार हुआ। जैन साधना में मुनि योगीन्दु, मुनि[1] रामसिंह और आनंदघन में इसके प्रारंभिक तत्त्व अवश्य मिलते हैं।[3] पर उसका वह वीभत्स रूप नहीं मिलता जो उत्तरकालीन वैदिक अथवा बौद्ध सम्प्रदाय में मिलता रहा है। जैन-साधना का हठयोग जैन धर्म के मूल भाव से पतित नहीं हो सका। उसे जैनाचार्यों ने अपने रंग में रंगकर अन्तर्भूत कर लिया। योग-साधना सम्बन्धी प्रचुर साहित्य भी जैन साधकों ने लिखा है। उसमें योगदृष्टिसमुच्चय, योगविन्दु, योगविंशति, योगशास्त्र आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

योग का तात्पर्य है यम-नियम का पालन करना। यम का अर्थ है इन्द्रियों का निग्रह और नियम का अर्थ है महाव्रतों का पालन। पचेन्द्रियों के निग्रह के साथ ही 'अन्तर विजय' का विशेष महत्व है। उसे ही सत्य ब्रह्म का दर्शन माना जाता है—'अन्तर विजय सूरता सांची सत्य ब्रह्म दर्शन निरवाची।'[4] इसी से योगी के मन की परख की जाती है।[5] ऐसा ही योगी धर्मध्यान और शुक्लध्यान को पाता है। दौलतराम ने ऐसे ही योगी के लिए कहा है—

'ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै, सो फेर न भव में आवैं।[6]

बनारसीदास का चिन्तामणि योगी आत्मा सत्य रूप है जो त्रिलोक का शोक हरण करने वाला है और सूर्य के समान उद्योतकारी है।[7] कवि द्यानतराय को उज्जवल दर्पण के समान निरजन आत्मा का उद्योत दिखाई देता है। वही निर्विकल्प शुद्धात्मा चिदानन्द रूप परमात्मा है जो सहज साधना के द्वारा प्राप्त हुआ है इसीलिए कवि कह उठता है—'देखो भाई आतमरामविराजे।[8] साधक अवस्था के प्राप्त करने के बाद साधक के मन में दृढ़ता आ जाती है और वह कह उठता है—

1. पाहुड़ दोहा, 168.
2. योगसार, पृ. 384.
3. पाहुड़ दोहा, पृ. 6.
4. बनारसीविलास, प्रश्नोत्तर माला, 12, पृ. 183.
5. मनरामविलास, 72–73 ठोलियों का दि. जैन मंदिर, जयपुर, वेष्टन नं. 395.
6. दौलत जैन पद संग्रह, 65, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता.
7. बनारसीविलास, अध्यात्मपद पंक्ति, 21, पृ. 236.
8. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 114.

'अब हम अमर भये न मरेंगे।'[1]

शुद्धात्मावस्था की प्राप्ति में समरसता और तज्जन्य अनुभूति का आनंद जैनेतर कवियों की तरह जैन कवियों ने भी लिया है। उसकी प्राप्ति में सर्वप्रथम द्विविधा का अन्त होना चाहिए जिसे बनारसीदास और भैया भगवतीदास ने दूर करने की बात कही है। आनन्दतिलक की आत्मा समरस में रंग गई—

समरस भावे रंगिया अप्पा देखई सोई,
अप्पउ जाणइ परणई आणंद करई णिरालंब होई।

यशोविजय ने भी उनका साथ दिया।[2] बनारसीदास को वह कामधेनु चित्रावेलि और पंचामृत भोजन जैसा लगा।[3] उन्होंने ऐसी ही आत्मा को समरसी कहा है जो नय-पक्षों को छोड़कर समतारस ग्रहण करके आत्म स्वरूप की एकता को नहीं छोड़ते और अनुभव के अभ्यास से पूर्ण आनंद में लीन हो जाते हैं।[4] ये समरसी सांसारिक पदार्थों की चाह से मुक्त रहते हैं—'जे समरसी सदैव तिनकौं कछु न चाहिए।[5] ऐसा समरसी ब्रह्म ही परम महारस का स्वाद चख पाता है। उसमें ब्रह्म, जाति, वर्ण, लिंग, रूप आदि का भेद अब नहीं रहता।

भूधरदासजी को सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद कैसी आत्मानुभूति हुई और कैसा समरस रूपी जल झरने लगा, यह उल्लेखनीय है—

अब मेरे समकित सावन आयो॥
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम, पावस सहज सुहायो॥
अनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो॥
बोलै विमल विवेक पपीहा, सुमति सुहागिन भायो॥
भूल धूलकहि मूल न सूझत, समरस जल झर लायो।
भूधर को निकसै अब बाहिर, निज निरचू घर पायो॥[6]

---

1. आणंदा, आमेरशास्त्र भंडार जयपुर की हस्तलिखित प्रति.
2. हि. जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 202, जलविलास.
3. नाटक समयसार, उत्थानिका, 19.
4. नाटक-समयसार, कर्ताकर्म क्रिया द्वार, 27, पृ. 86.
   ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव'
   समरसी भए एकता सों नहि टले हैं।
   महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
   बल परगति सुखरासि मांहि टले हैं॥
5. साध्य-साधक द्वार, 10, पृ 340.
6. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 147.

आनंदघन पर हठयोग की जिस साधना का किंचित् प्रभाव दिखाई देता है वह उत्तरकालीन अन्य जैनाचार्यों मे नहीं मिलता—

आतम अनुभव-रसिक कौ, अजब सुन्यौ बिरतंत ।
निर्वेदी वेदन करै वेदन करै अनन्त ॥
आहारो बालुडो सन्यासी, देह देवल मठवासी ।
इड़ा-पिंगला मारग तजि जोगी, सुषमना घर बासी ॥
ब्रह्मरंध्र मधि सांसन पूरी, बाऊ अनहद नाद बजासी ।
यम नीयम आसन जयकारी, प्राणायाम अभ्यासी ॥
प्रत्याहार धारणाधारी, ध्यान समाधि समासी ।
मुल उत्तर गुण मुद्राधारी, पर्यंकासन वासी ॥[1]

द्यानतराय ने उसे गूंगे का गुड़ माना ।[2] इस रसायन का पान करने के उपरान्त ही आत्मा निरजन और परमानन्द बनता है ।[3] उसे हरि-हर-ब्रह्मा भी कहा जाता है । आत्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति को ही दौलतराम ने "शिवपुर की डगर समरस सौं भरी, सो विषय विरस रुचि चिरविसरी" कहा है ।[4]

मध्यकाल में जिस सहज-साधना के दर्शन होते हैं उससे हिन्दी जैन कवि भी प्रभावित हुए हैं पर उन्होंने उसका उपयोग आत्मा के सहज स्वाभाविक और परम विशुद्धावस्था को प्राप्त करने के अर्थ में किया है । बाह्याचार का विरोध भी इसी सन्दर्भ में किया है ।[5] जैन साधक अपने ढंग की सहज साधना दारा ब्रह्म पद प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे हैं । कभी कभी योग की चर्चा उन्होंने अवश्य की पर हठयोग की नही । ब्रह्मानुभूति और तज्जन्य आनंद की प्राप्ति का उद्‌घाटन करने में जैन-साधकों की उक्तियां न अधिक जटिल और रहस्यमय बनी और न ही उनके काव्य में अधिक अस्पष्टता आ पाई । जैन काव्य में सहज शब्द मुख्य रूप से तीन रूपों में प्रयुक्त हुआ है—

---

1. आनंदघन बहोत्तरी, पृ. 358.
2. द्यानत विलास, कलकत्ता.
3. आणंदा, आनंदतिलक, जयपुर आमेर शास्त्र भंडार की हस्तलिखित प्रति 2,
4. दौलत जैन पद संग्रह, 73 पृ. 40.
5. भेषधार रहे भैया, भेस ही में भगवान ।
भेष मे न भगवान, भगवान तो भाव में ॥ (बनारसीविलास, ज्ञानबावनी, 43 पृ. 87)

1. सहज–समाधि के रूप में 2. सहज-सुख के रूप में और 3. परमतत्व के रूप में।[1]

पीताम्बर ने सहज समाधि को अगम और अकथ्य कहा है। यह समाधि सरल नहीं है। वह तो नेत्र और वाणी से भी अगम है जिसे साधक ही जान पाते हैं—

"नैनन ते अगम अगम याही बैनन तें,
उलट 'पुलट बहै कालकूटह कह री।
मूल बिन पाए मूढ़ कैसे जोग साधि आवें,
सहज समाधि की अगम गति गहरी ॥34॥[2]

बनारसीदास ने उसे निर्विकल्प और निरुपाधि का प्रतीक माना। वही आत्मा केवलज्ञानी और परमात्मा कहलाता है। इसी को आतम समाधि कहा गया है जिसमें राग, द्वेष, मोह विरहित वीतराग अवस्था की कल्पना की गई है

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेंटि,
निरविकलप ग्यान मन में धरतु है ॥
इन्द्रियजनित सुख-दुख सौं विमुख है कैं।
परम के रूप है करम निर्जरतु है
सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि,
आतम अराधि परमातम करतु है ॥[3]
रागद्वेष मोह की दसासों भिन्न रहे यातैं.
सर्वथा त्रिकाल कर्म जाल कों विधुंसहै।
निरूपाधि आतम समाधि मैं बिराजे तातैं,
कहिए प्रगट पूरन परम हंस है ॥[4]

जैन साधकों ने नाम सुमिरन और अजपा जाप को अपनी सहज साधना का विषय बनाया है। साधारण रूप से परमात्मा और तीर्थंकरों का नाम लेना सुमिरन है तथा माला लेकर उनके उनके नाम का जप करना भी सुमिरन है। डॉ.

---

1. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. 244.
2. बनारसीविलास, ज्ञानबावनी, 34, पृ. 84.
3. नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृ. 141.
4. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, 82, पृ. 285.

पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने सुमिरन के जो तीन भेद माने हैं[1] उन्हें जैन साधकों ने अपनी साधना में अपनाया है। उन्होंने बाह्यसाधन का खंडनकर अन्त:साधना पर बल दिया है। व्यवहार नय की दृष्टि से जाप करना अनुचित नहीं है पर निश्चय नय की दृष्टि से उसे बाह्य क्रिया माना है। तभी तो द्यानतराय जी ऐसे सुमिरन को महत्व देते हैं जिसमें—

ऐसो सुमरन करिये रे भाई। पवन थंमै मन कितहु न जाई।।
परमेसुर सौं साचौं रहिजै। लोक रंजना भय तजि दीजै।।
यम अरु नियम दोऊविधि धारौ। आसन प्राणायाम समारौ।।
प्रत्याहार धारना कीजै। ध्यान समाधि महारस पीजै।।[2]

अनहद को ध्यान की सर्वोच्च अवस्था कहा जा सकता है जहां साधक अन्तरतम में प्रवेश कर राग-द्वेषादिक विकारी भावों से शून्य हो जाता है। वहां शब्द अतीत हो जाते हैं और अन्त में आत्मा का ही भाव शेष रह जाता है। कान भी अपना कार्य करना बंद कर देता है। केवल भ्रमरगुञ्जन-सा शब्द कानों में गूंजता रहता है।

अनहद सबद सदा सुन रे।।
आप ही जानै और न जानैं,
कान बिना सुनिये धुन रे।।
भमर गुंज सम होत निरन्तर,
ता अंतर गति चितवन रे।।[3]

इसीलिए द्यानतराय जी ने सोहं को तीन लोक का सार कहा है। जिन साधकों के श्वासोच्छवास के साथ सदैव ही सोहं सोहं की ध्वनि होती रहती है और जो सोहं के अर्थ को समझकर, अजपा की साधना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं—

सोहं सोहं होत नित, सांस उसास मझार।
ताको अरथ विचारियै, तीन लोक में सार।।

---

1. 1. जाप—जो कि बाह्य क्रिया होती है। 2. अजपाजाप—जिसके अनुसार साधक बाहरी जीवन का परित्याग कर आभ्यांतरित जीवन में प्रवेश करता है, 3. अनहद जिसके द्वारा साधक अपनी आत्मा के गूढ़तम अंश में प्रवेश करता है, जहां पर अपने आप की पहिचान के सहारे वह सभी स्थितियों को पार कर अंत में कारणातीत हो जाता है।
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 119.
3. वही, पृ. 118, आओ सहजवसन्त खेलैं सब होरी होरा।।
   अनहद शबद होत घनघोरा।। (वही, पृ. 119-20)

तीन लोक में सार, धार सिव खेत निवासी ।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहित गुण अष्ट विलासी ।।
जैसो तैसो आप, थाप निहचै तजि सोहं ।
अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं ।।[1]

आनंदघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अंतः कारण में अजपा जाप को जगाते हैं वे चेतन मूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं ।[2] इसीलिए संत आनंदघन भी सोहं को संसार का सार मानते हैं :—

चेतन ऐसा ज्ञान विचारो ।
सोहं सोहं सोहं सोहं सोहं अणु नबी या सारो ।।[3]

इस अजपा की अनहद ध्वनि उत्पन्न होने पर आनंद के मेघ की झड़ी लग जाती है और जीवात्मा सौभाग्यवती नारी के सदृश्य भावविभोर हो उठती हैं—

"उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी ।
झड़ी सदा आनंदघन बरखत, बन मोर एकनतारी ।।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सहज योग साधनाजन्य रहस्यभावना से साधक आध्यात्मिक क्षेत्र को अधिकाधिक विशुद्ध करता है तथा ब्रह्म (परमात्मा) और आत्मा के सम्मिलन अथवा एकात्मकता की अनुभूति तथा तज्जन्य अनिर्वचनीय परमसुख का अनुभव करता है । इन्हीं साधनात्मक अभिव्यक्तियों के चित्रण में वह जब कभी अपनी साधना के सिद्धान्तों अथवा पारिभाषिक श्‌बदों का भी प्रयोग करता है । इस शैली को डॉ० त्रिगुणायत ने शब्द मूलक रहस्यवाद और अध्यात्म मूलक रहस्यवाद कहा है ।[5] इस तरह मध्यकालीन जैन साधकों की रहस्यसाधना अध्यात्ममूलक साधनात्मक रहस्यभावना की सृष्टि करती है ।

---

1. धर्मविलास, पृ. 65, सोहं निज जपै, पूजा आगमसार ।
   सत्संग में बैठना, यही करै व्योहार ।। (अध्यात्म पंचासिका दोहा, 49.
2. आसा मारि आसन धरि घट में, अजपा जाप जगावै ।
   आनंदघन चेतनमयमूरति, नाहि निरंजन पावै ।। ।। (आनंदघन बहोत्तरी, पृ. 359.
3. आनंदघन बहोत्तरी, पृ. 395; अपभ्रंश और हिन्दी जैन रहस्यवाद, पृ. 255.
4. वही, पृ. 365.
5. कबीर की विचारधारा—डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, पृ. 226–228.

3 भावनात्मक रहस्य भावना

साधक की आत्मा के ऊपर से जब अष्ट कर्मों का आवरण हट जाता है, और संसार के मायाजाल से उसकी आत्मा मुक्त होकर विशुद्धावस्था को प्राप्त कर लेती है तो उसकी भाव दशा भंग हो जाती है। फलतः साधक विरह-विधुर हो तड़प उठता है। यह आध्यात्मिक विरह एक ओर तो साधक को सत्य की खोज अर्थात् परमपद की प्राप्ति की ओर प्रेरित करता है और दूसरी ओर उसे साधना में संलग्न रखता है। साधक की अंतरात्मा विशुद्धतम होकर अपने में ही परमात्मा का रूप देखती है तब वह प्रेम और श्रद्धा की अतिरेकता के कारण उससे अपना घनिष्ठ संबंध स्थापित करने लगती है। यही कारण है कि कभी साधक उसे पति के रूप में देखता है और कभी पत्नी के रूप में। क्योंकि प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्यरति में देखी जाती है। अतः रहस्यभावना की अभिव्यक्ति सदा प्रियतम और प्रिया के आश्रय में होती रही है।

आध्यात्मिक साधना करने वाले जैन एवं जैनेतर सन्तों एवं कवियों ने इसी दाम्पत्यमूलक रतिभाव का अवलम्बन परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए लिया है। आत्मा परमात्मा का प्रिय-प्रेमी के रूप में चित्रण किया गया है। श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव का यह कथन इस सन्दर्भ में उपयुक्त है कि लोक में आनंदशक्ति का सबसे अधिक स्फुरण दाम्पत्य संयोग मे होता है, जिसमें दो की पृथक् सत्ता कुछ समय के लिए एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती है। आनंद स्वरूप विश्वसत्ता के साक्षात्कार का आनंद इसी कारण अनायास लौकिक दाम्पत्य प्रेम के रूपकों में प्रकट हो जाता हैं। अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैध भाव ही समाप्त हो जाता है। मध्यकालीन कवियो ने आध्यात्मिक प्रेम के सम्बन्ध में आध्यात्मिक विवाहों का चित्रण किया है। प्रायः इन्हें विवाहला, विवाह, विवाहलउ और विवाहुला आदि नामों से जाना जा सकता है। विवाह भी दो प्रकार के मिलते हैं। रहस्यसाधको की रहस्यभावना से जिन विवाहों का सम्बन्ध है उनमें जिन प्रभसूरि का 'अंतरंग विवाह' अतिमनोरम है। सुमति और चेतन प्रिय-प्रेमी रूप हैं। अजयराज पाटणी ने शिवरमणी विवाह रचा जिसमें आत्मा वर (शिव) और मुक्ति वधू (रमणी) हैं। आत्मा मुक्ति वधू के साथ विवाह करता है।

बनारसीदास ने भगवान शान्तिनाथ का शिवरमणी से परिणय रचाया। परिणय होने के पूर्व ही शिवरमणी की उत्सुकता का चित्रण देखिये—कितना अनूठा

---

1. कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ. 372.

है— री सखि, आज मेरे सौभाग्य का दिन है कि जब मेरा प्रिय से विवाह होने वाला है पर दु:ख यह है कि वह अभी तक नहीं आया। मेरे प्रिय सुख-कन्द हैं, उनका शरीर चन्द्र के समान है इसलिए मेरा आनंद मन सागर में लहरें ले रहा है। मेरे नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं जग में उनकी सुहावनी ज्योति फैली है, कीर्ति भी छायी है, वह ज्योति दु:ख रूप अन्धकार दूर करने वाली है, वाणी से अमृत झरता है। मुझे सौभाग्य से ऐसा पति मिल गया।[1]

एक अन्य कृति अध्यात्मगीत में बनारसीदास को मन का प्यारा परमात्मा रूप प्रिय मिल जाता है। अत: उनकी आत्मा अपने प्रिय (परमात्मा) से मिलने के लिए उत्सुक है। वह अपने प्रिय के वियोग में ऐसी तड़प रही है जैसे जल के बिना मछली तड़पती है। मन मे पति से मिलने की तीव्र उत्कंठा बढ़ती ही जाती है तब वह अपनी समता नाम की सखी से अपने मन में उठे भावों को व्यक्त करती है यदि मुझे प्रिय के दर्शन हो गये तो मे उसी तरह मग्न हो जाऊंगी जिस तरह दरिया में बूंद समा जाती है। मै अहंभाव को तजकर प्रिय से मिल जाऊंगी। जैसे ओला गलकर पानी में मिल जाता है वैसे ही मैं अपने को प्रिय में लीन कर दूंगी।[2] आखिरकार उसका प्रिय उसके अन्तर्मन मे ही मिल गया और वह उससे मिलकर एकाकार हो गई। पहले उसके मन में जो दुविधाभाव था वह भी दूर हो गया।

दुविधाभाव का नाश होने पर उसे ज्ञान होता है कि वह और उसका प्रियतम एक ही है। कवि ने अनेक सुन्दर दृष्टान्तों से इस एकत्व भावको और अभिव्यक्त किया है। वह और उसके प्रिय, दोनों की एक ही जाति है। प्रिय उसके

---

1. सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नही घरे।
   सहि एरी ! मन उदधि अनंदा सुख-कन्दा चन्दा धरे।
   चन्द जिवां मेरा बल्लभ सोहे, नैन चकोरहिं सुक्ख करे।
   जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, बहुदुख तिमिर वितान हरे।
   सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग का लांछन कहिये।
   श्री शांति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज आज मिला मेरी सहिये।
   बनारसीविलास, श्री शांतिजिन स्तुति, पद्य 1, पृ. 189.
2. मेरा मन का प्यारा जो मिलै। मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥1॥
   उपज्यो कंत मिलन को चाव। समता सखी सों कहै इस भाव ॥3॥
   मैं विरहिन पिय के आधीन। यों तलफों ज्यों जलबिन मीन ॥3॥
   बाहिर देखूं तो पिय दूर। घट देखे घट में भरपूर ॥4॥
   होहुं मगन मैं दरशन पाय। ज्यों दरिया में बूंद समाय ॥9॥
   पिय को मिलों अपनपो खोय। ओला गलपाणी ज्यों होय ॥10॥
   बनारसीविलास, अध्यातम गीत, 1–10, पृ. 159–160.

घट में विराजमान है और वह प्रिय में। दोनों का जल और लहरों के समान अभिन्न सम्बन्ध है। प्रिय कर्ता है और वह करतूति, प्रिय सुख का सागर है और वह सुख सींव है। यदि प्रिय शिव मंदिर है तो वह शिवनींव, प्रिय ब्रह्मा है तो वह सरस्वती, प्रिय माधव है तो वह कमला, प्रिय शंकर है तो वह भवानी, प्रिय जिनेन्द्र हैं तो वह उनकी वाणी है। इस प्रकार जहां प्रिय हैं—वहां वह भी प्रिय के साथ में है। दोनों उसी प्रकार से हैं—'ज्यौं शशि हरि में ज्योति अभंग।'

जो प्रिय जाति सम सोइ। जातहिं जात मिलै सब कोइ ॥18॥
प्रिय मोरे घट, मैं पियमहिं। जलतरंग ज्यौं द्विविधा नाहिं ॥19॥
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञानविभूति ॥20॥
पिय सुखसागर मैं सुखसींव। पिय शिवमन्दिर मैं शिवनींव ॥21॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ॥22॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवलबानि ॥23॥
जहं पिय तहं मैं पिय के संग। ज्यौं शशि हरि में जोति अभंग ॥29॥[1]

कविवर बनारसीदास ने सुमति और चेतन के बीच अद्वैत भाव की स्थापना करते हुए रहस्यभावना की साधना की है। चेतन को देखते ही सुमति कह उठती है, चेतन, तुमको निहारते ही मेरे मन से परायेपन की गागर फूट गयी। दुविधा का अंचल फट गया और शर्म का भाव दूर हो गया। हे प्रिय, तुम्हारा स्मरण आते ही मैं राजपथ को छोड़कर भयावह जंगल में तुम्हें खोजने निकल पड़ी। वहां हमने तुम्हें देखा कि तुम शरीर की नगरी के अंतः भाग में अनन्त शक्ति सम्पन्न होते हुए भी कर्मों के लेप में लिपटे हुये हो। अब तुम्हें मोह निद्रा को भंग कर और राग-द्वेष को दूर कर परमार्थ प्राप्त करना चाहिए।

बालम तहुं तन चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गो फहराय सम गै छूटि, बालम ॥1॥
हूं तिक रहूं जे सजनी रजनी घोर।
घर करकेउ न जानै चहुदिसि चोर, बालम ॥2॥
पिउ सुधि पावत वन मैं पैसिउ पेलि।
छाडउ राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ॥3॥
काय नगरिया भीतर चैतन भूप।
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप, बालम ॥5॥
चेतन बूझि विचार धरहु सन्तोष।
राग द्वेष दुइ बंधन छूटत मोष, बालम ॥13॥[2]

1. वही, अध्यातम गीत, 18-29, पृ. 161-162.
2. बनारसीविलास, अध्यातम पद पंक्ति, 10, पृ. 228-29.

पत्नी सुमति पति चेतन के वियोग में जल बिन मीन के समान तड़पती है (वही, अध्यात्म गीत पृ. 159–60) और ऐसे मग्न होना चाहती है जैसे दरिया में बूंद समा जाती है। अपने ही अथक प्रयत्नों से वह अन्ततः प्रिय चेतन को पाने में सफल हो जाती है–पिय मेरे घट में पिय मांहि जलतरंग ज्यों दुविधा नाहीं (वही पृ. 161)। इसलिए वह कह उठती है—देखो मेरी सखिन ये आज चेतन घर आवे। (ब्रह्मविलास पद 14)। सतगुरु ने कृपा कर इस बिछुरे कंत को सुमति से मिला दिया (हिन्दी पद संग्रह, पद 379)।

साधक की आत्मा रूप सुमति के पास परमात्मा स्वयं ही पहुंच जाते हैं क्योंकि वह प्रिय के विरह में बहुत क्षीण काय हो गई थी। विरह के कारण उसकी बेचैनी तथा मिलने के लिए आतुरता बढ़ती ही गई। उसका प्रेम सच्चा था इसलिए भटका हुआ पति स्वयं वापिस आ गया। उसके आते ही सुमति के खंजन जैसे नेत्रों में खुशी छा गया। और वह अपने चपल नयनों को स्थिर करके प्रियतम के सौन्दर्य को निरखती रह गयी। मधुर गीतों की ध्वनि से प्रकृति भर गयी। अन्तः का भय और पाप रूपी मल न जाने कहाँ विलीन हो गये क्योंकि उसका परमात्मा जैसा साजन साधारण नहीं। वह तो कामदेव जैसा सुन्दर और अमृत रस जैसा मधुर है। वह अन्य बाह्य क्रियायें करने से प्राप्त नहीं होता। बनारसीदास कहते हैं वह तो समस्त कर्मों का क्षय करने से मिलता है।

> म्हारे प्रगटे देव निरंजन।
> अटको कहां-कहां सिर भटकत कहा कहूं जन-रंजन ।।म्हारे. ।।1।।
> खंजन दृग, दृग नयनन गाऊं चाऊं चितवत रंजन।
> सजन घर अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय रंजन ।। म्हारे. ।।
> वो ही कामदेव होय, कामघट वो ही मंजन।
> और उपाय न मिले बनारसो सकल करम षय खंजन ।। म्हारे. ।।[1]

भूधरदास की सुमति अपनी विरह-व्यथा का कारण कुमति को मानती है और इसलिए उसे "जाओ नाश कुमति कुलटा को, बिरमायो पति प्यारो" (भूधरविलास, पद 29) जैसे दुर्वचन कहकर अपना दुःख व्यक्त करती है तथा आशा करती है कि एक न एक दिन काल लब्धि आयेगी जब उसका चेतनराव पति दुरमति का साथ छोड़कर घर वापिस आयेगी (वही, पद 69)।

जैन साधकों एवं कवियों ने रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने के लिए राजुल और तीर्थंकर नेमिनाथ के परिणय कथानक को विशेष रूप से चुना

---

1. बनारसीविलास, पृ. 241.

है। राजुल आत्मा का प्रतीक है और नेमिनाथ परमात्मा का। राजुल रूप आत्मा नेमिनाथ रूप परमात्मा से मिलने के लिए कितनी आतुर है यह देखते ही बनता है। यहाँ कवियों में कबीर और जायसी एवं मीरा से कहीं अधिक भावोद्वेग दिखाई देता है। संयोग और वियोग दोनों के चित्रण भी बड़े मनोहर और सरस हैं।

भट्टारक रत्नकीर्ति की राजुल से नेमिनाथ विरक्त होकर किस प्रकार गिरि-नार चले जाते हैं, यह आश्चर्य का विषय है उन्हें तो नेमिनाथ पर तन्त्र-मन्त्र मोहन का प्रभाव लगता है—"उन पे तंत मंत मोहन है, वैसो नेम हमारो।" सच तो यह है कि "कारण कोउ पिया को न जाने।" पिया के विरह से राजुल का संताप बढ़ता चला जाता है और एक समय आता है जब वह अपनी सखी से कहने लगती है— "सखी री नेम न जानी पीर" 'सखी को मिलावो नेम नरिन्दा', 'सखी री सावनि घटाई सतावे।'[1]

भट्टारक कुमुदचन्द्र और अधिक भावुक दिखाई देते हैं। असह्य विरह-वेदना से सन्तप्त होकर वे कह उठते है–सखी री अब तो रह्यो नही जात।[2] हेमविजय की राजुल भी प्रिय के वियोग में अकेली चल पड़ती है उसे लोक मर्यादा का बंधन तोड़ना पड़ता है। घनघोर घटायें छायी हुई हैं, चारों तरफ बिजली चमक रही है, पिउरे पिउ रे की आवाज पपीहा कर रहा है, मोरें कंगारों पर बैठकर अवाजें कर रही हैं। आकाश से बूंदें टपक रही हैं, राजुल के नेत्रों से आंसुओं की झड़ी लग जाती है।[3] भूधरदास की राजुल को तो चारों ओर अपने प्रिय के बिना अंधेरा दिखाई देता है। उनके बिना उसका हृदय रूपी अरविन्द मुरझाया पड़ा है। इस वेदना को वह अपनी मां से भी व्यक्त कर देती है, सखी तो ठीक ही है—"बिन पिय देखें मुरझाय रह्यो है, उर अरविन्द हमारो री।।[4] राजुल के विरह की स्वाभाविकता वहां और अधिक दिखाई देती है जहां वह अपनी सखी से कह उठती है—"तहाँ ले चल री जहाँ

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. ?–5.
2. हिन्दी पद संग्रह,पृ. 16, जिनहर्ष का नेमि-राजीमती बार समास सवैया 1. जैन गुर्जर कवियों, खंड 2, भाग, पृ. 1180; विनोदीलाल का नेमि राजुल बारहमासा, बारहमासा संग्रह, जैन पुस्तक भवन कलकत्ता, तुलनार्थ देखिये।
3. नेमिनाथ के पद, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 157; लक्ष्मी बालम का भी वियोग वर्णन देखिये जहाँ साधक की परमात्मा के प्रति दाम्पत्य-मूलक रति दिखाई देती है, वही, नेमिराजुल बारहमासा, 14, पृ. 309.
4. भूधर विलास, 13, पृ. 8.

जादौपति प्यारो। "नमि बिना न रहै मेरौ जियरा," मां बिलंवन लाव पठाव तहां दी जहाँ जगपति पिय प्यारो' ?[1]

जगतराम ने "सखी री विन देखे रह्यो न जाय" और द्यानतराय ने 'तैं देखे नेमिकुमार" कहकर राजुल की आंतरिक वेदना मे समरसता का सिंचन कर दिया। उनकी राजुल अपनी सखि से नेमिनाथ के साथ मिलाने का आग्रह करती है–एरी सखि नेमिजी को मोहि मिलावो "और कहती है—"सुनरी सखि, जहाँ नेमि गये तहां मो कहूँ ले पहुंचावो री हां" (द्यानत पद संग्रह, 208)। पर उसे जब यह समझ में आ जाता है कि नेमिनाथ तो वैरागी हैं मुक्ति गामी हैं, तो वह कहने लगती है कि उनसे मिलना तभी सम्भव है जब वह भी वैरागिन हो जाय—

पिय वैराग्य लियो है किस मिस देखन जाऊँ।
ब्याहन आये पशु छुटकाये तजि रथ जनपुर गाऊँ॥
मैं सिंगारी वे अविकारी ज्यौ नभ मुठिय समाऊँ।
द्यानत जो गिनि ह्वै विरमाऊँ कृपा करै निज ठाऊँ॥ (वही, पद 191)

इस सन्दर्भ में पंच सहेली गीत का उल्लेख करना आवश्यक है जिसमें छीहल ने मालिन, तम्बोलनी, छीपनी, कलालनी और सुनारिन नामक पांच सहेलियों को पांच जीवों के रूप में व्यजित किया है। पाचों जीव रूप सहेलियों ने अपने-अपने प्रिय (परमात्मा) का विरह वर्णन किया है। जब उन्हें ब्रह्मरूप पति की प्राप्ति नहीं हो पाती है तो वे उसके विरह से पीड़ित हो जाती हैं। कुछ दिनों के बाद प्रिय (ब्रह्म) मिल जाता है। उससे उन्हे परम आनन्द की प्राप्ति होती है। उनका प्रिय मिलन ब्रह्म मिलन ही है। पति के मिलन होने पर उनकी सभी आशाएँ पूर्ण हो गयीं। पति के साथ समत्व आलिंगन साधक जीव जब ब्रह्म से मिलता है तो एकाकार हुए बिना नहीं रहता। इसी को परमसुख की प्राप्ति कहते है। ब्रह्म मिलन का चित्रण दृष्टव्य है :—

चोली खोल तम्बोलनी काढया गात्र अपार।
रंग कीया बहु प्रीयसु नयन मिलाई तार॥[2]

भैया भगवतीदास का 'लाल' उनसे कहीं दूर चला गया इसलिए उसको पुकारते हुए वे कहते हैं–हे लाल, तुम किसके साथ घूम रहे हो ? तुम अपने ज्ञान के महल में क्यों नहीं आते ? तुमने अपने अन्तर में झांक कर कभी नहीं देखा कि वहाँ दया, क्षमा, समता और शांति जैसी सुन्दर नारियाँ तुम्हारे लिए खड़ी हुई हैं। वे अनुपम रूप सम्पन्न हैं।

---

1. वही, 45, पृ. 25; पद 13.
2. पंचसहेली गीत, लुणकरजी पाण्डया मन्दिर, जयपुर के गुटका नं. 144 में अंकित है; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 101–103.

कहां-कहां कौन संग लागे ही फिरत लाल,
आवो क्यो न आज तुम ज्ञान के महल में।
नेकहु बिलोकि देखो अन्तर सुदृष्टि सेती,
कैसी-कैसी नीकि नारी ठाड़ी है टहल में।
एक ते एक बनी, सुन्दर स्वरूप घनी,
उपमा ने जाय बाम की चहल में।[1]

महात्मा आनन्दघन की आत्मा भी अपने प्रियतम के वियोग में तड़पती दिखाई देती है। इसी स्थिति मे कभी वह मान करती है तो कभी प्रतीक्षा, कभी उपालम्भ देती है तो कभी भक्ति के प्रवाह मे बहती है, कभी प्रिय के वियोग में सुध-बुध खो देती है–'पिया बिन सुधि-बुधि भूली हो।'[2] विरह-भुजंग उसकी शैय्या को रात भर खूंदता रहता है, भोजन-पान करने की तो बात की क्या ? अपनी इस दशा का वर्णन किससे कहा जाय ?[3] उसका प्रिय इतना अधिक निष्ठुर हो जाता है कि वह उपालम्भ दिये बिना नही रहती। वह कहती है कि मैं मन, वचन और कर्म से तुम्हारी हो चुकी, पर तुम्हारी यह निष्ठुरता और उपेक्षा क्यों ? तुम्हारी प्रवृत्ति फूल-फूल पर मडराने वाले भ्रमर जैसी है तो फिर हमारी प्रीति का निर्वाह कैसे हो सकता है ? जो भी हो, मै तो प्रिय से उसी प्रकार एकाकार हो चुकी हूँ जिस प्रकार पुष्प में उसकी सुगन्ध मिल जाती है। मेरी जाति भले ही निम्न कोटि की हो पर अब तुम्हें किसी भी प्रकार के गुण-अवगुण का विचार नहीं करना चाहिए।

पिया तुम निठुर भए क्यूं ऐसे।
मै मन वच क्रम करी राउरी, राउरी रीति अनैसें॥
फूल-फूल भंवर कैसी भाउंरी भरत हो निबहै प्रीति क्यूं ऐसें।
मैं तो पियते ऐसि मिली आली कुसुम वास संग जैसें॥
ओछी जात कहा पर ऐती, नीर न हैयं भैसें।
गुन अवगुन न विचारो आनन्दघन, कीजियै तुम हो तैसे॥[4]

"सुहागण जागी अनुभव प्रीति" में पगी और अन्तः करण में अध्यात्म दीपक से जगी आनन्दघन की आत्मा एक दिन सौभाग्यवती हो जाती है। उसे उसका प्रिय

---

1. ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, 27 वां पद्य, पृ. 14.
2. आनन्दघन बहोत्तरी, 32–41.
3. पिया बिन सुधि-बुधि मूंदी हो।
   विरह भुजंग निसा समै. मेरी सेजड़ी खूंदी हो।
   भोयणपान कथा मिटी. किसकूं कहुं सुधी हो॥ वही, 62
4. आनन्दघन बहोत्तरी, 32.

(परमात्मा) मिल जाता है। अतएव वह सौलहों श्रृंगार करती है। पहनी हुई झीनी साड़ी में प्रतीति का राग झलक रहा है। भक्ति की मेंहदी लगी हुई है, शुभ भावों का सुखकारी अंजन लगा हुआ है। सहजस्वभाव की चूड़ियाँ और स्थिरता का कंकन पहन लिया है। ध्यान की उर्वशी को हृदय में रखा और प्रिय की गुणमाला को धारण किया। सुरति के सिन्दूर से मांग संवारी, निरति की वेणी सजाई। फलतः उसके हृदय में प्रकाश की ज्योति उदित हुई। अन्तःकरण में अजपा की अनहद ध्वनि गुंजित होती है और अविरल आनन्द की सुखद वर्षा होने लग लग जाती है।

आज सुहागन नारी, अवधू आज।
मेरे नाथ आप सुध, कीनी निज अंगचारी।
प्रेम प्रतीति राग रुचि रंगत, पहिरे झीरी सारी।
मंहिदी भक्ति रंग की राची, भाव अंजन सुखकारी।
सहज सुभाव चुरी मैं पैन्ही, थिरता कंकन भारी।
ध्यान उरबसी उर में राखी, पिय गुनमाल अधारी।
सुरत सिन्दूर मांग रंगराती, निरतै बैनि समारी।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन आरसी केवलकारी।
उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारेवारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरसत, बन मोर एकनतारी॥

जैन साधकों ने एक और प्रकार के आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन किया है। साधक जब अनगार दीक्षा लेता है तब उसका दीक्षा कुमारी अथवा संयमश्री के साथ विवाह सम्पन्न होता है। आत्मा रूप पति का मन शिवरमणी रूप पत्नी ने आकर्षित कर लिया 'शिवरमणी मन मोहियो जी जेठें रहे जी लुभाय।'[2]

कवि भगवतीदास अपनी चूनरी को अपने इष्ट देव के रंग में रंगने के लिए आतुर दिखाई देते हैं। उसमें आत्मा रूपी सुन्दरी शिव रूप प्रीतम को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। वह सम्यक्त्व रूपी वस्त्र को धारण कर ज्ञान रूपी जल के द्वारा सभी प्रकार का मल धोकर सुन्दरी शिव से विवाह करती है। इस उपलक्ष्य में एक सरस ज्योंनार होती है जिसमें गणधर परोसने वाले होते हैं जिसके खाने से अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है।

---

1. वही. पृ. 20.
2. शिव-रमणी विवाह, 16 अजयराज पाटणी, बधीचन्द मन्दिर, जयपुर गुटका नं. 158 वेष्टन नं 1275.

तुम्ह जिनवर देहि रंगाई हो, विनवइ सषी पिया शिव सुन्दरी ।
अरुण अनुपम माल हो मेरो भव जलतारण चूंनड़ी ॥2॥
समकित वस्त्र बिसाहिले ज्ञान सलिल सग सेइ हो ।
मल पचीस उतारि के, दिढिपन साजी देइ जी ॥मेरी.॥3॥
बड़ जानी गणधर तंहा भले, परोसंण हार हो ।
शिव सुन्दरी के बयाह् को, सरस भई ज्योंणार हो ॥30॥
मुक्ति रमणि रंग स्यो रमैं, वसु गुणमंडित सेइ हो ।
अनन्त चतुष्टय सुष घणां जन्म मरण नहि होइ हो ॥32॥[1]

6. आध्यात्मिक होली

जैन साधकों और कवियों ने आध्यात्मिक विवाह की तरह आध्यात्मिक होलियों की भी सर्जना की है । इसको फागु भी कहा गया है । यहां होलियों और फागों में उपयोगी पदार्थों (रंग,पिचकारी, केशर, गुलाल, विवध वाद्य आदि) को प्रतीकात्मक ढग से अभिव्यंजित किया गया है । इसके पीछे आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार से सम्बद्ध आनन्दोपलिब्धि करने का उद्देश्य रहा है । यह होली अथवा फाग आत्मा रूपी नायक शिवसुन्दरी रूपी नायिका के साथ खेलता है । कविवर बनारसीदास ने 'अध्यातम फाग' में अध्यातम बिन क्यों पाइये हो, परम पुरुष को रूप । अघट अंग घट मिल रह्यो हो महिमा अगम अनूप की भावना से वसन्त को बुलाकर विविध अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से फाग खेली और होलिका का दहन किया 'विषम विरस' दूर होते ही 'सहज वसन्त' का आगमन हुआ । 'सुरुचि-सुगंधिता' प्रकट हुई । 'मन-मधुकर' प्रसन्न हुआ । 'सुमति-कोकिला' का गान प्रारम्भ हुआ । अपूर्व वायु बहने लगी । 'भरम-कुहर' दूर होने लगा । 'जड़-जाड़ा' घटने लगा । माया-रजनी छोटी हो गई । समरस--शशि का उदय हो गया । 'मोह-पंक की स्थिति कम हो गई । संशय-शिशिर समाप्त हो गया । ' शुभ-पल्लवदल' लहलहा उठे । 'अशुभ पतझर' होने लगी । 'मलिन-विषयरति दूर हो गई, 'विरति-बेलि' फैलने लगी, 'शशि-विवेक निर्मल हो गया, थिरता-अमृत हिलोरे लेने लगा शक्ति सुचन्द्रिका फैल गई, 'नयन-चकोर' प्रमुदित हो उठे, सुरति-अग्निज्वाला' भभक उठी समकित सूर्य, उदित हो गया, 'हृदय-कमल' विकसित हुआ, 'सुयश-मकरन्द' प्रगट हो गया, दृढ़ कषाय हिमगिरी जल गया, 'निर्जरा-नदी' में धारणाधार 'शिव-सागर' की ओर बहने लगी

---

1. श्री चूनरी, इसकी हस्तलिखित प्रति मंगोरा (मथुरा) निवासी प. वल्लभ राम जी के पास सुरक्षित है, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. 90

वितथ वात-प्रभुता मिट गई, यथार्थ कार्य जाग्रत हो गया, वसन्तकाल में जंगल भूमि सुहावनी लगने लगी ।[1]

वसन्त ऋतु के आने के बाद अलख अमूर्त आत्मा अध्यात्म की ओर पूरी तरह से झुक गयी । कवि ने फिर यहां फाग और होलिका का रूपक खड़ा किया और उसके अंग-प्रत्यंगों का सामंजस्य अध्यात्म क्षेत्र से किया । 'नय चाचरि पंक्ति' मिल गई, 'ज्ञान ध्यान' उफताल बन गया, 'पिचकारी पद की साधना हुई, 'संवरभाव गुलाल' बन गया, 'शुभ-भाव भक्ति तान' मे 'राग विराम' अलापने लगा, परम रस में लीन होकर दस प्रकार के दान देने लगा ।[2] दया की रस भरी मिठाई, तप का मेवा, शील का शीतल जल, संयम का नागर पान खाकर निर्लज्ज होकर गुप्ति-अंग प्रकट होने लगा, अकथ-कथा प्रारम्भ हो गई, उद्धत गुण रसिया मिलकर अमल विमल रसप्रेम में सुरति की तरंगे हिलोरने लगी । रहस्यभावना की पराकाष्ठा हो जाने पर परम ज्योति प्रगट हुई । अष्ट कर्म रूप काष्ठ जलकर होलिका की आग

---

1. विशम विरण पूरो भयो हो, आयो सहज वसंत ।
   प्रगटी सुरूचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमंत ।।
   अध्यातम विन क्यो पाइये हो ।।2।।
   सुमति कोकिला गह गही हो बही अपूरब वाउ ।
   भरम कुहर बादर फटे हो' घट जाडो जड़ ताउ ।।अध्यातम।।3।।
   मायारजनी लघु भई हो' समरस दिवशशि जीत ।
   मोह पंक की थिति घटी हो' संशय शिशिर व्यतीत ।।अध्यातम।।4।।
   शुभ दल पल्लव लहलहे हो' होहि अशुभ पतझार ।
   मलिन विषय रति मालती हो' विरति वेलि विस्तार ।।अध्यातम।।5।।
   शशिविवेक निर्मल भयो हो, थिरता अभिय झकोर ।
   फैली शक्ति सुचन्द्रिका हो'प्रमुदित नंस-चकोर ।।अध्यातम।।6।।
   सुरति अग्नि ज्वालागी हो' समकित भानु अमन्द ।
   हृदय कमल विकसित भयो हो' प्रगट सुजश मकरन्द।।अध्यातम।।7।।
   दिढ कषाय हिमगिर गले हो नदी निर्जरा जोर ।
   धार धारणा बह चली हो शिवसागर मुख ओर ।।अध्यातम0।।8।।
   वितथ वात प्रभूता मिटी हो जग्यो जथारथ काज ।
   जंगलभूमि सुहावनी हो नृप वसन्त के राज ।।अध्यातम0।।9।।
   बनारसीविलास, अध्यातम फाग 2-6 पं. 154

2. गौ सुवर्ण दासी भवन गज तुरंग परधान ।
   कुलकलत्र तिल भूमि रथ ये पुनीत दशदान ।। वही, दसदान 1 पं. 177.

बुझ गई, पचासी प्रकृतियों की भस्म को भी स्नानादि करके धो दिया और स्वयं उज्जवल हो गया। इसके उपरान्त फाग का खेल बन्द हो जाता है, फिर तो मोह-पाश के नष्ट होने पर सहज आत्मशक्ति के साथ खेलना प्रारम्भ हो जाता है—

'नय पंकति चाचरि मिलि हो ज्ञान ध्यान डफताल।
पिचकारीपद साधना हो संवर भाव गुलाल।। अध्यातम0।।11।।

राग विराग अलापिये हो भावभगति शुभतान।
रीझ परम रसलीनता दीजे दश विधिदान ।।अध्यातम0।।12।।

दया मिठाई रसभरी हो तप मेवा परधान।
शील सलिल अति सीयलो हो संजम नागर पान ।।अध्यातम0।।13।।

गुपति अंग परगासिये हो यह निलज्जता रीति।
अकथ कथा मुखम खिये हो यह गारी निरनीति ।।अध्यातम0।।14।।

उद्धत गुण रसिया मिले हो अमल विमल रस प्रेम।
सुरत तरंगमह छकि रहे हो,मनसा वाचा नेन ।।अध्यातम0।।15।।

परम ज्योति परगट भई हो, लगी होलिका आग।
आठ काठ सब जरि बुझ हो, गई तताई भाग ।।अध्यातम0।।16।।

प्रकृति पचासी लगि रही हो, भस्म लेख है सोय।
न्हाय धोय उज्जवल भये हो, फिर तहं खेल न कोय ।।अध्यातम0।।17।।

सहज शक्ति गुण खेलिये हो चेत बनारसीदास।
सगे सखा ऐसे कहे हो, मिटे मोह दधि फास ।।अध्यातम0।।18।।[1]

जगतराम ने जिन-राजा और शुद्ध परिणति-रानी के बीच खेली जाने वाली होली का मनोरम दृश्य उपस्थित किया है। वे स्वयं उस रंग में रंग गये हैं और होली खेलना चाहते है पर उन्हे खेलना नही आ रहा है— कैसे होरी खेलौ खेलि न आवै। क्योंकि हिंसा झूठ चोरी कुशील, तृष्णा आदि पापों के कारण चित्त चपल हो गया। ब्रह्म ही एक ऐसा अक्षर है जिसके साथ खेलते ही मन प्रसन्न हो जाता है।[2] उन्होंने एक अन्यत्र स्थान पर 'सुध बुध गोरी' के साथ 'सुरुचि गुलाल' लगाकर फाग भी खेली है। उनके पास 'समता जल' की पिचकारी है जिससे 'करुणा-केसर' का गुण छिटकाया है। इसके बाद अनुभव की पान-सुपारी और सरस रंग लगाया।

सुध बुध गोरी संग लेय कर, सुरुचि गलाल लगा रे तेरे।
समता जल पिचकारी, करुणा केसर गुण छिरकाय रे तेरे ।।

---

1. बनारसीविलास, अध्यातम फाग, 18,पं.155-156.
2. अक्षर ब्रह्म खेल अति नीको खेलत ही हुलसावै-हिन्दी पद संग्रह, पृ. 92.

अनुभव पानि सुपारी चरचानि, सरस रंग लगाय रे तेरे।
राम कहै जे इह विधि खेले, मोक्ष महल में जाय रे ॥[1]

द्यानतराय ने होली का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज वसन्तकाल में होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक दूसरे के सामने खड़े हैं। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमा रूप नारी वर्ग खड़ा हुआ है और दूसरे दल में रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मा रूप पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान, रूप, डफ, ताल आदि वाद्य बजते हैं, घनघोर अनहद नाद होता है, धर्म रूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोर लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह पिचकारियाँ चलती हैं। एक ओर से प्रश्न होता है-तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रश्न होताहै, तुम किसके लड़के हो? बाद में होली के रूप में अष्ट कर्म रूप ईंधन को अनुभव रूप अग्नि में जला देते है और फलतः चारों ओर शान्ति हो जाती है इसी शिवानन्द को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है।[2]

जिस समय सारा नगर होली के खेल में मस्त है, सुमति अपने पति चेतन के अभाव में खेद खिन्न है। उसे इस बात का अत्यन्त दुःख है कि उसका पति अपनी सौत कुमति के साथ होली खेल रहा है। इसलिए सोचती है 'पिया बिन कासों खेलों होरी' (द्यानत पद संग्रह, पद 193)। संयोग वश चेतनराय घर वापिस आते हैं और सुमति तल्लीन होकर उनके साथ होली खेलती है--भली भई यह होरी आई आये चेतनराय (वही,पद 193)।

इसी प्रकार वे चेतन से समता रूप प्राणप्रिया के साथ 'छिमा बसन्त' में होली खेलने का आग्रह करते है। प्रेम के पानी में करुणा की केसर घोलकर ज्ञान-

---

1. महावीरजी अतिशय क्षेत्र का एक प्राचीन गुटका, साइज 8-6, पृ. 160; हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 256.
2. आयो सहज बसन्त खेलैं, सब होरी होरा ॥

   उत बुधि दया छिमा बहुठाढ़ी, इत जियं रतन सजे गुन जोरा ॥
   ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं, अनहद शब्द होत घनघोरा ॥
   धरम सुराग गुलाल उड़त हैं, समता रंग दुहुं ने घोरा ॥आयो0॥2॥
   परसन उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनों करि करि जोरा ॥
   इततैं कहैं नारि तुम काकी, उततैं कहैं कौन को छोरा ।3।
   आठ काठ अनुभव पावक में, जल बुझ शांत भई सब ओरा ॥
   द्यानत शिव आनन्द चन्द छबि, देखे सज्जन नैन चकोरा ॥4॥ हिन्दी पद संग्रह, पृ. 119.

ध्यान की पिचकारी से होली खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन ही मृदंग हैं, निश्चय व्यवहार नय ही ताल हैं, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चौला है, भाव ही गुलाल है जिसे अपनी झोरी में भर लेते हैं, धरम ही मिठाई है, तप ही मेवा है, समरस से आनन्दित होकर दोनों होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती है—

चेतन खेलौ हौरी ॥

समता भूमि छिमा बसन्त में, समता प्रान प्रिया संग गौरी ॥1॥
मन को माट प्रेम को पानी, तामें करुना केसरघोरी,
ज्ञान ध्यान पिचकारी भरि भरि, आप में छारें होरा होरी ॥2॥
गुरु के वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनो, डफ ताल टकोरी.
संजम अतर विमल व्रत चौवा, भाव गुलाल भरें भर झोरी ॥
धरम मिठाई तप बहुमेवा, समरस आनन्द अमल कटोरी,
द्यानत सुमनि कहें सखियन सो, चिरजीवो यह जुग जुग जोरी ॥[1]

इसी प्रकार कविवर भूधरदास का भी आध्यात्मिक होलो का वर्णन देखिये—

"अहो दोऊ रंग भरे खेलत होरी ॥1॥
अलख अमूरति की जोरी ॥

इनमे आतमराम रगीले, उतते सुबुद्धि किसोरी।
या के ज्ञान सखा संग सुन्दर, वाके संग समता गौरी ॥2॥
सुचि मन सलिल दया रस केसरि, उदै कलस में घोरी।
सुधि समझि सरल पिचकारी, सखिय प्यारी भरि भरि छोटी ॥3॥
सतगुरु सीख तान घर पद की, गावत होरा होरी।
पूरव बंध अबीर उड़ावत, दान गुलाल भर झोरी ॥4॥
भूधर आज बड़े भागिन, सुमति सुहागिन मोरी।
सौ ही नारि सुलछिनी जन मैं, जासौं पति ने रनि जोरी।5।[2]

एक अन्य कृति में भूधरदास अभिव्यक्त करते हैं, कि उसका चिदानन्द जो अभी तक संसार में भटक रहा था, घर वापिस आ गया है। यहां भूधर स्वयं को प्रिया मानकर और चिदानन्द को प्रीतम मानकर उसके साथ होली खेलने का निश्चय करते हैं— "होरी खेलूंगी घर आये चिदानन्द।" क्योंकि मिथ्यात्व की शिशिर समाप्त हो गई, काललब्धि का बसन्त आया, बहुत समय से जिस अवसर की

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 121.
2. वही, पृष्ठ 149.

प्रतीक्षा थी, सौभाग्य से वह समय आ गया, प्रिय के विरह का अन्त हो गया अब उसके साथ फाग खेलना है। कवि ने यहां श्रद्धा को गगरी बनाया उसमें रुचि का केशर घोला, आनन्द का जल डाला और फिर उमंग भर प्रिय पर पिचकारी छोड़ी कवि अत्यन्त प्रसन्न है कि उसकी कुमति रूप सौत का वियोग हो गया। वह चाहता है कि इसी प्रकार सुमति बनी रहे—

'होरी खेलूंगी घर आए चिदानन्द ।।
गिरा मिथ्यात गई अब, आई काल की लब्धि वसंत ।।होरी।।
पीय संग खेलनि कों, हम सइये तरसी काल अनन्त ।।
भाग जग्यो अब माग रचानौ, आयो विरह को अंत ।।
सरधा गागरि में रुचि रूपी केसर घोरी तुरन्त ।।
आनन्द नीर उमंग पिचकारी, छोडूंगी नीकी भंत ।।
आज वियोग कुमति सोननिकों, मेरे हरष अनन्त ।।
भूधर धनि एही दिन दुर्लभ सुमति राखी विहसंत ।।[1]

नवलराम ने भी एसी ही होली खेलने का आग्रह किया है। उन्होंने निज परणति रूप सुहागनि और सुमतिरूप किशोरी के साथ यह खेल खेलने के लिए कहा है। ज्ञान का जल भरकर पिचकारी छोडी, क्रोध मान का अबीर उड़ाया, राग गुलाल की झोरी ली, संतोष पूर्वक शुभ भावों का चन्दन लिया, समता की केसर घोरी आत्मा की चर्चा की, 'मगनता' का त्यागकर करुणा का पान खाया और पवित्र मन से निर्मल रंग बनाकर कर्म मल को नष्ट किया।[2] एक अन्यत्र होली में वे पुनः कहते हैं—"अैसे खेल होरी को खेलिरे' जिसमें कुमति ठगौरी को त्यागकर सुमति-गोरी के साथ होली खेल।" आगे नवलराम यह भाव दर्शाते हैं कि उन्होंने इसी प्रकार होली खेली जिससे उन्हें शिव पेढी का मार्ग मिल गया।

जैसे खेल होरी कौ खेलिरे ।।
कुमति ठगोरी कौं अब तजि करि, तु साथ सुमति गोरी को ।।
नवल हसी विधि खेलत हैं, ते पावत हैं मग शिव पौरी को ।।[3]

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 158.
2. इह विधि खेलिये होरी हो चतुर नर ।।
   निज परनति संगि लैहु सुहागिन, अरू फुनि सुमति किशोरी हो ।।1।।
   ग्यान मइ जल सौ भरि भरि के, सबद पिचरिका छोरी
   क्रोध मान अबीर उड़ावो राग गुलाल की झोरी हो ।।3।। हिन्द पद संग्रह, पृ. 177
3. वही, पृ. 176.

बुधजन भी चेतन को सुमति के साथ होली खेलने की सलाह देते हैं—'चेतन खेल सुमति रंग होरी।' कषायादि को त्यागकर, समकित की केशर घोलकर मिथ्या की शिल को चूर-चूरकर निज गुलाल की झौरी धारणकर शिव-गौरी को प्राप्त करने की बात कही है।[1] कवि को विशुद्धात्मा की अनुभूति होने पर यह भी कह देते हैं—

निजपुर में आज मची होरी।
उमगि चिदानन्द जी इत आये, इत आई सुमती गोरी।
लोक लाज कुलकानि गमाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी।
समकित केसर रंग बनायो, चारित की पिचुकी छोरी।
गावत अजपा गान मनोहर, अनहद झरसौं वरस्यो री।
देखन आये बुधजन भीगे, निरख्यौ ख्याल अनोखी री॥[2]

सर्वत्र होली देखकर सुमति परेशान हो कह उठती है–'और सबै मिलि होरि रचावें हुं, करके संग खेलूंगी होरी' (बुधजन विलास, पद 43)। इसलिए बुधजन 'चेतन खेल सुमति संग होरी कहकर सत्गुरु की सहायता से चेतन को सुमति के पास वापस आने की सलाह देते हैं—(बुधजन विलास, पद 43)। आध्यात्मिक रहस्य भावना से ओतप्रोत होने पर कवि का चेतनराय उसके घर वापस आ जाता है और फिर वह उसके साथ होली खेलने का निश्चय करता है—'अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलौंगी मैं होरी।' कुमति को दूरकर सुमति को प्राप्त करता है, निज स्वभाव के जल से हौज भरकर निजरंग की रोरी घोलता है, शुद्ध पिचकारी लेकर निज मति पर छिड़कता है और अपनी अपूर्व शक्ति को पहचान लेता है—

अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलौंगी मैं होरी॥
आरस सोच कानि कुल हरिकैं, धरि धीरज बरजोरी।
बुरी कुमति की बात न बूझै, चितवत है मोओरी,
वा गुरुजन की बलि-वलि जाऊं, दूरि करी मति भोरी॥
निज सुभाव जल हौज भराऊं, घोरू निजरंग रोरी।
निज त्यौं त्याय शुद्ध पिचकारी, छिरकन निज मति दोरी॥
गाय रिझाय आप वश करिकैं, जावन द्यौं नहि पौरी।
बुधजन रचि मति रहूं निरंतर, शक्ति अपूरब मोरी। सजनी॥[3]

---

1. छार कषाय त्यागी या गहि लै समकित केशर घोरी।
   मिथ्या पत्थर डारि धारि लै, निज गुलाल की झोरी॥ 'बुधजनविलास', 40
2. वही, पृ. 49.
3. छार कषाय त्यागी या गहि लै समकित केशर घोरी।
   मिथ्या पत्थर डारि धारि लै, निज गुलाल की झोरी॥ 'बुधजनविलास', 49.

दौलतरामजी का मन भी ऐसी ही होली खेलता है। उन्होंने मन के मृदंग सजाकर, तन को तंबूरा बनाकर, सुमति की सारंगी बजाकर, सम्यक्त्व का नीर भरकर करुणा की केशर घोलकर ज्ञान की पिचकारी से पंचेन्द्रिय-सखियों के साथ होली खेली। आहारादिक चतुर्दान की गुलाल लगाई, तप के मेवा को अपनी झोली में रखकर यश की अबीर उड़ाई और अंत में भव-भव के दुःखों को दूर करने के लिए 'फागुआ शिव होरी' के मिलन की कामना करते हैं।[1] कवि ने इसी प्रसंग में बड़े ही सुन्दर ढंग से यह बताने का प्रयत्न किया है कि सम्यग्ज्ञानी जीव कर्मों की होली किस प्रकार खेलता है—

ज्ञानी ऐसी होली मचाई ।।
राग कियो विपरीत विपन घर, कुमति कुसौति सुहाई ।
धार दिगम्बर कीन्ह सु संवर निज परभेद लखाई ।
घात विषदिनकी बचाई ।। ज्ञानी ऐसी. ।।1।।

कुमति सखा भजि ध्यानभेद सम, तन में तान उड़ाई ।
कुम्भक ताल मृदंगसौ पूरक रेचकबीन बजाई ।
लगन अनुभव सौं लगाई ।। ज्ञानी ऐसी. ।।2।।

कर्म बतीता रसानाम धरि वेद सुइन्द्रि गनाई ।
दे तप अग्नि भस्म करि तिनको, धूल अघाति उड़ाई ।
करी शिव तिय की तिताई ।। ज्ञानी. ।।3।।

---

1. मेरो मन ऐसी खेलत होरी ।।
मन मिरदंग साजकरि त्यागी, तन को तमूरा बनौरी ।
सुमति सुरंग सारंगी बजाई, ताल दोउ करजोरी ।
राग पांचौं पद कोरी, मेरो मन. ।।1।।
समकिति रूप नीर भर झारी, करुना केशर घोरी ।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ करमांहि सम्होरी ।
इन्द्र पांचों सखि बोरी, मेरे मन. ।।2।।
चतुरदान को है गुल्लाल सौ, भरि-भरि मूठि चलोरी ।
तप मेवाकी भरि निज झोरी, यश की अबीर उड़ोरी ।
रंग जिनधाम मचोरी, मेरे मन. ।।3।।
दौलत बाल खेलैं अस होरी, भवभव दुःख टलोरी ।
शरना ले इक श्रजन को री, जग में लाज हो तोरी ।
मिलै फगुआ शिव होरी । मेरे मन. ।।4।। दौलत जैन पद संग्रह, पृ. 26.

ज्ञान को फाग भाग वश आवै लाख करौ चतुराई ।
सो गुरु दीनदयाल कृपा करि दौलत तोहि बताई ।
नही चित्त से विसराई, ज्ञानी ।।4।।[1]

7. पंच-कल्याणक

विवाह, फागु और होलियो के साथ ही जैन साधकों ने अपने इष्टदेव के पंच-कल्याणकों का भी काव्यमय आध्यात्मिक वर्णन किया है। परम्पराओं को काव्यमाला मे गूंथ देना उनकी विशेषता है। देवी-देवताओं द्वारा भगवान के माता-पिता की सेवा-सुश्रुषा, अर्चा-पूजा, उनके गर्भ में आते ही प्रारम्भ कर दी जाती है। जन्म होने पर कुबेर द्वारा निर्मित मायामयी ऐरावत पर बैठकर इन्द्र-इन्द्राणी भगवान के माता-पिता के पास आते हैं और मायामयी बालकको मां के पास लिटाकर भगवान को पांडुक शिला पर ले जाकर एक हजार आठ कलशो से स्नान करते हैं। इसी तरह दीक्षा तप और निर्वाण का वर्णन भी जैन कवियों ने पारम्परिक मान्यताओं के साथ काव्यमयी वाणी में किया है। भूधरदास उसे वचनमगोचर मानते हैं—कहि थकै लोक लख जीभ न सकै बरन (भूधरविलास, पद 39) और दौलतराम तृप्त होकर मुक्ति राह की ओर बढते है—'दौलत नाहि लखे चख तृप्तहि सूझत शिवबटवा' (दौलत विलास, पद 39)। कविवर बनारसीदास ने शुद्धोपयोग को मूल नक्षत्र में उत्पन्न 'बेटा' का रूप देकर बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। उन्होने कहा है कि जिस प्रकार मूल नक्षत्र मे उत्पन्न बालक परिवार के विनाश का कारण होता है उसी प्रकार शुद्धोपयोग के उत्पन्न होने पर ममता, मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि सारे बिकार भाव ध्वस्त हो जाते है।

'मूलन बेटा जायो रे साधौ, जानै खोज कुटुम्ब सब खायो रे साधो ।
जन्मत माता ममता खाइ मोह लोक व दोई भाई ।।

काम, क्रोध दोई काका खाये, खाई तृषना दाई ।
पापी पाप परोसी खायो अशुभ करम दोई मामा ।
मान नगर कौ राजा खायो, फैल परौ सब गामा ।।

दुरमति दादी खाई दादौ, मुख देखत ही मूओ ।
मंगलाचार बाजाये बाजे. जब यों बालक हुओ ।
नाम धरयौ बालक कौ भौंदू, रूप वरन कुछ नाहीं ।
नाम धरतैं पांडे खाये, कहत बनारसी भाई ।

(बनारसीविलास, पृ 238)

---

1. वही, पृ. 26.

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी के जैन साधकों द्वारा लिखित विवाह, फागु और होलियां आदि आध्यात्मरस से सिक्त ऐसी दार्शनिक कृतियाँ हैं जिनमें एक ओर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीक आदि के माध्यम से जैन दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है वहीं दूसरी ओर तात्कालीन परम्पराओं का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। दोनों के समन्वित रूप से साहित्य की छटा कुछ अनुपम-सी प्रतीत होती है। साधक की रहस्यभावना की अभिव्यक्ति का इसे एक सुन्दर माध्यम कहा जा सकता है। विशुद्धावस्था की प्राप्ति, चिदानन्द चैतन्यरस का पान, परम सुख का अनुभव तथा रहस्य की उपलब्धि का भी परिपूर्ण ज्ञान इन विधाओं से झलकता है।

जैन साधकों की रहस्य-साधना में भक्ति, योग, सहज भावना और प्रेमभावना का समन्वय हुआ है। इन सभी मार्गों का अवलम्बन लेकर साधक अपने परम लक्ष्य पर पहुंचा है और उसने परम सत्य के दर्शन किये हैं। उसके और परमात्मा के बीच बनी खाई पट गई है। दोनों मिलकर वैसे ही एकाकार और समरस हो गये जैसे जल और तरंग। यह एकाकारता भक्त साधक के सहज स्वरूप का परिणाम है जिससे उसका भावभीना हृदय सुख-सागर में लहराता रहता है और अनिर्वचनीय आनंद का उपभोग करता रहता है।

अष्टम परिवर्त

रहस्य भावनात्मक प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन

जैसा हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं, रहस्यभावना आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में एक ऐसा असीमित तत्त्व है जिसमें संसार से लेकर संसार से विनिर्मुक्त होने की स्थिति तक साधक अनुचिन्तन और अनुप्रेक्षण करता रहता है। प्रस्तुत अध्याय में हम रहस्यभावना के प्रमुख बाधक तत्वों से लेकर साधक तत्त्वों और रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सन्दर्भ में हमने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के जायसी कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि जैसे रहस्यवादी जैनेतर कवियों के विचार देखे हैं और उनके तथा जैन कवियों के विचारों में साम्य-वैषम्य खोजने का भी प्रयत्न किया है।

1. बाधक तत्त्व

1. संसार-चिन्तन :

संसार की क्षणभंगुरता और अनित्यशीलता पर सभी आध्यात्मिक सन्तो ने चिन्तन किया है। संसार का अर्थ है संसरण अर्थात् जन्म-मरण। यह जन्म-मरण शुभाशुभ कर्मों के कारण होता है—'एवं भवसंसारइ सुहासु होंहि कम्मेहिं।'[1] उपनिषद्, त्रिपिटक, आगम आदि ग्रन्थों में एतत् सम्बन्धी अनेक उदाहरण मिलते हैं। आचार्यों ने शरीर और सांसारिक विषयों को मोह का कारण माना है। उन्होंने यह भी अनुभव किया है कि जिस प्रकार जीव और शरीर का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है उसी प्रकार सभी आत्मीय जन भी बिछुड़ जाते हैं। माता-पिता, पत्नी, पुत्र, भाई आदि सभी लोग मृत व्यक्ति को जलाकर रोते-चिल्लाते वापिस चले जाते हैं परन्तु

---

1. उत्तराध्ययन, पृ. 10, 15.

उसके साथ जाता कोई नहीं ।[1] जगजीवन ने इसलिए संसार को 'घन की छाया'[2] बताकर पुत्र, कलत्र, मित्र आदि को 'उदय पुद्गल जुरि आया' कहा है। कबीर ने उसे सेमर के फूल-सा[3] और दादू ने उसे सेमर के फूल[4] तथा बकरी की भांति कह-कर खण्ड-खण्ड बाटी जाने वाली पांखरी[5] बताया है। जायसी ने संसार को स्वप्नवत्, मिथ्या और मायामय बतलाया है ।[6] सूर ने इसी तथ्य को निम्नांकित रूप में व्यक्त किया है :—

> जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै ।
> जिन लोगन सौं नेह करत हैं तेई देखि घिनै हैं ।
> घर के कहत सकारे काठौ भूत होई धरि लैहैं ।[7]

नानक ने भी 'आध घड़ी कोऊ नहि राखत घर तें देत निकार'[8] कहकर इसी भाव को व्यक्त किया है। जैन कवियों ने तो अनित्य भावना के माध्यम से इसे और भी अधिक तीव्र स्वर दिया है ।[9] पं. दौलतराम ने इन भौतिक पदार्थों के स्वभाव को 'सुरधनु चपला चपलाई कहा है ।[10]'

तुलसीदास ने भी संसार की असारता को निम्न शब्दों में चित्रित किया है—

---

1. संत वाणी संग्रह, भाग–2, पृ. 4.
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 77.
3. 'ऐसा यह संसार है जैसा सेमर फूल ।
   दिन दस के व्यवहार में झूठे रे मन भूल ।।' कबीर साखी संग्रह, पृ. 61.
4. यह संसार सेंबल के फूल ज्यों तापर तू जिनि फूलै, दादूवानी, भाग–2, पृ. 14.
5. सब जग छैली काल कसाई, कर्द लिए कंठ काटै ।
   पच तत्त्व की पंच पंखरी खण्ड-खण्ड करि बाटै ।। दादूवानी, भाग–1, पृ. 229.
6. जायसी का पद्मावत : काव्य और दर्शन डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, पृ. 213–214.
7. सूरसागर,
8. सन्त वाणी संग्रह, भाग–2, पृ. 46.
9. देखिये, इसी प्रबन्ध का द्वितीय-पंचम परिवर्त, वृहद् जिनवाणी संग्रह, बारह भावना भूधरदास, बुधजन, आदि कवियों की ।
10. जोवन गृह गो धन नारी, हय गयजन आज्ञाकारी ।
    इन्द्रीय भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ।। छहढाला, 5–3

मैं तोहिं अब जान्यो, संसार।
बांधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रगट कपट-आगार ।।
देखत ही कमनीय, कछु नाहिन पुनि किए विचार।
ज्यों बदली तरु मध्य निहारत कबहू न निकसत सार ।।
तेरे लिए जन्म अनेक में फिरत न पायों पार।
महा मोह-मृग जल सरिता महं बोरयो हों बारहिं बार ।।[1]

इसी प्रकार सूर ने भी संसार को सेंमल के समान निस्सार और जीव को उस पर मुग्ध होने वाले सुआ के समान कहा है—

रे मन मूरख जनम गंवायौ।
करि अभिमान विषय रस गीध्यौ, स्याम सरन नहिं आयौ ।।
यह संसार सुआ सेमर ज्यौं, सुन्दर देखि लुभायौ।
चाखन लाग्यौ कई गई उड़ि, हाथ कछु नहिं आयौ ।।[2]

द्यानतराय ने उसे 'झूठा सुपना यह संसार। दीसत है विनसत नहीं हो बार"[3] कहा और भूधरदास ने उसे 'रैन का सपना' तथा 'वारि-बबूल' माना।[4] जगजीवन ने घन 'घन की छाया' के साथ ही राग-द्वेष को 'वगु पंकति दीरघ' कहा। बनारसीदास ने तो संसार के स्वभाव को नदी-नाव का संयोग जैसा चित्रित किया है—

चेतन तू तिहुकाल अकेला।
नदी नाव संयोग मिले ज्यों त्यों कुटुम्ब का मेला।
यह संसार असार रूप सब ज्यों पटखेलन खेला।
सुख सम्पत्ति शरीर जल बुद बुद विनसत नाहीं बेला ।।[5]

इसी भाव से मिलता-जुलता सूर का पद भी दृष्टव्य है :—

हरि बिन अपनो को संसार।
माया लोभ मोह हैं छांडे काल नदी की धार।
ज्यौं जन संगति होत नाव में रहिति न परलै पार।
तैसैं घन-दारा-सुख सम्पति, बिछुरत लगै न बार।
मानुष-जनम नाम नरहरि कौ, मिलै न बारम्बार ।।[6]

---

1. विनय पत्रिका, 188. वां पद,
2. सूरसागर, 335.
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 133.
4. वही, पृ. 157.
5. वही, पृ. 70.
6. कविता रत्न, पृ. 24.

एक अन्यत्र पद में सूरदास संसार और संसार की माया को मिथ्या मानते हैं—

'मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया
मिथ्या है यह देह कहो क्यों हरि बिसराया ।।[1]

जैन कवि बनारसीदास जन्म गंवाने के कारणों को भी गिना देते हैं। उनके भावों में जो गहराई और अनुभूति झलकती है वह सूर के उक्त पद्य में नहीं दिखाई देती है—

वा दिन को कर सोच जिये मन में ।।
बनज किया व्यापारी तूने, टांडा लादा भारी रे ।
ओछी पूंजी जूआ खेला, आखिर बाजी हारी रे ।।····
झूठे नैना उलफत बांधी, किसका सोना किसकी चांदी ।।
इक दिन पवन चलेगी आंधी किसकी बीबी किसकी बांदी ।।
नाहक चित्त लगावै धन में ।[2]

2. शरीर से ममत्व

साधकों ने शरीर की विनश्वरता पर भी विचार किया है। बाल्यावस्था और युवावस्था यों ही निकल जाती है। युवावस्था में वह विषय वासना की ओर दौड़ता है और जब वृद्धावस्था आ जाती है तब वह पश्चाताप करता है कि क्यों वह अध्यात्म की ओर से विमुख रहा। कबीर ने वृद्धावस्था का चित्रण करते हुए बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है—

तरुनापन गइ बीत बुढ़ापा आनि तुलाने ।
कांपन लागे सीस चलत दोउ चरन पिराने ।
नैन नासिका चूवन लागे मुखतें आवत बास ।
कफ पित कठे घेरि लियो है छूटि गई घर की आस ।।[3]

सूर ने भी इन्द्रियों की बढ़ती हुई कमजोरी का इसी प्रकार वर्णन किया है—

बालापन खेलत खोयो, जुआ विषय रस माते ।
वृद्ध भये सुधि प्रगटी, मो को, दुखित पुकारत तातें ।
सुतन तज्यो त्रिय भ्रात तज्यो सब, तनतें त्वचा भई न्यारी ।
श्रवन न सुनत चरन गति थाकी, नैन बहे जलधारी ।
पलित केस कण्ठ कण्ठ अब रुंध्यो कल न परं दिन राती ।।[4]

---

1. सूरसागर, 1110.
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 55.
3. संत वाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 21.
4. संत वाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 64.

बनारसीदास ने जीवन को ग्यारह अवस्थाओं में विभाजित किया है और प्रत्येक अवस्था की अवधि दस वर्ष मानी है ।[1] भूधरदास ने वृद्धावस्था को जीर्ण-शीर्ण चरखे की उपमा देकर उस को और भी मार्मिक बना दिया—चरखा चलता नाही (रे) चरखा हुआ पुराना (वे) ।[2] दादू ने कबीर और सूर के समान श्रवण, नयन और केस की थकान की बात की पर उन्होंने शब्द-कपन का विशेष वर्णन किया—'मुख तै शबद विकल भइ वाणी"[3] । भूधरदास ने तो दादू के चित्रण को भी मात कर दिया जहां वे कहते हैं—

> रसना तकली ने बल खाया, सो अब कैसे खूटे ।
> शबद सूत सुधा नहिं निकसै घड़ी घड़ी पल टूटे ।[4]

एक अन्य चित्रण में उन्होंने शरीर की जीर्णावस्था का यथार्थ चित्रण देकर अन्त मे'यह गति है । जब तक पछतै हैं प्राणी' कहकर पश्चात्ताप की बात कही है ।[5] इसी प्रकार के पश्चात्ताप की बात दादू ने 'प्राण पुरिस पछितावण लगा । दादू औसर काहे न जागा"[6] कहकर की और कबीर ने 'कहै एक राम भजन बिन बूड़े बहुत बहुत संयान्त"[7] लिखकर उसे व्यक्त किया । दौलतराम ने सुन्दरदास के समान ही शरीर की अपवित्रता का वर्णन किया है । उन्होंने उसे "अस्थिनाल पलनसा-जाल की लाल-लाल जल क्यारी" बताया[8] और सुन्दरदास ने "हाथ पांव सोऊ सब हाड़न की नली है" कहा ।[9]

शरीर की विनश्वरता के सन्दर्भ में सोचते-सोचते साधक संसार की क्षण-भगुरता पर चिन्तन करने लगता है । जैन-जैनेतर साधको ने एक स्वर से जीवन को क्षणिक माना है । तुलसीदास ने जीवन की क्षणिकता को बड़े काव्यात्मक ढंग

---

1. बनारसीविलास, प्रास्ताविक फुटकर कवित्त, पृ. 12.
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 152.
3. दादू की वानी, भाग 2, पृ. 94.
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 152.
5. वही, 158.
6. दादू की वानी, भाग 2, पृ. 94.
7. कबीर ग्रथावली, पृ. 346.
8. दौलत जैन पद संग्रह, पृ. 11. पद 17 वां.
9. संत वाणी सग्रह, भाग 2, पृ. 124.

से "कलिकाल कुठार लिये फिरता तनु नम्र है चोट झिली न झिली" रूप में कहा।[1] और भूधरदास ने उसे "कालकुठार लिए सिर ठाड़ा क्या समझै मन फूला रे" रूप से सम्बोधित किया।[2] कबीर ने शरीर को कागज का पुतला कहा जो सहज में ही घुल जाता है–

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूंद बिनसि जाइ छिन में, गरब करै क्या इतना।
माटी खोदहिं भींत उसारैं, अंध कहै घर मेरा।
आवै तलब बांधि ले चालै, बहुरि न करिहै फेरा।
खोट कपट करि यह धन जोयौ, लै धरती में गाड्यौ॥
रोक्यौ घटि सांस नही निकसै, ठौर-ठौर सब छाड्यौ॥
कहै कबीर नट नाटिक थाके, मदला कौन बजावै।
गये पवनियां उझरी बाजी, को काहू के आवै॥[3]

इसी तथ्य को भगवतीदास ने 'घटै तेरी आव कछे आहि को उपावरे' कहकर अभिव्यक्त किया है।[4] कबीर ने संसार को 'कागद की पुड़िया' भी कहा है जो बूंद पड़े घुल जाती है।[5] माता, पिता, परिवार जन सभी स्वार्थ के साथी हैं जो शरीर के नष्ट होने पर उसे जलाकर वापिस आ जाते हैं।

---

1. क्षणभंगुर जीवन की कलियां कल प्रात को जानें खिली न खिलीं।
मलयाचल की शुचि शीतल मन्द सुगन्ध समीर मिली न मिली।
कलि काल कुठार लिए फिरता तनु नम्र है चोट झिली न झिली।
करि ले हरि नाम अरी रसना फिर अंत समे पै हिली न हिली॥
2. भगवंत भजन क्यों भूला रे॥
यह ससार रैन का सुपना, तन धनवारि-बबूला रे॥
इस जीवन का कौन भरोसा, पावक में तृण फूला रे।
स्वारथ साधै पांच पांव तू, परमारथ को भूला रे।
कहु कैसे सुख पैहैं प्राणी काम करै दुखमूला रे॥
मोह पिशाच छल्यो मति मारै निजकर कंध वसूला रे।
भज श्री राजमतीवर 'भूधर' दो दुरमति सिर धूला रे॥ हिन्दी पद संग्रह, पृ. 157.
3. कबीर ग्रंथावली, पदावली भाग, 92 वां पद, पृ. 346.
4. ब्रह्मविलास, अनित्य पचीसिका, 41, पृ. 176. जैन साधकों द्वारा शरीर चिन्तन को विस्तार से इसी प्रबन्ध के द्वितीय-पंचम परिवर्त में देखिए।
5. कबीर-डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्य 130, पृ. 309.

मन फूला-फूला फिरै जगत में कैसा नाता रे ।
माता कहे यह पुत्र हमारा बहन कहै बिर मेरा ।
भाई कहै यह भुजा हमारी नारी कहै नर मेरा ।
पेट पकरि के माता रोवै बांह पकरि के भाई ।
लपटि झपटि के तिरिया रोवै हंस अकेला जाई ।
चार गजी चरगजी मंगाया चढ़ा काठ की घोड़ी ।
चारों कोने आग लगाया फूंक दियो जस होरी ।
हाड़ जरै जस लाह कड़ी को केस जरै जस घासा ।
सोना ऐसी काया जरि गई कोई न आयो पासा ।।[1]

कविवर द्यानतराय ने भी इन सांसारिक सम्बन्धों को इसी प्रकार मिथ्या और झूठा माना है। अज्ञानी जीव उनको मेरा-मेरा कहकर आत्मज्ञान से दूर रहता है।

मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार है रे ।।
जो देही वह रस सौं पोषै, सो नहि संग चलै रे,
औरन कौं तोहि कौन भरोसो, नाहक मोह करै रे ।।
सुख की बातैं बूझै नाहीं, दुख कौं सुख लेखैं रे ।
मूढो मांही माता डोलै, साधो नाल डरै रे ।
झूठ कमाता झूठी खाता झूठी आप जपै रै ।
सच्छा सांई सूझै नाहीं, क्यों कर पार लगै रै ।।
जम सौं डरता फूला फिरता, करता मैं मैं मैरे ।
द्यानत स्यात सोई जाना, जो जप तप ध्यान धरै रै ।।[2]

3. मिथ्यात्व, मोह और माया :

जब से दर्शन की उत्पत्ति हुई है तभी से मिथ्यात्व, मोह और माया का सबन्ध उसके साथ जुड़ा हुआ है। ऋग्वेद में 'माया' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से वेश बदलने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] उपनिषद् काल में इसने दर्शन का रूप ग्रहण किया और इसे परमात्मा की सृजन का प्रतीक कहा गया। संसारी आत्मा इसी माया से आबद्ध बनी रहती है।[4] जैनधर्म इसे मिथ्यात्व, मोह और कर्म कहता

---

1 सन्त वाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 4
2. हिन्दी पद संग्रह, पद 156, पृ. 130.
3. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, ऋग्वेद 6. 47. 18.
4. अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्, तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः, श्वेताश्वतरोपनिषद् 4. 9.

है जिसके कारण जीव संसार भ्रमण करता रहता है।[1] बौद्धों ने भी इसे इन्हीं शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया है। उन्होंने इसके अनेक रूप बताये हैं– स्वप्नवाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद। इन्हीं को ऋषियों ने अध्यास, अनिर्वचनीय, ख्यातिवाद आदि के सहारे स्पष्ट किया है।[2] अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा माया द्वारा ही सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है और उसके दूर होने से एक आत्मा अथवा ब्रह्म ही शेष रह जाता है।[3] इसके विपरीत तांत्रिकों का मायावाद है। जहाँ माया मिथ्या रूप नहीं बल्कि सद्रूप है।

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने मिथ्यात्व, मोह और कर्म को अपने काव्य में प्रस्तुत किया है जिसे हम पंचम परिवर्त मे देख चुके है। सगुण-निर्गुण हिन्दी के अन्य कवियों ने भी माया के इसी रूप का वर्णन किया है जायसी ने ब्रह्मविलास में माया और शैतान ये दो तत्त्व बाधक माने हैं। अलाउद्दीन और राघव को चेतन के शैतान के रूप में चित्रित किया है।[4] रत्नसेन जैसा सिद्ध साधक उसकी अचिन्त्य शक्ति के सामने घुटने टेक देता है। माया को कवि ने नारी का प्रतिरूप माना है।[5] माया अहंकार और जड़ता को भी व्यंजित करती है। अलाउद्दीन को अहंकार का अवतार बताया गया है। 'नागमती यह दुनियां धंधा' कहकर नागमती को भी माया का प्रतीक माना है। माया, छल, कपट, स्त्री आदि शब्द समानार्थक हैं। जायसी ने इसीलिए नारी (नागमती) के स्वभाव को प्रस्तुत कर मिथ्यात्व, माया और मोह को अभिव्यंजित किया है।

जो तिरियां के काज न जाना। परे धोख पीछे पछताना ॥
नागमति नागिनि बुधि ताऊ। सुआ मयूर होइ नहिं काऊ ॥[6]

---

1. मिच्छत्त वेदंतो जीवो, विवरीयदंसणो होई।
णय धम्मं रोचेदि हु, महुरं पि रसं जहा जरिदो, पंचसंग्रह, 1. 6 : तु. उत्तराध्ययन, 7. 24.
2. ब्रह्मसूत्र भाष्य, 2. 1. 9, 1.1. 21, 2.1. 28.
3. अद्वैत ब्रह्म सत्यम् जगत् इदमनृतं मायया भासमानं।
जीवो ब्रह्म स्वरूपो अहमिति ममचेत् अस्ति देहेभिमान।
श्रुत्वा ब्रह्ममहमस्म्युयभवमुदिते नष्ट कर्माभिमानात्।
माया संसार मुक्ते इह भवति सदा सच्चिदानन्द रूप :। भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ. 63.
4. राघवदूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानु ॥ जायसी ग्रन्थावली, पृ. 301.
5. वही, पृ. 224–226.
6. वही, पृ. 205.

सूर ने बल्लभाचार्य का अनुकरण करते हुए माया को ईश्वर की ही शक्ति का प्रतीक माना है। वह सत्य और भ्रम दोनों रूप है। शंकराचार्य की दृष्टि में अविद्या के दूर होने पर जीव और जगत् का भी नाश हो जाता है पर बल्लभाचार्य उसे नहीं मानते। वे केवल संसार का नाश मानते हैं। माया तो उनकी दृष्टि में परमात्मा की ही शक्ति है[1] जिसके चक्कर से शंकर, ब्रह्म आदि जैसे महामानव भी नहीं बच सके।[2] सूर ने माया को भुजंगिनी, नटिनी, मोहनी भी कहा। काम, क्रोध, तृष्णा आदि विकार भी मायाजन्य ही हैं। माया ही अविद्या अथवा मिथ्यात्व है जिसके कारण भौतिक ससार सत्यवत् प्रतीत होता है। यही संसार भ्रमण का कारण है।[3]

मीरा पुनर्जन्म में विश्वास करती थीं। पुनर्जन्म का कारण अविद्या, मोह अथवा कर्म है। संचित (अतीत), संचीयमान (भावी) और प्रारब्ध (वर्तमान) कर्मों में संचित कर्म ही पुनर्जन्म के कारण हैं मीरा के विविध रूप उसके प्रतीक हैं। कर्म की शक्ति का वर्णन मीरा ने निम्नलिखित पद्य मे स्पष्ट किया है—

> करम गति टारां ना री टरां।
> सतवादी हरचन्द्रा राजां डोम घर नीरां भरां॥
> पांच पांडुरी रानी द्रुपदा हाड़ हिमालां गरां।
> जग्य किया बलि लेन इन्द्रासन जायां पताल परां।
> मीरा रे प्रभु गिरधर नागर बिखरूं अमरित करां॥[4]

तुलसी किस दर्शन के अनुयायी थे यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है।[5] मुझे ऐसा लगता है कि वे बल्लभाचार्य के विशेष अनुयायी रहे होंगे। बल्लभाचार्य के समान ही उन्होंने भी माया को राम की शक्ति माना है—'मन माया

---

1. गोपाल तुम्हारी माया महाप्रबल जिंहि सब जग बस कीन्हो, सूरसागर पद, 44.
2. माधौजू नेंकु हटको गाइ।
   भ्रमत निसि-बासर अपथ-पथ, अगह गहि-गहि जाइ।
   छुधित अति न अघाति कबहूं, निगम द्रुमदलि खाइ।
   अष्ट दस-घट नीर अंचवति तृषा तऊ न बुझाइ। सूरसागर, पद 56.
3. सूरसागर, 42–43, तुलनार्थ दृष्टव्य, मलूकदास, भाग 2, पृ. 9, पलटू, संतवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 238.
4. मीराबाई, पृ. 327–28.
5. तुलसी, सं. उदयभानुसिंह, पृ. 178–9.

सम्भव संसारा। जाव चराचर विविध प्रकारा' तथा 'मरु मोर तोर सैं माया। जेंहि बस कीन्हें जीव निकाया।' कवि के एक अन्य दोहे से भी यह स्पष्ट है—

माया जीव सुभाव गुन काल करम महदादि।
ईस अंक ते बढ़त सब ईस अंक बिनु बादि॥[1]

जैन साधकों और कबीर के माया सम्बन्धी विचार मिलते-जुलते से हैं। कबीर ने माया को छाया के समान माना है जो प्रयत्न करने पर भी ग्रहण नहीं की जा सकती। फिर भी जीव उसके पीछे दौड़ता है।[2] बनारसीदास ने भी उसे छाया[3] कहकर सुन्दर शय्या कहा है जिस पर मोही मोह-निद्रा से ग्रस्त हो जाता है।[4] कबीर[5] और भूधरदास दोनों ने माया को ठगिनी कहा है। कबीर ने इस माया के विभिन्न रूप और नाम बताये हैं और उसे कथनीय कहा है—

माया महा ठगिनी हम जानी।
निरगुन फांस लिये कर डौले, बौले मधुरी बानी,
केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन शिवानी।
पंडा के मूरति ह्वै बैठी तीरथ में भई पानी,
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी राजा के घर रानी॥
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहू के कौड़ी कानी,
भगतन के भगतिन ह्वै बैठी ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहत कबीर सुनो हो संतो, यह सब अकथ कहानी।[6]

कबीर के समान ही भूधरदास ने माया को 'ठगनी' शब्द से सम्बोधित किया है और उसे बिजली की आत्मा के समान माना है जो अज्ञानी प्राणियों को ललचाती रहती है। इसका जरा भी विश्वास करने पर पछताना ही हाथ लगता है। आगे भूधरदास जी 'केते कंथ किये ते कुलटा, तो भी मन न अघाया' कहकर उसके रहस्य को स्पष्ट कर देते हैं परन्तु कबीर उसे कथनीय कहकर ही रह जाते हैं।

---

1. तुलसी ग्रन्थावली, पृ. 100.
2. माया छाया एक सी विरला जाने कोय।
   आता के पीछे फिरे सनमुख भागै सोय। संत वाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 57.
3. माया छाया एक है घटै बढ़ै छिन माहि।
   इनकी संगति जे लगैं तिनहिं कटी सुख नाहिं॥बनारसीविलास, पृ 75.
4. माया की संवारी सेज चादरि कलपना.........नाटक समयसार, निर्जराद्वार 14, पृ. 138.
5. माया तो ठगिनी भई ठगत फिरै सब देस, संतवाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 57.
6. कबीर—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पद्य 134, पृ. 311.

सुनि ठगनी माया, तैं सब जग ठगि खाया।
टुक बिश्वास किया जिन तेरा, सो मूरख पछताया॥
आभा तनक दिखाय बिज्जु, ज्यों मूढ़मती ललचाया।
करि मद अंध धर्म हर लीनों, अन्त नरक पहुंचाया॥
केते कंथ किये तैं कुलटा, तो भीं मन न अघाया।
किस ही सौं नहिं प्रीति निभाई, वह तजि और लुभाया॥
भूधर छलत फिरत यह सबकों, भौंदू करि जय पाया।
जो इस ठगनी को ठग बैठे, मैं तिनको शिर नाया॥[1]

अन्यत्र पदों में कबीर ने माया को सारे संसार को नागपाश में बाधने वाली चाण्डालिनि, डोमिनि और सापिन आदि कहा है। संत आनन्दघन भी माया को ऐसे ही रूप में मानते हैं और उससे सावधान रहने का उपदेश देते हैं।[2] कबीर का भी इसी आशय से युक्त पद है—

अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, तायैं भाई पुरिष थैं नारी॥
नां हूं पर्ली नां हूं क्वारी, पूत जन्यूं घौ हारी।
काली मूण्ड को एक न छोडयौ अजहूं अकन कुवारी॥
बाम्हन के बम्हनेटी कहियौ, जोगी के घर चेली।
कलमा पढि पढि भई तुरकनी, अजहूं फिरौ अकेली॥

---

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 154.
2. अवधू ऐसो ज्ञान विचारी, वामें कोण पुरुष कोण नारी।
बाम्हन के घर न्हाती धोती, बाम्हन के घर चेली।
कलमा पढ़ पढ़ भई रे तुरकड़ी, तो आप ही आप अकेली॥
ससरो हमारो बालो भोलो, सासू बाल कुंवारी।
पियजू हमारे होढ़े पारणिय, तो मैं हूं झुलावनहारी॥
नहीं हूं परणी, नहीं हूं कुंवारी, पुत्र जणावन हारी।
काली दाढ़ी को मैं कोई नहीं छोड़यो, तो हजुए हूं बाल कुंवारी॥
अढी द्वीप में खाट खटूली, गगन उशीकु तलाई।
धरती को छेड़ो, आम की पिछोड़ी, तोमन सोड भराई॥
गगन मंडल में गाय बिआणी, वसुधा दूध जमाई।
सउ रे सुनो भाइ वलोणूं वलोवे, तो तत्त्व अमृत कोई पाई॥
नहीं जाऊं सासरिये ने नहीं जाऊं पीहरिये, पियजू की सेज बिछाई।
आनन्दघन कहे सुना भाई साधु, तो ज्योत से ज्योत मिलाई। आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. 403–405.

पीहरि जांउं न रहूं सासुरै, पुरषहिं अंगि न लाऊं।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तौ, अंगहि अंग न छुवाऊं ॥[1]

तुलसीदास ने माया को वमन की भांति त्याज्य बताया।[2] मलूकदास ने उसे काली नागिनी[3] और दादू ने सर्पिणी[4] कहा। जायसी,[5] सूर[6] और तुलसी[7] ने इस संसार को स्वप्नवत् कहा जिसमें संसारी निरर्थक ही मोही बना रहता है। भूधरदास ने भी संसार के तमाशे को स्वप्न के समान देखा है।

"देख्या बीच जहान के स्वपने का अजब तमाशा वे ॥
एकौंके घर मंगल गावैं पूगी मन की आसा।
एक वियोग भरे बहु रोवैं, भरि भरि नैन निरासा ॥1॥
तेज तुरंगनिपै चढ़ि चलते पहरैं मलमल खासा ॥
रंग भये नागे अति डोलैं, ना कोई देय दिलासा ॥
तरकैं राज तखत पर बैठा, था खुशवक्त खुलासा।
ठीक दुपहरी मूदत आई, जंगल कीना वासा ॥3॥
तन धन अथिर निहायत जग में, पानी मांहि पतासा।
भूधर इनका गरव करैं जे फिट तिनका जनमासा ॥4॥[8]

मिथ्यात्व, मोह और माया के कारण ही जीव में क्रोध, लोभ राग, द्वेषादिक विकारों का जन्म होता है। तुलसी ने इनको अत्यन्त उपद्रव करने वाले मानसिक रोगों के रूप में चित्रित किया है।[9] सूर ने इनको परिधान मानकर संसार का कारण माना है—

---

1. कबीर ग्रंथावली, पद 231, पृ. 427–28.
2. तुलसी रामायण, अयोध्याकाण्ड, 323-4.
3. मलूकदास, भाग 2, पृ. 16.
4. दादू, भाग 1, पृ. 131.
5. यह संसार सपन कर लेखा, बिछुरि गये जानों नहिं देखा, जायसी ग्रन्थावली, पृ. 55.
6. जैसे सुपने सोई नेखियत तैसे यह संसार, सूरसार, पृ. 200.
7. मोह निसा सब सोवनि हारा, देखिअ सपन अनेक प्रकारा, मानस, पृ.458.
8. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 154.
9. तम मोह लोभ अहंकारा, मद, क्रोध बोध रिपु मारा। अति करहिं उपद्रव नाथा, मर्दहिं मोहिं जानि अनाथा। सन्तवाणी संग्रह भाग 2, पृ. 86, तुलनार्थ देखिये, कबीर ग्रन्थावली, पृ. 311.

अब में नाच्यो बहुत गोपाल ।
कामक्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल ।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा-शब्द रसाल ।
भ्रम-मायो मन भयो पखावज चलत असंगत चाल ।
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना विधि दे ताल ।
माया को कटि फेटा बांध्यों लोभ तिलक दियो भाल ।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करी नन्दलाल ।।[1]

इसीलिए भैया भगवतीदास इन विकारों से दूर रहने की सलाह देते हैं ।[2] कर्म भी मिथ्यात्व का कारण है । तुलसी ने उन्हें सुख-दुःख का हेतु माना है-'काहू न कोऊ सुख दुःखकर दाता । निज कृत कर्म भोग सुख भ्राता ।'[3] सूर भी "जनम जनम बहु करम किए हैं तिनमें आपुम आप बधापे ।" कहकर [4] यह बताया है कि उन्हें भोगे बिना कोई भी उनसे मुक्त नहीं हो सकता ।[5] भैया भगवतीदास ने "कर्मन के हाथ दै बिकाये जग जीव सबै, कर्म जोई करे सोई इनके प्रभात हैं 'लिखकर कर्म की महत्ता को प्रकट किया है ।[6] मीरा ने कर्मों की प्रबल शक्ति को इसी प्रकार प्रकट किया है ।[7] बुधजन भी इसी प्रकार कर्मों की अनिवार्य शक्ति का व्याख्यान कर उसे पुराणों से उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—

कर्मन की रेखा न्यारी रे विधिना टारी नांहि टरै ।
रावण तीन खण्ड को राजा छिन में नरक पड़ै ।
छप्पन कोट परिवार कृष्ण के वन में जाय मरे ।।1।।
हनुमान की मात अन्जना वन वन रुदन करै ।

---

1. सूरसागर 153, पृ. 8।
2. काहे को क्रूर तू क्रोध करे अति, तोहि रहैं दुख संकट घेरे ।
   काहे को मान महाश रखावत, आवत काल छिने छिन तेरे ।।
   काहे को अंध तु बधन माया सौ, ये नरकादिक में तुहै गेरे ।
   लोभ महादुख मूल है भैया, तु चेतत क्यों नहिं चेत सवेरे ।।
   ब्रह्मविलास,पुण्य पचीसिका 11 पृ. 4.
3. रामचरित मानस, गीता प्रेस, पृ. 458.
4. सूरसागर, पृ. 173.
5. थकित होय रथ चक्रहीन ज्यों विरचि कर्मगुन फंद, वही, पृ. 105
6. ब्रह्मविलास, पुण्य पाप जगमूल पचीसी, 20, पृ. 199
7. मीरा बाई, पृ. 327.

भरत बाहुबलि दोऊ भाई कैसा युद्ध करै ।।2।।
राम अरु लक्ष्मण दोनों भाई कैसा सिय के संग वन मांहि फिरे ।
सीता महासती पतिव्रता जलती अगनि परे ।।3।।
पांडव महाबली से योद्धा तिनकी त्रिया को हरै ।
कृष्ण रुक्मणी के सुत प्रद्युम्न जनमत देव हरै ।।4।।
को लग कथनी कीजैं इनकी लिखता ग्रन्थ भरे ।
धर्म सहित ये करम कौन सा 'बुधजन' यों उचरे 5।[1]

4. मन:

साधना में मन की शक्ति अचिन्त्य है । वह संसार के बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण होता है । मन को विषय वासनाओं की ओर से हटाकर जब उसे आत्मा में ही स्थिर कर लेते हैं तो वह योगयुक्त अवस्था कही जाती है ।[2] कठोपनिषद् में इसी को परमगति कहा गया है । [3] मन, वचन और काय से युक्त जीव का वीर्य परिणाम रूप प्राणियोग कहलाता है ।[4] और यही योग मोक्ष का कारण है ।[5] इस-लिए योगीन्दु ने उसे पंचेन्द्रियों का स्वामी बताया है और उसे वश में करना आवश्यक कहा है ।[6] गौडपाद ने उसकी शक्ति को पहिचानकर संसार को मन का प्रपंच मात्र कहा है ।[7] कबीर ने माया और मन के सम्बन्ध को अविच्छिन्न कहकर उसे सर्वत्र दुःख और पीडा का कारण कहा है ।[8] माया मन को उसी प्रकार विगाड़ देती है जिस प्रकार काजी दूध को विगाड़ देती है ।[9] मन से मन की साधना भी की

1. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 201.
2. यदा विनियतं चित्तं मात्मन्येवावतिष्ठते ।
   निःस्पृह सर्वकामेभ्यो योग इत्युच्यते तदा ।। गीता, 6. 18.
3. कठोपनिषद्. 2.3.10.
4. मणसा वाया वा वि जुत्तस्य वीरिय परिणामो ।
   जीवस्स विरिय जोगो, जोगोत्ति जिणेहिं णिदिट्ठो, पंच सग्रह, 1.88.
5. चतुर्वर्गे ग्रही मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्-योगशास्त्र, 1. 15.
6. पंचहं णायकु वसिकरहु जेण होंती वसि अण्ण ।
   मूल विणट्ठइ तरुवरह अवसइ सुक्कहिं पण्ण ।।
   परमात्मप्रकाश, 140, पृ. 285.
7. मनोदृश्यमिद द्वैतम्, माण्डूक्य कारिका, 3.31.
8. मन पांचों के वसि परा मन के वस नहि पांच ।
   जित देखूं तित दौ लगि जित भाखू तित आंच ।। कबीर वाणी, पृ. 67.
9. माया सों मन बीगडया, ज्यों कांजी करि दूध ।
   है कोई संसार में मन करि देवे सूध ।।दादू, भाग 1, पृ. 118.

जाती है। मन द्वारा मन के समझाने पर चरम सत्य की उपलब्धि हो जाती है।[1] चंचल चित्त को निश्चल करने पर ही राम-रसायन का पान किया जा सकता है—

> यह काचा खेल न होई जन घटतर खेले कोई।
>
> चित्त चंचल निहचल कीजे, तब राम रसायन पीजै ।।[2]

एक अन्यत्र पद में कबीर मन को संबोधित करते हुए कहते हैं-हे मन ! तू क्यों व्यर्थ भ्रमण करता फिरता है ? तू विषयानन्दों में संलिप्त है किन्तु फिर भी तुझे सन्तोष नहीं। तृष्णाओं के पीछे बावला बना हुआ फिरता है। मनुष्य जहां भी पग बढ़ाता है उसे माया-मोह का बन्धन जकड़ लेता है। आत्मा रूपी स्वच्छ स्वर्ण थाली को उसने पापों से कलुषित कर दिया है।[3] ठीक इसी प्रकार की विचार-सरणी बनारसीदास[4] और बुधजन[5] जैसे जैन साधकों ने भी अभिव्यक्त की है। भैया भगवती दास ने कबीर के समान ही मन की शक्ति को पहिचाना और उसे शब्दों में इस प्रकार गूंथने का प्रयत्न किया—

> मन बली न दूसरो, देख्यौ इहि संसार ।।
>
> तीन लोक में फिरत ही, जातन लागे बार ।।8।।
>
> मन दासन को दास है, मन भूपन को भूप ।।
>
> मन सब बातनि योग्य है, मन की कथा अनूप ।।9।।
>
> मन राजा की सेन सब, इन्द्रिन से उमराव ।।
>
> रात दिना दौरत फिरैं, करे अनेक अन्याव ।।10।।
>
> इन्द्रिय से उमराव जिह, विषय देश विचरंत ।।
>
> भैया तिह मन भूप को, को जीते विन संत ।।11।।

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 146.
2. वही, पृ. 146.
3. काहे रे मन दह दिसि धावै, विषिया संगि संतोष न पावे ।।
   जहां जहां कलपे तहां तहां बंधनो, रतन को थाल कियौ ते रंधनां।
   कबीर ग्रंथावली, पद 87, पृ. 343.
4. रे मन ! कर सदा सन्तोष,
   बढ़त परिग्रह मोह बाढत, अधिक तृषना होति।
   बहुल ईंधन जरत जैसे, अगनि ऊंची जोति ।।
   बनारसीदास, हिन्दी पद संग्रह पृ. 65.
5. मेरे मन तिरपत क्यों नहि होय,
   अनादिकाल तैं विषयनराच्यो, अपना सरबस खोय ।। बुधजन, वही, पृ. 197

मन चंचल मन चपल अति, मन बहु कर्म कमाय ।।
मन जीते बिन आतमा, मुक्ति कहो किम थाय ।।12।।
मन सो जोधा जगत में, और दूसरो नाहिं ।।
ताहि पछारै सो सुभट, जीत लहै जग माहिं ।।13।।
मन इन्द्रिन को भूप है, ताहि करे जो जेर ।।
सो सुख पावे मुक्ति के, या में कछू न फेर ।।14।।
जत तन मूंदो ध्यान में, इंद्रिय भई निराश ।।
तब इह आतम ब्रह्म ने, कीने निज परकाश ।।15।।[1]

कबीर के समान जगतराम भी मन को माया के वश मानते हैं और उं अनर्थ का कारण कहते हैं ।[2] जैन कवि ब्रह्मदीप ने मन को करम संबोधन करके उं भव-वन में विचरण न करने को कहा है क्योंकि वहां अनेक विष वेलें लगी हुई ह जिनको खाने से बहुत कष्ट होगा ।

मन करहा भव बनिमा चरइ, तदि विष वेल्लरी बहुत ।
तहूं चरंतहं बहु दुखु पाइयउ, तब जानहि गौ मीत ।।

5. बाह्याडम्बर

साधना के आन्तरिक और बाह्य स्वरूपों में से कभी कभी साधकों बाह्याडम्बरों की ओर विशेष ध्यान दिया । ऐसी स्थिति में ज्ञानाराधना की अपेक्ष क्रियाकाण्ड अथवा कर्मकाण्ड की लोकप्रियता अधिक हुई । परन्तु वह साधना क वास्तविक स्वरूप नहीं था । जिन साधकों ने उसके वास्तविक स्वरूप को समभ उन्होंने मुण्डन, तीर्थस्थान, यज्ञ, पूजा, आदि बाह्य क्रियाकाण्डों का घनघोर विरो किया । यह क्रियाकांड साधारणतः वैदिक संस्कृति का अंग बन चुका था ।

जैनाचार्य योगीन्दु ने ज्ञान के बिना तीर्थस्थान को बिल्कुल निरर्थक बताय है ।[3] मुनि रामसिंह ने भी उससे आभ्यंतर मल धुलना असंभव माना है ।[4]

---

1. ब्रह्मविलास, मनबत्तीसी, पृ. 262,
2. मनकरहारास, 1, आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में सुरक्षित हस्तलिखित प्रं तुलनार्थ दृष्टव्य-जैनशतक, भूधरदास, 67 पृ. 26.
3. तित्थई तित्थु भमंताहं मूढहं मोक्ख ण होइ ।
णाण विवज्जिउ जेण जिय मुणिवरु होइ ण सोई ।58।
परमात्मप्रकाश, द्वि. महा0, पृ. 227.
4. पत्तिय पाणिउ दब्भ तिल सव्वहं जाणि सवण्णु ।
ज पुणु मोक्खहं जाइवउ तं कारणु कुइ अण्णु ।।—पाहुडदोहा, 159.

आचार्य कुन्दकुन्द से भलीभांति प्रभावित रहे हैं। सिद्ध सरहपाद ने भी तीर्थस्थान आदि बाह्याचार का खण्डन कर[1] अचेलावस्था पिच्छि, केशलुंचन आदि क्रियाओं की निम्न प्रकार से आलोचना की है—

यदि नंगाये होइ मुक्ति तो शुनक-श्रृगालहु।
लोम उपाटे होइ सिद्धि तो युवति नितम्बहु॥
पिच्छि गहे देखेउ जो मोक्ष तो मोरहु चमरहुं।
उम्छ-भोजने होइ ज्ञान तो करिहुं तुरंगहु॥
सरह भने क्षपण की मोक्ष, मोहि तनिक न भावइ।
तत्त्व रहित काया न ताप, पर केवल साधइ॥

कबीर ने भी धार्मिक अन्धविश्वासों, पाखण्डों और बाह्याडम्बरों के विरोध में तीक्ष्ण व्यंग्योक्तियां कसी हैं। मात्र मूर्तिपूजा करने वालों[3] और मूड़ मुड़ाने वालों[4] के ऊपर कटु प्रहार किया है। कबीर का विचार है कि इनसे बाह्याचारों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो बनी रहती है परन्तु मन निर्विकार नहीं होता इसलिए हाथ की माला को त्यागकर कबि ने मन को वश में करने का आग्रह किया है।[5] जोगी खंड में बाह्याचार विरोध की हल्की भावना जायसी में भी मिलती है जब रत्नसेन ज्योतिषी के कहने पर उत्तर देता है कि प्रेम मार्ग में दिन, घड़ी आदि बाह्याचार पर दृष्टि नहीं रखी जाती।[6] अन्यत्र स्थलों पर भी उन्होंने झकझोर देने वाले करारे व्यंग्य किये हैं। नग्न रहने से ही यदि योग होता है तो मृग को भी मुक्ति मिल

---

1. मोक्खपाहुड़, 61; भावपाहुड़ 2.
2. हिन्दी काव्यधारा–सं. राहुल सांकृत्यायन, पाखण्ड-खण्डन (छाया) पृ. 5, तुलनार्थ दृष्टव्य है—ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, 11 पृ. 10.
3. पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहार।
   तातैं ये चाकी भली पीसि खाय संसार॥ संतवाणी संग्रह, भाग–1, पृ. 62.
4. मूड़ मुड़ाये हरि मिलैं सब कोई लेय मुड़ाय।
   बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥
5. माला फेरत जुग गया, पाय न मन का फेर।
   करका मनका छांडि दे मनका-मनका फेर॥ कबीर ग्रन्थावली, पृ. 45.
6. जायसी का पद्मावत—डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, पृ. 157.

जाती और यदि मुण्डन करने से स्वर्ग मिलता तो भेड़ भी स्वर्ग पहुंचती।[1] सुन्दरदास,[2] जगजीवन,[3] भीखा[4] आदि सन्तों ने भी इन बाह्याचारों का खण्डन किया है। तुलसी ने भी कहा कि, जप, तप, तीर्थस्नान आदि क्रियायें रामभक्ति के बिना वैसी ही है जैसे हाथी को बांधने के लिए धूल की रस्सी बनाना।[5] अनेक देवताओं की सेवा, श्मशान में तान्त्रिक साधना, प्रयाग में शरीर त्याग आदि आचार अविद्याजन्य हैं।[6]

मध्यकालीन जैन सन्तों ने भी अपनी परम्परा के अनुसार बाह्याचारों का खण्डन किया है। जैनधर्म में बिना विशुद्धमन और ज्ञानपूर्वक किया गया आचार कर्मबन्ध का कारण माना गया है।[7] भैया भगवतीदास ने कबीरादि सन्तों के स्वर से मिलाकर बाह्य क्रियाओं में व्यस्त साधुओं की तीखी आलोचना की है।[8] वृक्ष के मूल में रहना, जटादि धारण करना, तीर्थस्नानादि करना ज्ञान के बिना बेकार हैं–

कोटि कोटि कष्ट सहे, कष्ट में शरीर दहे,
धूमपान कियो पै न पायौ भेद तन को।
वृक्षन के मूल रहे जटान में झूलि रहे,
मान मध्य मूलि रहे किये कष्ट तन को।।
तीरथ अनेक न्हये, तिरत न कहूं भये,
कीरति के काज दियौ दानहू रतनको।
ज्ञान बिना बैर-बैर क्रिया करी फैर-फैर,
कियौ कोऊ कारज न आतम जतन को।।

जैन कवि भगवतीदास ने ऐसी बाह्य क्रियाओं का खण्डन किया है जिनमें सम्यक् ज्ञान और आचार का समन्वय न हो—

---

1. नागे फिरैं जोग जो होई, बन का मृग मुकति गया कोई।
   मूड़ मुंड़ायै जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुंची कोई।।
   नन्द राखि जे खेलै है भाई, तो दुसरे कौण परम गति पाई।।132।।
   कबीर ग्रन्थावली, पृ. 23.
2. सुन्दरविलास, पृ. 23.
3. संत सुधासार, भाग–2, पृ. 58.
4. भीखा साहब की वानी, पृ. 5.
5. विनयपत्रिका, पद 129.
6. तुलसी ग्रन्थावली, पृ. 200.
7. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार, 96–97.
8. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, 11 पृ. 10 वही; अनित्यपचीसिया, 9 पृ. 174.

देह के पवित्र किये आत्मा पवित्र होय, ऐसे मूढ भूल रहे मिथ्या के भरम में।
कुल के आचार को विचारै सोई जानै धर्म, कंद मूल खाये पुण्य पाप के करम मे।
मूंड के मुंडाये गति देह के दगाये गति, रातन के खाये गति मानत धरम में।
शस्त्र के धरैया देव शास्त्र को न जानै भेद, ऐसे हैं अबेन अरु मानत परम में।

जैनधर्म के अनुसार क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञान विहीन क्रिया भी नगर से आग लगने पर पंगु तो देखता-देखता जल गया और अंधा दौड़ता-दौड़ता। पीताम्बर ने इसीलिए कहा है—भेषधार कहैं भैया भेष ही में भगवान, भेष मे भगवान, भगवान न भाव में।'[3] इस सन्दर्भ मे प्रस्तुत प्रबन्ध के चतुर्थ परिवर्त मे बाह्याडम्बर के प्रकरण मे संकलित और भी अनेक पद देखे जा सकते हैं जिसमे बाह्याचार की कटु आलोचना की गई है।

जैन साधकों एवं कवियों के साहित्य का विस्तृत परिचय न होने के कारण कुछ आलोचकों ने मात्र कबीर साहित्य[4] को देखकर उनमे ही बाह्याडम्बर के खडन की प्रवृत्ति को स्वीकारा है जबकि उनके ही समान बाह्याचार का खंडन और आलोचना जैन साधक[5] बहुत पहले कर चुके थे अतः इस सन्दर्भ में कबीर के बारे में ही मिथ्या आरोप लगाना उपयुक्त नहीं।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जैन और जैनतर दोनो साधक कवियों ने बाह्याचार की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर अधिक बल दिया है। अन्तर इतना

---

1. ब्रह्मविलास, सुपंथ कुपंथपचीसिका, 11 पृ. 182.
2. हयं नाणं क्रियाहीणं हया अन्नाणओ त्रिया।
   पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो य अंधओ ।। विशेषावश्यक भाष्य, जिनभद्रगणि, 1159.
3. बनारसीविलास, ज्ञानबावनी, 43, पृ. 87.
4. क्या है तेरे न्हाई धोई, आतमराम न चीन्हा सोई।
   क्या घट अपरि मंजन कीयै भीतरी मैल अपारा ।।
   रामनाम बिन नरक न छूटै, जो धोवै सौ बारा।
   ज्यूं दादुर सुरसरि जल भीतरि हरि बिन मुकति न होई ।। कबीर, पृ. 322.
5. अभिन्तर चित्ति वि मइलियइ बाहिरि काइ तवेण।
   चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ।। पाहुडदोहा, 61 पृ. 18;
   भित्तरि भरिउ पाउमलु, मूढा करहि सण्हाणु।
   जे मल लाग चित्त महि आणंदा रे! किम जाय सण्हाणि ।। आणंदा, 4.

है कि जैनतर साधक भक्त थे अतः उन्होंने भक्ति के नाम-स्मरण पर अधिक जोर
ा जबकि जैन साधकों ने आत्मा के ही परमात्मतत्त्व को अन्तर में धारण करने
बात कही है ।

2. साधक तत्त्व

सद्गुरु और सत्संग :

साधना की सफलता और साध्य की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का सत्संग प्रेरणा
स्रोत रहता है । गुरु का उपदेश पापनाशक, कल्याणकारक शान्ति और आत्म-
द्व करने वाला होता है ।[1] उसके लिए श्रमण और वैदिक साहित्य मे श्रमण,
चार्यो, बुद्ध, पूज्य, धर्माचार्य, उपाध्याय, भन्ते, भदन्त, सद्गुरु, गुरु आदि शब्दों का
प्ति प्रयोग हुआ है । जैनाचार्यो ने अर्हन्त और सिद्ध को भी गुरु माना है और
वेध प्रकार से गुरु भक्ति प्रदर्शित की है । इहलोक और परलोक मे जीवों को जो
ई भी कल्याणकारी उपदेश प्राप्त होते हैं वे सब गुरुजनो की विनय से ही होते
[2] इसलिए उत्तराध्ययन मे गुरु और शिष्यों के पारस्परिक कर्तव्यों का विवेचन
रा गया है ।[3] इसी सन्दर्भ मे सुपात्र और कुपात्र के बीचजैन तथा वैदिक साहित्य
करेखा भी खीची गई है ।[4]

जैन साधक मुनिरामसिंह[5] और आनंदतिलक[6] ने गुरु की महत्ता स्वीकार की
पोर कहा है कि गुरु की कृपा से ही व्यक्ति मिथ्यात्व रागादि के बंधन से मुक्त
कर भेदविज्ञान द्वारा अपनी आत्मा के मूलविशुद्ध रूप को जान पाता है । इसलिए

. उत्तराध्ययन, 1 27.

. जे केइ वि उवएसा, इह पर लोए सुहावहा संति ।
विणएण गुरुजणाणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ।। वसुनन्दि–श्रावकाचार, 339, तुलनार्थ देखिये— घेरंड संहिता, 3, 12–14.

. उत्तराध्ययन, प्रथम स्कन्ध ।

. श्वेताश्वेतरोपनिषद् 3-6, 22 आदि पर्व, महाभारत, 131. 34. 58.

. ताम कुतित्थइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ ।
गुरुहु पसाए जाम णवि अप्पा देउ मुणेइ ।। योगसार, 41, पृ. 380.
अप्पापरहं परंपरह जो दरिसावइ भेउ ।। पाहुड़दोहा, 1.

. गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारु ।
सो दरिसावइ अप्प परु आणंदा ! भव जल पावइ पारु ।। आणंदा, 36.

उन्होंने गुरु की वन्दना की है। आनंदतिलक भी गुरु को जिनवर, सिद्ध, शिव और स्व-पर का भेद दर्शाने वाला मानते है। जैन साधकों के ही समान कबीर ने भी गुरु को ब्रह्म (गोविन्द) से भी श्रेष्ठ माना है। उसी की कृपा से गोविन्द के दर्शन संभव हैं।[1] रागादिक विकारों को दूर कर आत्मा ज्ञान से तभी प्रकाशित होती है जब गुरु की प्राप्ति हो जाती है।[2] उनका उपदेश संशयहारक और पथप्रदर्शक रहता है।[3] गुरु के अनुग्रह एवं कृपा दृष्टि से शिष्य का जीवन सफल हो जाता है। सद्गुरु स्वर्णकार की भांति शिष्य के मन से दोष और दुर्गुणों को दूर कर उसे तप्त स्वर्ण की भांति खरा और निर्मल बना देता है।[4] सूफी कवि जायसी के मन में पीर (गुरु) के प्रति श्रद्धा दृष्टव्य है। वह उनका प्रेम का दीपक है।[5] हीरामन तोता स्वयं गुरु रूप है[6] और ससार को उसने शिष्य बना लिया है।[7] उनका विश्वास है कि गुरु साधक के हृदय मे विरह की चिनगारी प्रक्षिप्त कर देता है और सच्चा साधक शिष्य गुरु की दी हुई उस वस्तु को सुलगा देता है।[8] जायसी के भावमूलक रहस्यवाद का प्राणभूततत्त्व प्रेम है और यह प्रेम पीर की महान देन है। पद्मावत के स्तुतिखड मे उन्होंने लिखा है—

"सैयद असरफ पीर पिराया। जेहि मोहि पथ दीन्ह उंजियारा।
लेसा हिए प्रेम कर दीया। उठी जौति भा निरमल हीया।[9]

सूर की गोपिया तो बिना गुरु के योग सीख ही नही सकी। वे उद्धव से मथुरा ले जाने के लिए कहती है जहा जाकर वे गुरु श्याम से योग का पाठ ग्रहण

---

1. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पाय।
   बलिहारी गुरु आपकी जिन्ह गोविन्द दियो दिखाय॥ संत वाणी संग्रह, भाग-1. पृ. 2.
2. बलिहारी गुरु आपणों द्यो हाड़ी कै बार।
   जिनि मानिष तै देवता करत न लागी बार॥ कबीर ग्रन्थावली, पृ. 1.
3. ससै खाया सकल जग, ससा किनहूं न खद्ध, वही, पृ. 2–3.
4. वही, पृ. 4.
5. जायसी ग्रन्थमाला, पृ. 7.
6. गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥ पद्मावत.
7. गुरु होइ आप, कीन्ह उचेला, जायसी ग्रन्थावली, पृ. 33.
8. गुरु विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥ वही, पृ. 51.
9. जायसी ग्रंथावली, स्तुतिखण्ड, पृ. 7.

कर सकें ।[1] भक्ति-धर्म में सूर ने गुरु की आवश्यकता अनिवार्य बतलाई है और उसका उच्च स्थान माना है। सद्गुरु का उपदेश ही हृदय में धारण करना चाहिए क्योंकि वह सकल भ्रम का नाशक होता है—

"सद्गुरु को उपदेश हृदय धरि, जिन भ्रम सकल निवारयो ।।[2]

सूर गुरु महिमा का प्रतिपादन करते हुए करते हैं कि हरि और गुरु एक ही स्वरूप है और गुरु के प्रसन्न होने से हरि प्रसन्न होते हैं। गुरु के बिना सच्ची कृपा करने वाला कौन है ? गुरु भवसागर में डूबते हुए को बचाने वाला और सत्पथ का दीपक है ।[3] सहजोबाई भी कबीर के समान गुरु को भगवान से भी बड़ा मानती हैं ।[4] दादू लोकिक गुरु को उपलक्ष्य मात्र मानकर असली गुरु भगवान को मानते हैं ।[5] नानक भी कबीर के समान गुरु की ही बलिहारी मानते है जिसने ईश्वर को दिखा दिया अन्यथा गोविन्द का मिलना कठिन था ।[6] सुन्दरदास भी "गुरुदेव बिना नहीं मारग सूझय" कहकर इसी तथ्य को प्रकट करते हैं ।[7] तुलसी ने भी मोह भ्रम दूर होने और राम के रहस्य को प्राप्त करने में गुरु को ही कारण माना है। रामचरित-मानस के प्रारम्भ मे ही गुरु वन्दना करके उसे मनुष्य के रूप में करुणासिन्धु भगवान माना है। गुरु का उपदेश अज्ञान के अंधकार को दूर करने के लिए अनेक सूर्यों के समान है—

बंदऊं गुरुपद कंज कृपासिन्धु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर ।।[8]

---

1. जोग विधि मधुबन सिखिहैं जाइ ।
   बिनु गुरु निकट सदेसनि कैसे, अवगाह्यौ जाइ ।
   सूरसागर (सभा), पद 4328
2. वही, पद 336.
3. सूरसागर, पद 416,417; सूर और उनका साहित्य,
4. परमेसुर से गुरु बड़े गावत वेद पुरान—संतसुधासार, पृ. 182
5. आचार्य क्षितिमोहन सेन-दादू और उनकी धर्मसाधना, पाटल सन्त विशेषांक, भाग 1, पृ. 112.
6. बलिहारी गुरु आपणों द्यौ हांड़ी के बार।
   जिनि मानिषतें देवता, करत न लागी बार ।।
   गुरु ग्रंथ साहिब, म 1, आसादीवार, पृ.1
7. सुन्दरदास ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ. 8
8. रामचरितमानस, बालकाण्ड 1-5;

कबीर के समान ही तुलसी ने भी संसार को पार करने के लिए गुरु की ाति अनिवार्य मानी है। साक्षात् ब्रह्मा और विष्णु के समान व्यक्तित्व भी, गुरु के ा संसार से मुक्त नहीं हो सकता।[1] सद्गुरु ही एक ऐसा दृढ़ कर्णधार है जो र के दुर्लभ कामों को भी सुलभ कर देता है—

करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।[2]

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी गुरु को इससे कम महत्व नहीं दिया। होंने तो गुरु को वही स्थान दिया है जो अर्हन्त को दिया है। पंच परमेष्ठियों में ्त को देव माना और शेष चारों को गुरु रूप स्वीकारा है। ये सभी "दुरित हरन दारिद दौन" के कारण है।[3] कबीरादि के समान कुशल लाभ ने शाश्वत सुख उपलब्धि को गुरु का प्रसाद कहा है—"श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख सपजइ[4] रूपचन्द ने भी यही माना। बनारसीदास ने सद्गुरु के उपदेश को मेघ की मा दी है जो सब जीवों का हितकारी है।[5] मिथ्यात्वी और अज्ञानी उसे ग्रहण करते पर सम्यग्दृष्टि जीव उसका आश्रय लेकर भव से पार हो जाते है।[6] अन्यत्र स्थल पर बनारसीदास ने उसे "ससार सागर तरन तारन गुरु जहाज ाखिये" कहा है।[7]

मीरा ने 'सगुरा' और 'निगुरा' के महत्व को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि रा को अमृत की प्राप्ति होती है और निगुरा को सहज जल भी पिपासा की त के लिए उपलब्ध नही होता। सद्गुरु के मिलन से ही परमात्मा की प्राप्ति

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई जौ विरंचि संकर सम होई।
बिन गुरु होहि कि ज्ञान ज्ञान कि होइ विराग बिनु।
रामचरितमानस उत्तरकाण्ड, 93
. वही, उत्तरकाण्ड, 43।4
. बनारसीविलास, पचपद विधान, 1–10 पृ. 162–163.
. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117.
. ज्यौं वरषै वरषा समै, मेघ अखंडित धार।
त्यौ सद्गुरु वानी खिरै, जगत जीव हितकार॥
नाटक समयसार, 6, पृ. 338.
. वही, साध्य साधक द्वार, 15–16 पृ. 342–3.
बनारसी विलास, भाषासूक्त मुक्तावली, 14, पृ. 24

होती है ।[1] रूपचन्द का कहना है कि सद्गुरु की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है इस लिए वे उसकी प्राप्ति के लिए अपने इष्ट से अभ्यर्थना करते हैं ।[2] द्यानतराय को "जो तजै विषै की आसा, द्यानत पावै सिववासा । यह सद्गुरु सीख बताई, काहू विरलै के जिय आई" के रूप में अपने सद्गुरु से पथदर्शन मिला ।[3]

सन्तों ने गुरु की महिमा को दो प्रकार से व्यक्त किया है— सामान्य गुरु का महत्व और किसी विशिष्ट व्यक्ति का महत्व । कबीर और नानक ने प्रथम प्रकार को अपनाया तथा सहजोबाई आदि अन्य सन्तों ने प्रथम प्रकार के साथ ही द्वितीय प्रकार को भी स्वीकार किया है । जैन सन्तों ने भी इन दोनों प्रकारों को अपनाया है । अर्हन्त आदि सद्गुरुओं का तो महत्वगान प्रायः सभी जैनाचार्यों ने किया है पर कुशल लाभ जैसे कुछ भक्तों ने अपने लौकिक गुरुओं की भी आराधना की है ।[4]

गुरु के इस महत्व को समझकर ही साधक कवियों ने गुरु के सत्संग को प्राप्त करने की भावना व्यक्त की है । परमात्मा से साक्षात्कार कराने वाला ही सद्गुरु है ।[5] सत्संग का प्रभाव ऐसा होता है कि वह मजीठ के समान दूसरों को अपने रंग में रग लेता है ।[6] काग भी हंस बन जाता है ।[7] रैदास के जन्म-जन्म के पाश कट

1. सतगुरू मिलिया सुंछपिछानो ऐसा ब्रह्म मैं पाती ।
   सगुरा सूरा अमृत पीवे निगुरा प्यासा जाती ।
   मगन भया मेरा मन सुख में गोविन्द का गुण गाती ।
   मीरा कहै इक आस आपकी औरां सूं सकुचाती ।।
   सन्त वाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 69.
2. अब मौहि सद्गुरु कहि समझायौ, तो सौ प्रभू बड़ै भागनि पायो ।
   रूपचन्द नटु विनवै तोही, अब दयाल पूरो दे मोही ।।
   हिन्दी पद संग्रह, पृ. 49
3. वही, पृ. 127, तुलनार्थ देखिये ।
   मन वचकाय जोग थिर करके त्यागो विषय कषाई ।
   द्यानत स्वर्ग मोक्ष सुखदाई सतगुरु सीख बताई ।। वही, पृ, 133.
4. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 117.
5. भाई कोई सतगुरु सत कहावै, नैनन अलख लखावै-कबीर; भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. 146.
6. दरिया सगत साधु की, सहजै पलटै अंग ।
   जैसे संगमजीठ के कपड़ा होय सुरंग । दरिया 8, संत बाणी संग्रह, भाग 1, पृ. 129
7. सहजोसंगत साध की काग हंस हो जाय । सहजोबाई, वही, पृ. 158

जाते हैं ।[1] मीरा सत्संग पाकर ही हरि चर्चा करना चाहती है ।[2] सत्संग से दुष्ट भी वैसे ही सुधर जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से कुधातु लोहा भी स्वर्ण बन जाता है ।[3] इसलिए सूर दुष्ट जनों की संगति से दूर रहने के लिए प्रेरित करते हैं ।[4]

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने भी सत्संग का ऐसा ही महत्व दिखाया है । बनारसीदास ने तुलसी के समान सत्संगति के लाभ गिनाये हैं—

कुमति निकद होय महा मोह मंद होय,
जगमगै सुयश विवेक जगै हियसो ।
नीति को दिढ़ाव होय विनैको बढाव होय,
उपजे उछाह ज्यों प्रधान पद लियेसों ।।
धर्म को प्रकाश होय दुर्गति को नाश होय,
बरते समाधि ज्यों पियूष रस-पिये सों ।
तोष परि पूर होय, दोष दृष्टि दूर होय,
एते गुन होहिं सह संगति के किये सौं ।।[5]

---

1. कह रैदास मिलैं निजदास, जनम जनम के काटे पास-रैदास बानी, पृ. 32
2. तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चर्चा सुण लीजौ—सन्तवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 77.
3. जलचर थलचर नभचर नाना, जे जड़ चेतन जीव जहाना ।
मीत कीरति गति भूति भलाई, जब जेहिं जलन जहां जेहिं पाई ।
सो जानव सतसंग प्रभाऊ, लौकहुं वेद न आन उपाऊ ।
बिनु सतसंग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ।
सतसंगति मुद मंगलमूला, सोई फल सिधि सब साधन फूला ।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई, पारस परस कुधात सुहाई ।
तुलसीदास-रामचरितमानस, बालकाण्ड 2-5.
4. तजौ मन हरि विमुखन को संग ।
जिनके संग कुमति उपजत है परत भजन में भंग ।
कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग ।
कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हवाए गंग ।
सूरदास खलकारी कामरि, चढ़ै न दूजो रंग ।। सूरसागर, पृ. 176.
5. बनारसीविलास, भाषासूक्त मुक्तावली, पृ . 50.

द्यानतराय कबीर के समान उन्हें कृतकृत्य मानते हैं जिन्हें सत्संगति प्राप्त हो गयी है।[1] भूधरमल सत्संगति को दुर्लभ मानकर नरभव को सफल बनाना चाहते हैं—

प्रभु गुन गाय रे, यह ओसर फेर न पाय रे।।
मानुष भव जोग वुहेला. दुर्लभ सतसगति मेला ।
सब बात भली बन आई, अरहन्त भजो रे भाई ।।1।।[2]

दरिया ने सत्सगति को मजीठ के समान बताया और नवल राम ने उसे चन्द्र-कान्तमणि जैसा बताया है। कवि ने और भी दृष्टान्त देकर सत्संगति को सुखदायी कहा है—

सत संगति जग में सुखदायी ।।
देव रहित दूषण गुरु साचौ, धर्म्म दया निश्चै चितलाई ।।
सुक मेना संगतिनर की करि, अति परवीन वचनता पाई ।
चन्द्र कांति मनि प्रकट उपल सौ, जल ससि देखि झरत सरसाई ।।
लट घट पलटि होत षट पद सी, जिन कौ साथ भ्रमर को थाई ।
विकसत कमल निरखि दिनकर कों, लोह कनक होय पारस छाई ।।
बोझ तिरै संजोग नाव कं, नाग दमनि लखि नाग न खोई ।
पावक तेज प्रचंड महाबल, जल मरता सीतल हो जाई ।।
सग प्रताप भुयंगम जै है, चंदन शीतल तरल पटाई ।
इत्यादिक ये बात घणेरी, कौलो ताहि कहो जु बढ़ाई ।।[3]

---

1. कर कर सपत संगत रे भाई ।।
   पान परत नर नरपत कर सौ तौ पांननि सौ कर आसनाइ ।।
   चन्दन पास नींव चन्दन है काढ चढ़यौ लोह तरजाई ।
   पारस परस कुधात कनक है बून्द उर्द्ध पदवी पाई ।।
   करई तोबर संगति के फल मधुर मधुर सुर कर गाई ।
   विष गुन करत संग औषध के ज्यौ बच खाल मिटै वाई ।।
   दोष घटे प्रगटे गुन मनसा निरमल है तज चपलाई ।
   द्यानत धन्न धन्न जिनके घट सत संगति सरधाई ।।
   हिन्दी पद संग्रह, पृ. 137.
2. वही, पृ. 155.
3. वही, पृ. 1§8-86.

इसी प्रकार कविवर छत्रपति ने भी संगति का माहात्म्य दिखाते हुए उसके भेद किये हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ।[1]

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन साधकों ने विभिन्न उपमेयों के आधार द्गुरु और उनकी सत्संगति का सुन्दर चित्रण किया है। ये उपमेय एक दूसरे भावित करते हुए दिखाई देते हैं जो निःसन्देह सत्संगति का प्रभाव है। यहां ष्टव्य है कि जैनेतर कवियों ने सत्संगति के माध्यम से दर्शन की बात अधिक की जबकि जैन कवियों ने उसे दर्शन मिश्रित रूप में अभिव्यक्त किया है।

त्म-परमात्म-निरूपण :

आध्यात्मिक दार्शनिक क्षेत्र में आत्मतत्त्व सर्वाधिक विवाद का विषय रहा ।दान्तसार, सूत्रकृतांग और दीघनिकाय में इन विवादों के विविध उल्लेख मिलते कोई शरीर और आत्मा को एक मानते हैं और कोई मन को आत्मा मानते कुछ अधिच्च-समुप्पन्निकवादी थे, कुछ अहेतुवादी थे, कुछ अक्रियावादी थे, कुछ वादी थे, कुछ अज्ञानवादी थे, कुछ ज्ञानवादी थे, कुछ शाश्वतवादी थे और कुछ वादी थे। ये सभी सिद्धान्त ऐकान्तिकवादी हैं।[3] इनमें कोई भी सिद्धान्त आत्मा स्तविक स्वरूप पर निष्पक्ष रूप से विचार करते हुए नहीं दिखाई देता। वेदान्त

देखो स्वांति बून्द सीप मुख परी मोती होय :
केलि में कपूर बास माहि वंसलोचना।
ईख में मधुर पुनि नीम में कटुक रस,
पन्नग के मुख परी होय प्रान मोचना ।।
अबुज दलनिपरि परी मोती सम दिपै,
तपन तबे पे परी नसै कछु सोचना।
उतकिष्ट मध्यम जघन्य जैसौ संग मिलै,
तैसौ फल लहै मति पोच मति पोचना ।।147।।

मलय सुवास देखो निंबादि सुगन्ध करे, पारस पखान लोह कञ्चन करत है।
रजक प्रसंग पट समलते श्वेत करै, भेषज प्रसंग विष रोगन हरत है ।।
पंडित प्रसंग जन मूरखतें बुध करै, काष्ट के प्रसंग लौह पानी में तरत है।
जैसी जाको संग ताको तैसो फल प्रापति है, सज्जनप्रसंग सब दुख निवरत है ।।
148, मनमोदन पंचशती, पृ. 70-71.

वेदान्तसार, पृ. 7.

बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. 3-5.

के अनुसार आत्मा स्वप्रकाशक, नित्य, शुद्ध, सत्यस्वभावी और चैतन्ययुक्त है।[1] बौद्धदर्शन में आत्मा ने अव्याकृतवाद से लेकर निरात्मवाद तक की यात्रा की है।[2] जैनदर्शन में आत्मा ज्ञानदर्शनोपयोगमयी, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेहपरिणामवान्, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध और ऊर्ध्वस्वभावी है।

जीव है सुज्ञानमयी चेतना स्वभाव धरै, जानिबौ जो देखिबौ अनादिनिधि पास है।
अमूर्त्तिक सदा रहै और सौ न रूप गहै, निश्चैनै प्रवान जाके आतम विलास है।।
व्योहारनय कर्त्ता है देह के प्रमान मान, भोक्ता सुख दुःखनि को जग में निवास है।
शुद्ध है विलोके सिद्ध करम कलक विना, ऊर्द्ध को स्वभाव जाको लोक अग्रवास है।[3]

मध्यकालीन हिन्दी सन्त आत्मा के इन्हीं विभिन्न स्वरूपों पर विचार करते रहे है। सूफी कवि जायसी के आत्मतत्त्व सम्बन्धी विचार वेदान्त, योग, सूफी, इस्लाम और जैन धर्म से प्रभावित रहे हैं। उसमें इन सभी सिद्धान्तों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की भावना निहित थी। जायसी का ब्रह्मनिरूपण सूफियों से अधिक प्रभावित है। सूफीमत में ब्रह्म की स्थिति हृदय में मानी गयी है और जगत् उसकी प्रतिच्छाया के रूप मे दिखाई देता है। कवि का यह कथन दृष्टव्य है जहां वह कहता है-काया उदधि सदृश है। उसी में परमात्मा रूपी प्रियतम प्रतिष्ठित है। उसी को शाश्वत माना है।[5] आत्मा का साक्षात्कार अन्तर्मुखी साधना का फल है। यह आत्मा पिण्डस्थ मानी गई है। योग के अनुसार पिण्डस्थ आत्मा दो प्रकार की है—प्राप्तात्मा और प्राप्तव्यात्मा। सूफियों ने भी आत्मा के दो रूप स्वीकार किये है—नफस (संसारी) और रूह (विवेकी)। रूह आत्मा शरीर के पूर्व विद्यमान रहती है। परमात्मा ही उसे मनुष्य शरीर में भेजता है। इस उच्चतर आत्मा के भी तीन पक्ष है—कल्ब (दिल) रूह (जान) तथा सिर्र (अन्तःकरण)। वहां सिर्र ही अन्तरतम रूप है। इसी में पहुंचकर सूफी साधक आत्मा के दर्शन करते हैं। इस आत्मद्वयवाद को कवि ने सूर्य-चन्द्र के प्रतीकों से अनेक स्थानो पर व्यंजित किया है।[6] आत्मद्वय

---

1. अतस्तद्भासकं नित्यशुद्धयुक्त सत्यस्वभावं प्रत्यक:।
   चैतन्यमेवात्मभवस्त्विति वेदान्तविदनुभव:। वेदान्तसार–सं. हरियन्ना, पृ. 8.
2. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. 88.
3. ब्रह्मविलास, द्रव्यसंग्रह, 2, पृ. 33.
4. काया उदधि चितव पिंडा पाहां। देखै रतन सौ हिरदय माहां।। जायसी ग्रन्थावली, पृ. 177.
5. वही, पृ. 3.
6. आजु सूर ससि के घर आया। ससि सूरहि जनु होइ मेरावा, वही, पृ. 123.

में एक शुद्धात्मा है और दूसरी निम्नात्मा। माया के नष्ट हो जाने पर दोनों का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है। वेदान्त में माया (नफस) का हनन ज्ञान से होता है पर सूफीमत में ईश्वर प्रेम से साधक उससे मुक्त होता है। जायसी ने आत्मा की ज्ञानरूपता, स्व-पर-प्रकाशकरूपता,[1] नित्यशुद्ध, मुक्तरूपता, चैतन्य रूपता,[2] परम प्रेमास्पद रूपता, आनन्द रूपता,[3] सद्रूपता और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपता स्वीकार की है।[4] जायसी के इस आत्मा के सिद्धान्त पर वेदान्त का प्रभाव अधिक बताया जाता है। पर मुझे जैनदर्शन का भी प्रभाव दिखाई देता है।

कबीर के अनुसार जीव और ब्रह्म पृथक् नहीं है। वह तो अपने आपको अविद्या के कारण ब्रह्म से पृथक् मानता है। अविद्या और माया के दूर होने पर जीव और ब्रह्म अद्वैत हो जाते हैं—'सब घटि अंतरि तू ही व्यापक धरै सरूपैं सोई।[5] आत्मज्ञान शाश्वत सुख की प्राप्ति कराने वाला है।[6] सर्वव्यापक है।' अविनाशी है,[8] निराकार और निरंजन है।[9] सूक्ष्मातिसूक्ष्म[10] तथा ज्योतिस्वरूप है।[11] इसे आत्मा का परमार्थिक स्वरूप कहते हैं। उसका व्यावहारिक स्वरूप माया अथवा अविद्या से आवृत स्थिति में दिाई देखता है। वही संसार मे जन्म-मरण का कारण है। सुन्दरदास का भी यही मन्तव्य है।[12]

सूर ने भी ब्रह्म और जीव में कोई अंतर नहीं माना। माया के कारण ही जीव अपने स्वरूप को विस्मृत हो जाता है—'आपुन-आपुन ही विसरयौ।' माया के[13] दूर होने पर जीव अपनी विशुद्धावस्था प्राप्त कर लेता है।[14] तुलसी ने भी जीवात्मा

---

1. हिय कै जोति दीप वह सूझा, जायसी ग्रन्थावली, पृ. 61.
2. वही, पृ. 50.
3. वही, पृ. 57.
4. जायसी का पद्मावतः काव्य और दर्शन, पृ. 194–204.
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 105.
6. आप ही आप विचारिये तब कैसा होई आनंद रे, कबीर ग्रंथावली, पृ. 89.
7. वही, पृ. 56.
8. वही, पृ. 323.
9. निजस्वरूप निरंजना, निराकार अपरंपार, वही, पृ. 227.
10. वही, पृ. 73.
11. वही, पृ. 73.
12. सन्तबानी संग्रह, पृ. 107.
13. सूरसागर, पद 369.
14. वही, पद, 407.

को परमात्मा से पृथक् नहीं माना। माया के वशीभूत होकर ही वह अपने यथार्थ स्वरूप को भूल गया।[1] कवि का परमात्मा व्यापक है और वह कबीर आदि के समान केवल निर्गुण नहीं ही कहा, वह भी सगुण होकर भिन्न-भिन्न अवतार धारण करता है।[2] सगुण-निर्गुण राम की शक्ति का विवेचन इस कथ्य को पुष्ट करता है।[3]

जैन सन्तों ने भी कबीर आदि सन्तों के समान आत्मा के निश्चय और व्यवहार स्वरूप का वर्णन किया है। जैन दर्शन का आत्मा निश्चय नय से शुद्ध, बुद्ध और निराकार है पर व्यवहार नय से वह शरीर प्रमाण आकार ग्रहण करता है, कर्ता और भोक्ता है। आत्मा और शरीर को भी वहां पृथक् माना गया है। सूफी साधकों ने आत्मा से परमात्मा तक पहुंचने मे चार अवस्थाओं का वर्णन किया है—शरीयत (श्रुताभ्यास), तरीकत (नामस्मरण), हकीकत (आत्मज्ञान) और मारफत (परमात्मा में लीन)। जैनों ने आत्मा की इन्हीं अवस्थाओं को तीन अवस्थाओं में अन्तर्भूत कर दिया है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। इन सभी अवस्थाओं का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

योगीन्दु मुनि ने आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि आत्मा न गौर वर्ण का है, न कृष्ण वर्ण का, न सूक्ष्म है, न स्थूल है न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य है, न शूद्र, न पुरुष है, न स्त्री, न नपुंसक है, न तरुण-वृद्ध आदि। वह तो इन सभी सीमाओं से परे है। उसका वास्तविक स्वरूप तो शील, तप दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वित रूप है।

अप्पा गोरउ किण्हु णवि, अप्पा रत्तु ण होइ।
अप्पा सुहुमु वि थूणु ण वि, णाणिउ जाणे जोइ ॥86॥
अप्पा बंभणु वइसु ण वि, ण वि खत्तिउ ण वि सेसु।
पुरिसु णउंसउ इत्थ ण वि, ण णिउ मुणइ असेसु ॥87॥
अप्पा वन्दउ खवणु ण वि, अप्पा गुरउ ण होइ।
अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि, ण णिउ जाणइ जोइ ॥88॥

---

1. जिय जब तैं हरि तैं बिगान्यो। तब तै गेह निज जान्यो।
   माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुःख पायो। विनय-पत्रिका, 136.
2. वही, 53.
3. गीतावली, 5, 5-27

अप्पा पंडिउ मुक्खु ण वि, णवि ईसरु णवि णीसु ।
तरुणउ बूढ़उ बालु णवि, अण्णु वि कम्म विसेसु ॥91॥
अप्पा संजमु सीलु तउ, अप्पा दंसणु णाणु ।
अप्पा सासय मोक्ख पउ, जाणंतउ अप्पाणु ॥93॥[1]

मुनि रामसिंह ने भी आत्मा के इसी स्वरूप का वर्णन किया है ।[2] कबीर भी यही कहा है—'बरन बिवरजित ह्वै रह्या नां सौ स्याम न सेत ।'[3] कबीर आत्मा अविनाशी, अविकार और निराकार है ।[4] बनारसीदास ने भी आत्मा इसी रूप को स्वीकार किया है—

अविनासी अविकार परमरस धाम है,
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम है ।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है ।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त है ।[5]

कबीर की दृष्टि में मिथ्यात्व और माया के नष्ट होने पर आत्मा परमात्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता ।

जल में कुम्भ-कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह जथ कथौ गियानी ॥
ज्यूं बिंब हिं प्रतिबिम्ब समाना उदक कुम्भ बिगराना ।
कहै कबीर जानि भ्रम भागा, वहि जीव समाना ॥[6]

बनारसीदास ने भी आत्मा-परमात्म रूप का ऐसा ही चित्रण किया है—

पिय मोरे घट, मै पियमाहि । जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहि ॥
पिय मो करता मैं करतूति । पिय ज्ञानी मैं ज्ञानविभूति ॥
पिय सुखसागर मैं सुख सींव । पिय शिवमंदिर मैं शिवनींव ॥

---

1. परमार्थप्रकाश, प्र. महा :
2. पाहुड दोहा, 26–31.
3. कबीर ग्रंथावली, पृ. 243.
4. कहै कबीर सबै सज विनस्या, रहै राम अविनासी रे ।
   निज सरूप निरंजन निराकार, अपरंपार अपार ।
   अलख निरंजन लखै न कोई निरभै निराकार है सोइ । कबीर ग्रंथाव
   पृ. 210. 227, 230.
5. नाटक समयसार, 4 पृ. 5.
6. कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग, पृ. 111.

पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम । पिय माधव मो कमला नाम ।।
पिय शंकर मैं देवि भवानि । पिय जिनवर मैं केवलवानि ।।[1]

सुन्दरदास ने आतम-परमातम तत्त्व की अद्वैतता, अखण्डता तथा निर्गुणता का वर्णन इस प्रकार किया है—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन नित्य निरंजन और न भासै ।।
ब्रह्म अखण्डित है अध ऊरध बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै ।
ब्रह्महि सूच्छम स्थूल जहां लगि ब्रह्महि साहिब ब्रह्महि दासै ।
सुंदर और कछू मत जानहु ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै ।[2]

तुलसीदास ने राम के स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्हें सगुण-निर्गुण रूप माना है । उन्होंने ब्रह्म को नित्य, निर्मय, सच्चिदानन्द, ज्ञानघन, विमल, व्यापक, सिद्ध आदि विशेषणों से अभिहित किया है—

नित्य निर्मम, नित्य मुक्त निर्मान हरि ज्ञानघन सच्चिदानंद मूलं ।
सर्वरक्षक सर्वभक्षकाध्यक्ष कूटस्थ गूढ़ार्चि भक्तानुकूलं ।।
सिद्धि साधक साध्य, वाच्य वाचक रूप मंत्र-जापक-जाप्य, सृष्टि-सष्टा ।
परमकारन कंजनाभ, सगुन, निर्गुना सकल-दृश्य-द्रष्टा ।।
व्योम व्यापक बिरज ब्रह्म बरदेस बैकुंठ वामन विमल ब्रह्मचारी ।
सिद्ध वृन्दारकावृंद वंदित सदा खंडि पाखंड निर्मूलकारी ।।
पूरनानंद संदोह अपहरन संमोह अज्ञान गुनसन्निपातं ।
बचन मन कर्म गत सरन तुलसीदास, त्रास पाथोधि इव कुंभजानं ।।[3]

सूर को सगुणवादी कहा जाता है पर उन्होंने निर्गुण रूप का भी भक्ति-वशात् व्याख्यान किया है—

शोभा अमित अपार अखिण्डत आप आतमाराम ।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम ।
आदि सनातन एक अनुपम अविगत अल्प अहार ।
ओंकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार ।।[4]

सूरसागर के प्रथम स्कन्ध के प्रारम्भ में सूरदास ने परब्रह्म के रूप की विस्तृत

1. बनारसीविलास, अध्यातम गीत, पृ. 161.
2. सुन्दरविलास, पृ. 129.
3. विनयपत्रिका, 53.
4. सूरसारावली, पद 993, पृ. 34 (वेंकटेश्वर प्रेस)

व्याख्या की है। अनेक ऐसे पद हैं जिनमें परब्रह्म कृष्ण के अन्तर्यामी विराट स्वरूप, तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन है।[1]

बनारसीदास ने भी परमात्मा के इन्हीं सगुण और निर्गुण स्वरूप की स्तुति की है—'निर्गुण रूप निरंजनदेवा, सगुण स्वरूप करें विधि सेवा।'[2] एक अन्यत्र स्थान पर कवि ने चैतन्य पदार्थ को एक रूप ही कहा है पर दर्शन गुण को निराकार चेतना और ज्ञानगुण को साकार चेतना माना है—

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन, साकार चेतना सुद्ध ज्ञानगुनसार है।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरब मांहि, समान विशेष सत्ता ही को विसतार है ॥[3]

अंजन का अर्थ माया है और माया से विमुक्त आत्मा को निरंजन कहा गया है। बनारसीदास ने उपर्युक्त पद में निरंजन शब्द का प्रयोग किया है। कबीर ने भी निरंजन को निर्गुण और निराकार माना है—

गो पंदे तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नांही रेख नांहीं, मुद्रा नांहीं माया ॥[4]

सुन्दरदास ने भी इसे स्वीकार किया है—'अंजन यह माया करी, आपु निरंजन राइ। सुन्दर उपजत देखिए, बहुरयो जाइ विलाइ ॥[5] आनन्दघन की दृष्टि में जो व्यक्ति समस्त आशाओं को दूर कर ध्यान द्वारा अजपा जाप को अपने अन्तः-करण में संचित करता है वह निरंजन पद को प्राप्त करता है—

आसा मारि आसन धरि घट में, अजपा जाप जगावै।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावै ॥[6]

निरंजन शब्द के इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि जैन और जैनेतर कवियों ने इसे परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सिद्ध सरहपाद[7] और गोरखनाथ[8] ने

---

1. सूर और उनका साहित्य, पृ. 211.
2. बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, 7 पृ. 150.
3. नाटक समयसार, मोक्षद्वार, 10, पृ. 219
4. कबीर ग्रंथावली, 219, पृ. 162.
5. सन्तसुधासार, पृ. 648.
6. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. 359.
7. सुण्ण णिरंजन परम हउ, सुइणोमाअ सहाव।
   भावहु चित्त सहावता, जउ रासिज्जइ जाव ॥ दोहाकोश, 139, पृ. 30.
8. उदय न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन्न।
   सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापिक सुषम न अस्थूल ॥ हिन्दी काव्य-धारा, पृ. 158.

भी इस शब्द का प्रयोग किया है। निरंजन आत्मा की वह स्थिति है जहाँ माया अथवा अविद्या का पूर्ण विनाश हो जाता है और आत्मा की विशुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था को सभी सम्प्रदायों ने लगभग इसी रूप में स्वीकार किया है। अतएव यह कथन सत्य नहीं लगता कि निरंजन नामक कोई पृथक् सम्प्रदाय था।[1] जिसका लगभग 12 वीं शताब्दी में उदय हुआ होगा।[2] डॉ. त्रिगुणायत ने निरंजन सम्प्रदाय का संस्थापक कबीरपंथी हरीदास को बताया।[3] यह भ्रम मात्र है। निरंजन नाम का न तो कोई सम्प्रदाय ही था और न उसका संस्थापक हरीदास अथवा निरंजन नामक कोई सहजिया बौद्ध सिद्ध ही था। इस शब्द का प्रयोग तो आत्मा की उस परमोच्च अवस्था के लिए आगमकाल से होता रहा है जिसमें माया अथवा अविद्या का पूर्ण विनाश हो जाता है।[4] योगीन्दु ने इस शब्द का प्रयोग बहुत किया है।[5] उनका समय लगभग 8 वीं शती है।[6] उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि निरञ्जन वह है जिसमें रागादिक विकारों में से एक भी दोष न हों—

जासुण वण्णु ण गंधु रसु ज सुण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु।।
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु।।
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरजणु भाउ।।[7]

---

1. कबीर—डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पंचम संस्करण, पृ. 52–53.
2. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. 354.
3. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. 355.
4. रंजनं रागाद्युः-रंजनं तस्मान्निर्गतपस्थानांगसूत्र, अभिधान राजेन्द्र कोश, चतुर्थ भाग, पृ. 2108, कल्प सुबोधिका में भी लिखा है—रञ्जनं रागाद्युपरञ्जनं तेन शून्यत्वात् निरञ्जनम्।
5. परमात्म प्रकाश, 1–17, 123.
6. मध्यकालीन धर्मसाधना–डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र. संस्करण, 1952 पृ. 44.
7. परमात्म प्रकाश, पृ. 27–28.

बनारसीदास ने भी इसी परम्परा को स्वीकार किया है। उसी निरंजन की उन्होंने वदना की है। वही परमगुरु और अपमंजक है।[1] भगवान का यही निर्गुण स्वरूप यथार्थ स्वरूप है। तुलसी का ब्रह्म भी मूलत: निर्गुणपरक ही है। इसी को निष्फल ब्रह्म भी कहा जाता है। अल्लाह, करीम, रहीम आदि सूफी नामों के अतिरिक्त आत्मा गुरु, हंस, राम आदि शब्दों का भी प्रयोग निर्गुणी सन्तों ने ब्रह्म के अर्थ में किया है। जैनाचार्यों ने भी इनमें से अधिकांश शब्दों को स्वीकार किया है। यह जिनसहस्रनाम से स्पष्ट है। सगुण परम्परा का भी उन्होंने आधार लिया है। ब्रह्मत्व निरूपण में यहां एकत्ववाद की प्रतिष्ठा की गई है जिसमें अध्यात्म का सरस निर्मल जल सिंचित हुआ है। साकार विग्रह के वर्णन में ब्रह्म के विराट स्वरूप का दर्शन होता है। अद्वैतता और अखण्डता का भी प्रतिपादन किया गया है। इसी को अनिर्वचनीय और अगोचर भी कहा गया है। ये सभी तत्त्व सगुण-निर्गुण भक्त कवियों के साहित्य में हीनाधिक भाव से मिलते हैं। जैन कवियों की भक्ति भी सगुणा और निर्गुणा रही है। अत: उनका आत्मा और ब्रह्म भी उपर्युक्त विशेषणों से मुक्त नहीं हो सका।

निसानी कहा बताउं रे तेरो वचन अगोचर रूप।
रूपी कहूं तो कछु नाहीं रे, कैसे बधै अरूप ॥
रूपा रूपी जो कहूं प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप।
सिद्ध सरूपी जो कहूं प्यारे, बन्धन मोक्ष विचार ॥
सिद्ध सनातन जो कहूं रे, उपजै विणसै कोण।
उपजै विणसै जो कहूं प्यारे, नित्य अबाधित गौन ॥[2]

---

1. परम निरञ्जन परमगुरु परमपुरुष परधान।
बन्दहुं परम समाधिगत, अपमंजन भगवान ॥ बनारसीविलास, कर्मछत्तीसी, पद्य 1, पृ. 136.
2. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. 365.
तुलनार्थ देखिए
बाबा आत्म अगोचर कैसा तातैं कहि समुझावों ऐसा।
जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई।
सैना बैना कहि समझाओ, गूंगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, विनसै नाहि नियारा।
ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे, पण्डित करो विचारा ॥
कबीर, पृ. 126.

2. प्रपत्त-भावना

डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' में रहस्यवाद की भूमिका चार प्रमुख तत्त्वों से निर्मित बतलायी है—आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुरु की प्रधानता और मार्ग। ये चारों तत्त्व प्राचीन भारतीय साहित्य की आध्यात्मिक और दार्शनिक परम्परा से जुड़े हुये हैं। 'आस्तिकता' का तात्पर्य है आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास करना। 'प्रेम और भावना' का सम्बन्ध अपने आराध्य के प्रति व्यक्त आध्यात्मिक प्रेम से है। इस प्रेम के अन्तर्गत प्रपत्ति मूलक दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति की जाती है। 'गुरु' परमसत्य का साक्षात्कार करने वाला होता है और 'मार्ग' मे साक्षात्कार करने का पथ निर्दिष्ट किया जाता है।

उपर्युक्त तत्त्वों में से हम आस्तिकता और गुरु पर पीछे विचार कर चुके हैं। प्रेम को हम दूसरे शब्दों मे भक्ति-प्रपत्ति कह सकते हैं। प्रपत्ति का तात्पर्य है अपने इष्टदेव के शरण में जाना। साधक की भक्ति उसे इस प्रपत्ति की ओर ले जाती है। अनुकूल का संकल्प अथवा व्यवहार करना, प्रातिकूल्य का छोड़ना, भगवान रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास होना, भगद्गुणों का वर्णन, आत्म निक्षेप और दीनता इन छः अंगों के माध्यम से भक्त अपने आराध्य की शरण में जाता है।[1] मध्यकालीन हिन्दी सन्तों में प्रपन्न भक्तों के लगभग सभी गुण उपलब्ध होते हैं।

"अनुकूल्यस्य संकल्प" का तात्पर्य है भगवान के अनुकूल आचरण करना, ऐसे सत्कार्य करना जो भगवद्भक्ति के लिए आवश्यक हों। कबीर का चिन्तन है कि आत्मा की विशुद्ध परिणति हरि का दर्शन किये बिना नहीं हो सकती—'हरि न मिले बिन हिरदै सूध।[2] उसके बिना तो वह जल में से से घृत निकालने के समान असम्भव है—'हृदय कपट मुख ग्यांनी, झूठे कहा विलोवसि पानी।'[3] तुलसी पश्चात्ताप करते हुए यह प्रतिज्ञा करते हैं कि अभी तक तो उन्होंने अपना समय व्यर्थ गंवाया पर अब चिन्तामणि मिल गया है। उसे यों ही व्यर्थ नहीं जाने देंगे।

अब लौं नसानी, अब न नसैहों।
राम कृपा भाव-निसा सिरानी, जागे फिर न डसै हों।
पायेऊ नाम चारु चिन्तामनि, उरकर ते न खसैहों।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित्त कंचनहि कसैहों।

1. पांचरात्र, लक्ष्मी संहिता साधनांक, पृ. 60.
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 214.
3. वही, पृ. 332.

परबस जानि हंस्यो इन इन्द्रिन बस है न हसैंहों ।
मन मधुकर पन कै तुलसी पद कमल बसैंहों ।[1]

इस प्रकार रूपचन्द भगवान् के शरण में आकर यह कहते हुए दिखाई देते हैं—'अभी तक उन्होंने स्वयं को नहीं पहिचाना । मन वासना में लीन रहा, इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़ती रहीं । पर अब तुम्हारी शरण मिलने से एक मार्ग मिल गया है जो भव दुःख को दूर कर देगा—

प्रभु तेरे पद कमल निज न जानें ।।
मन मधुकर रस रसि कुवसि, कुमयो अब अनत न रति मानें ।
अब लगि लीन रह्यो कुवासना, कुविसन कुसुम सुहानें ।
भीज्यो भगति वासना रस बस अवस बर सयाहि भुलानें ।
श्री निवास संताप निवारन निरूपम रूप अरूप बखाने ।
मुनि जन राजहंस जु सेवित, सुर नर सिर सरमाने ।।
भव दुख तपनि तपत जन पाए, अम-अग सहसाने ।
रूपचन्द चित भयो अनन्दसु नाहि नैं बनतु बखाने ।।[2]

भैया भगवतीदास 'हो चेतन तो मति कौन हरी' और कुमुदचन्द "चेतन चेतत किउं बावरे" कहकर यही भाव व्यक्त करते हैं । कबीर बाह्य क्रियाओं को व्यर्थ कहते हैं और तुलसीदास इन्द्रिय वासना की बात करते हैं पर भगवती राग और लोभ के प्रभाव से भागी हुई मिथ्यामत को ही दूर करने का संकल्प लिए हुए बैठे हैं ।[3]

'प्रातिकूलस्य वर्जनम्' का तात्पर्य है भगवद् भक्ति मे उपस्थित प्रतिकूल भावो का त्याग करना । 'हिरदै कपट हरि नहिं सांचो, कहा भयो जे अनहद नाच्यो' जैसे उद्धरणों मे कबीर ने माया, कपट क्रोध लोभ आदि दूषित भावो को त्यागने का संकेत किया है ।[4] मीरा भी मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई 'कहकर भक्ति मे विघ्न डालने वाले परिवार के लोगो को त्याग देती है ।[5] तुलसी ने भी' जाके प्रिय न राम बैदेही । सो छाड़िये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही' कहकर प्रतिकूल

---

1. विनय पत्रिका, 105.
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 32–33
3. ब्रह्मविलास, पृ. 116.
4. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 183.
5. मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।।
   जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।
   तात मात भ्रात बन्धु अपना नहिं कोई ।
   छोड़ दई कुल की कानि क्या करिहै कोई ।।

स्थिति को छोड़ा है।[1] बखतराम साहु ने 'इन कर्मों तें मेरा जीव डरदा हो।' कहकर कर्मों को दूर करने के लिए कहा है और दौलतराम ने छांड़ि दे या बुधि भोरी, वृथा तन से रति जोरी' मानकर शरीरादि से मोह नष्ट करने के लिए आवश्यक माना है।[2]

"रक्षिष्यतीति विश्वासः" का अर्थ है—भक्त को यह पूर्ण विश्वास है कि भगवान हमारी रक्षा करेंगे। कबीर को भगवान मे दृढ़ विश्वास हैं—"अब मोही राम भरोसो तेरा, और कौन का करौ निहारा।"[3] तुलसी को भी पूरा विश्वास है— "भरोसो जाहि दूसरो सो करो। मोको तो राम को नाम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान करो।"[4] सूर ने भी 'को को न तरयो हरि नाम लिये' कहकर विश्वास व्यक्त किया है।[5] मीरा को विश्वास है कि हे प्रभु, मैं तो आपके शरण हूं, आप किसी न किसी तरह तारेंगे ही। एक अन्यत्र पद में मीरा विश्वास के साथ कहती है—हरि मोरे जीवन प्रान अधार और आसिरो नाही तुम बिन तीनूं लोक मंझार।[6]

नवलराम को भी विश्वास है कि वीतराग की शरण में रहने से सभी पाप दूर हो जायेंगे और मुक्ति प्राप्त कर लेंगे।[7] द्यानतराय को भी तीनों भवनी में जिनदेव समान अन्य कोई सामर्थ्यवान देव नहीं मिला। केवल जिनेन्द्र ही भव जीवनि को तारने मे समर्थ हैं।[8] कबीर तुलसी के समान द्यानतराय को भगवान में पूर्ण विश्वास है—अब हम नेमि जी की शरण और ठौर मन लगत है छांडि प्रभु के शरन।[9]

"गोप्तृत्व वरण" का तात्पर्य है—एकान्त मे भवसागर से पार होने के लिए भगवद्गुणों का चिंतन करना। कबीर ने 'निरमल राम गुण गावे, सो भगतां

1. विनय पत्रिका, 174.
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 165, 223.
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 124.
4. विनय पत्रिका, 226.
5. सूरसागर, पद 89.
6. मीरा की प्रेम साधना, पृ. 260, पद 14 वां, पृ. 262.
7. हिन्दी पद संग्रह. पृ. 174
8. द्यानतराय संग्रह, कलकत्ता, 28 वां पद, पृ. 12.
9. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 140.

मेरे मन भावै' के माध्यम से इसका वर्णन किया है ।[1] तुलसी ने 'कृपा सोधौ कहाँ बिसारी राम । जेहि करुना मुनि श्रवन दीन-दु:ख धावत हो तजि धाम' लिखकर राम के गुणों का स्मरण किया है ।[2] मीरा में शरण अब तिहारी जी मोहि राखों कृपानिधान कहकर प्रभु के गुणो का वर्णन किया है ।[3]

इसी प्रकार बख्तराम साह अपने प्रभु के अतिरिक्त इस जग में दूसरों को दानी नहीं समझते हैं । उसी की कृपा से उनके हृदय मे अनन्त सुख उपजा है—

तुम दरसन तैं देव सकल अघ मिटि है मेरे ।।
कृपा तिहारी तैं करुणा निधि, उपज्यो सुख अछेव ।
अब लौ निहारे चरन कमल की करी न कबहूं सेव ।।
अबहूं सरनै आयो सबतं छूट गयो अहमेव ।।
तुम से दानी और न जग मे, जाचत हो तजि भेव ।
बख्तराम के हिये रहो तुम भक्ति करन की टेव ।।[4]

"आत्मनिक्षेप" का अर्थ है । भक्त स्वयं को भगवान के अधीन कर दे । कबीर ने 'जो पै पतिव्रता है नारी कैसे ही रहौसी पियहि प्यारी ।' तन मन जीवन सौंपि सरीरा । ताहि सुहागिन कहै कबीरा' से आत्मनिक्षेप की शर्त मान ली ।[5] तुलसी-दास ने भी 'मेरे रावरिये गति है रघुपति बलि जाउं । निलज नीच निरधन निरगुन कहं जग दूसरो न ठाकुर ठाउं' कहकर स्वय को प्रभु के लिए समर्पित कर दिया है ।[6] मीरा भी "मैं तो थारी सरण परी रे रामा ज्यूं तारे त्यूं तारा । मीरा दासी "राम भरोसे जम का फंदा निवार' कहकर पूर्णतया भगवान के अधीन है उसे तारना हो वैसे तारो ।[7] जैन कवि भी स्वय को भगवान के अधीन कर उनसे भाव विह्वल हो मुक्ति की कामना करते दृष्टिगोचर होते है । बख्तराम साह—'तुम बिन नहि तारै कोइ । दीन जानि बाबा वस्ता कं, करो उचित है सोई'[8] कहकर, द्यानतराय"—अब हम नेमि जी की शरन । दास द्यानत दयानिधि प्रभु, क्यो तजेंगे मरन'[9] और 'अब मोहे तार

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 127.
2. विनय पत्रिका, 93
3. मीरा की प्रेम साधना, पृ. 260–61.
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 163.
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 133.
6. विनय पत्रिका, 153,
7. मीरा की प्रेम साधना, पृष्ठ 259.
8. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 164,
9. वही, पृ. 140.

लेहु महावीर'[1] कहकर और दौलतराम 'जाऊं कहां तज शरन तिहारी'[2] कहकर इसी भाव की अभिव्यंजना की है।

कार्पण्य—भक्ति के इस अंग में साधक अपनी दीनता व्यक्त करता है। कबीर ने 'जिहिं घटि राम रहै भरपूरि, ताकी मैं चरनन की धूरि'[3] तथा 'कबीरा कूता राम का मुतिया मेरा नाऊं' जैसे उद्धरणों में अपनी दीनता और विनय का प्रदर्शन किया है। तुलसी ने 'जाऊं कहां तजि चरन तुम्हारे। काको नाम पतित पावन ? केहि अति दीन पियारे ?'[4] मीरा भी 'अब मैं सरण तिहारीं मोहि राखो कृपानिधान' कहकर अपनी अकिंचनता व्यक्त करती है। जैन कवियों ने भी भक्ति के इस अंग को उसी रूप में स्वीकार किया है। जगतराम को प्रभु के बिना और दूसरा कोई सहायक नहीं दिखता। और दूसरे तो स्वार्थी हैं पर प्रभु उन्हें परमार्थी लगते हैं—

प्रभु विन कोन हमारो सहाई॥
और सबै स्वारथ के साथी, तुम परमारथ भाई॥
याते चरन सरन आये है, मन परतीत उपाई॥[5]

भूधरदास ने भी भगवान जिनेन्द्र को अरज सुनाई है कि तुम दीनदयालु हो और मैं संसारी दुखिया हूं।[6] इसी प्रकार की दीनता सूरदास के विनय के पदों में भी बिखरी दिखाई पड़ती है—

अब लौ कहौ, कौन दर जाऊं ?
तुम जगपाल, चतुर चिन्तामनि, दीनबन्धु सुनि नाउं॥[7]

दीनता के साथ सभी भक्तों ने अपने दोषों और पश्चात्तापों का भी वर्णन किया है। भगवान दयालु है वह अपने भक्तों को दोष देते हुए भी भव समुद्र से पार लगा देंगे। तुलसीदास ने विनय पत्रिका मे 'माधव मो समान जग नाहीं। सब विधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषय कोउ नाही॥[8] कहकर अपनी दीनता व्यक्त की

---

1. वही, पृ. 101.
2. वही, पृ. 216.
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 26.
4. विनय पत्रिका, 101.
5. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 101.
6. अहो जगत गुरु देव, सुनियो अरज हमारी।
   तुम हो दीनदयालु, मैं दुखिया संसारी॥ भूधरदास, जिनस्तुति, ज्ञानपीठ पूंजांजली, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, छठा खण्ड, पहला पद्य, पृ. 522.
7. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, 165 वां पद, पृ. 54.
8. विनय पत्रिका, 144 वां पद, पृ. 213.

है। इसी प्रकार भैया भगवतीदास ने चेतन के दोषों को गिनाकर, उसे भगवान का भजन करने की बात कही है।[1]

इस प्रकार मध्यकालीन हिन्दी जैन सन्तों में प्रपत्ति भावना के सभी अंग उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त श्रवण, कीर्तन, चिंतवन, सेवन, वन्दन, ध्यान, लघुता, समता, एकता, दास्यभाव, सख्यभाव आदि नवधाभक्ति तत्त्व भी मिलते हैं। इन तत्त्वों की एक प्राचीन लम्बी परम्परा है। वेदों, स्मृतियों सूत्रों, आगमों और पिटकों में इनका पर्याप्त विवेचन किया गया है।[2] मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य उनसे निःसन्देह प्रभावित दिखाई देते हैं। इन तत्त्वों में नामस्मरण विशेष उल्लेखनीय है। संसार सागर से पार होने के लिए साधकों ने इसका विशेष आश्रय लिया है। सूफियों का मार्फत और वैष्णवों का आत्म निवेदन दोनों एक ही मार्ग पर चलते है। श्रवण-कीर्तन आदि प्रकार भी सूफियो से शरीयत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि जैसे तत्वों में नामान्तरित हुए हैं। सूफियों, वैष्णवो और जैनों ने आत्मसमर्पण को समान स्तर पर स्वीकारा है, सूफी साधना में इसी को जिक्र और फिक्र संज्ञा से अभिहित किया गया है। जायसी का विचार है कि प्रकट में तो साधक सांसारिक कार्य करता रहे पर मन ही मन आराध्य का ध्यान करते रहना चाहिए—'परगट लोक चार कहु बाता, गुपुत लाउ मन जासों राता।'[3] सूर के अनुसार महान् से महान् पापी भी हरि के नामस्मरण से भवसागर को पार कर लेता है—कौ कौ न तारयो लीला हरि नाक लिये।[4] "हरि-गुण श्रवण से ही शाश्वत सुख मिलता है, जो यह लीला सुने सुनावं सो हरि भक्ति पाइ सुख पावं"।[5] दरिया ने नाम बिना भावकर्म का नष्ट होना असंभव-सा कहा है।[6] तुलसी ने भी नाम स्मरण की श्रेष्ठता दिग्दर्शित की है।[7] बनारसीदास ने जिन सहस्रनाम में और द्यानतराय ने द्यानत पद संग्रहमे इसकी विशेषता का वर्णन किया है।

---

1. भगवंत भजौ सु तजो परमाद, समाधि के सग में रंग रहो।
   अहो चेतन त्याग पराइ सुबुद्धि, गहो निज शुद्धि ज्यों सुक्ख लहो।।
   तुम ज्ञायक हो षट् द्रव्यन के, तिन सौ हित जानि के आप कहो।।
   ब्रह्मविलास, शतक अष्टोत्तरी, 12 पृ. 31.
2. भक्ति काव्य में रहस्यवाद, पृ. 221–226.
3. जायसी ग्रन्थ माला
4. सूरसागर, पद 89
5. सूरसागर
6. सन्तवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 153.
7. तुलसी रामायण, बाल काण्ड, 120.

पादसेवन, वन्दन और अर्चन को भी इन कवियों ने अपने भावों में गूंथा है। कबीर ने सेवा को ही हरिभक्ति मानी है—जो सेवक सेवा करै, ता संगि रे मुरारि[1] सूरसागर का तो प्रथम पद ही चरण कमलों की वन्दना से प्रारम्भ किया गया है।[2] मीरा ने भी भाई म्हों गोविन्द गुन गास्या[3] कहकर 'भज मन चरण कमल अविनाशी' लिखा है।[4] आनन्दघन प्रभु के चरणों में वैसे ही मन लगाना चाहते हैं जैसे गायों का मन सब जगह घूमते हुए भी उनके बछड़ों में लगा रहता है।[5] अन्य कवि रूपचद, छत्रपति, बुधजन आदि ने अपने पदों में इन्हीं भावों को व्यक्त किया है।[6]

इस प्रकार प्रपत्त भावना मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य में समान रूप से प्रवाहित होती रही है। उपालम्भ, पश्चात्ताप, लघुता समता और एकता जैसे तत्व भावभक्ति मे यथावत् उपलब्ध होते हैं। इन कवियों के पदों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दूसरे से किसी सीमा तक प्रभावित रहे हैं।

सहज-योग साधना और समरसता

योग साधना आध्यात्मिक रहस्य की उपलब्धि के लिए एक सापेक्ष अंग है। सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त योगी की मूर्तियां उसकी प्राचीन परम्परा को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त हैं। ऋग्वेद (1 10. 6:) और यजुर्वेद (12. 18) मे योग का विवरण मिलता है। योगसूत्र में योग के आठ अंग बताये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। जैन-बौद्ध धर्म मे भी योग का विवेचन मिलता है।[7] साधारणतः योग का तात्पर्य है—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः अर्थात् मन-वचन काय को एकाग्र करना।[8] उसका विशेष अर्थ है-पिण्डस्थ आत्मा का परमात्मा में अन्तर्भाव।[9] उपर्युक्त अष्टांग योग को व्यवहारतः

---

1. कबीर ग्रंथावली, पृ. 88
2. सूर और उनका साहित्य, पृ. 240.
3. मीरा (काशी) पद 101.
4. डाकोर पद 2.
5. आनन्दघन पद संग्रह, पद 96. पृ. 413.
6. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 33,258,195.
7. बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. 260-301.
8. पातंजल योग शास्त्र, 1-2.
9. हठयोग प्रदीपिका की भूमिका-योगी श्रीनिवास आयंगार, पृ. 6

चार अंगों में विभक्त किया गया है—मन्त्र योग, लययोग, हठयोग और राजयोग।[1] बादमें सुरति योग और सहजयोग की भी स्थापना हुई।

मध्यकालीन हिन्दी जैन-जैनेतर काव्य में भी योगसाधना का चित्रण किया गया है। जायसी ने अष्टांग योग को स्वीकार किया है। यम-नियमों का पालन करना योग है। यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। जायसी को इन पर पूर्ण आस्था थी। 'निठुर होई जिउ बधसि परावा, हत्या केर न तोहि उस आवा[2] तथा 'राजै' कहा सत्य कहु सुआ, बिनु सन जस सेंबर कर भूआ'[3] आदि जैसे उद्धरणों से यह स्पष्ट है। नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को रखा गया है। जायसी ने इन नियमो को भी यथास्थान स्वीकार किया है। जीव तत्व को ब्रह्मतत्व मे मिला देना अथवा आत्मा को परमात्मा से साक्षात्कार करा देना योग का मुख्य उद्देश्य है। इन दोनों तत्वों को साधकों और आचार्यों ने भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। जायसी ने सूर्य और चन्द्र को प्रतीक माना है। कुछ योगियों वे इड़ा-पिंगला को चन्द्र-सूर्य रूप में व्यजित किया है। नाड़ी साधना मे भी जायसी की आस्था रही है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनन्जय ये दस वायुएं नाड़ियों में होकर सूर्य तत्व को ऊर्ध्वमुखी और चन्द्रतत्व को अधोमुखी कर दोनो का मिलन कराती हैं। यही अजपा जाप है। जायसी अजपाजाप से सम्भवतः परिचित नहीं थे पर जप के महत्व को अवश्य जानते थे 'आसन लेइ रहा होइ तपा, पद्मावती जपा'।[3] नाड़ियों में पाच नाड़ियां प्रमुख है जिनका योग साधना मे अधिक महत्व महत्व है- इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, चित्रा और ब्रह्म। कुण्डलिनी साधना के सन्दर्भ मे महामुद्रा, महार्ध निवरीत करणी आदि मुद्राये अधिक उपयोगी है। हठयोगी कुण्डलिनी का उपस्थापन करता हुआ षट्चक्रो (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार) का भेदन करता है। कुछ ग्रन्थों मे ताल, निर्वाण और आकाशचन्द्र को भी जोड़ दिया गया है। जायसी ने 'नवो खण्ड नव पौरी और तहं वज्र किवारं' कहकर इन चक्रों पर विश्वास व्यक्त किया है। उन्होने योगी-योगनियों के स्वरूप पर भी चर्चा की है। जायसी आदि सूफी कवियों ने योग की शुष्कता और जटिलता को तीन प्रकार से अभिव्यक्त किया है। डॉ. त्रिगुणायत ने 'जायसी का पद्मावत' काव्य

---

1. योग उपनिषद्, पृ. 367.
2. जायसी ग्रन्थावली, पृ. 31.
3. वही, पृ. 38.
4. वही, पृ. 101.

ग्रौर दर्शन में जायसी के हठयौगिक रहस्यवाद के तीन रूपों को स्पष्ट किया है—1. भावना या प्रेमभाव के ग्रावरण में ग्रावृत्त[1] 2. प्रकृति के ग्रावरण में ग्रावृत्त[2] 3. जटिल ग्रभिव्यक्ति के ग्रावरण में ग्रावृत्त।[3] कुण्डलिनी के उद्बुद्ध ग्रौर प्राणवायु के स्थिर हो जाने पर साधक शून्यपथ से ग्रनहदनाद को सुनता है। इसके लिए काम, क्रोध, मद ग्रौर लोभ ग्रादि विकारों को दूर करना ग्रावश्यक है।

कबीर ने भी योग साधना की है। उन्होंने "न मैं जोग चित्त लाया, बिन बैराग न छूटसि काया" कहकर योग का मूल्यांकन किया है।[4] कबीर ने हठयोगी साधना भी की। उन्होंने षट्कर्म ग्रासन, मुद्रा, प्राणायाम ग्रौर कुण्डलिनी उत्थापन की भी क्रियाये की। हठयोगी क्रियाग्रों से मन उचट जाने पर कबीर ने मन को केन्द्रित करने के लिए लययोग की साधना प्रारम्भ की जिसे कबीर पंथ में 'शब्द-सुरति-योग' कहा जाता है। सब्द को नित्य ग्रौर व्यापक माना गया है। इसलिए शब्द-ब्रह्म की उपासना की गई है—'ग्रनहद शब्द उठै झनकार, तहं प्रभु बैठे समरथ सार।'[5] इसकी सिद्धि के लिए ज्ञान के महत्व को भी स्पष्ट किया गया है।[6] कबीर ने ध्यान के लिए ग्रजपा जाप ग्रौर नामजप को भी स्वीकार किया है। उन्होंने बहि-र्मुखी वृत्तियों को ग्रन्तर्मुखी कर उलटी चाल से ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न

---

1. सुरुज चांद कै कथा जो कहेऊ। प्रेम कहानी लाइ चित्त बाहेऊ, जायसी ग्रौर उनका पद्मावत, बनिजारा खण्ड-रामचन्द्र शुक्ल
   'चांद के रंग में सूरज रंग गया', वही रत्नसेन भेंट खण्ड।
2. गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी। पनिहारी जैसे दुरपदी॥
   ग्रौर कुंड एक मोती चुरू। पानी ग्रमृत, कीच कपूरू।
3. नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। ग्रौ तहं फिरहिं पांच कोटवारा।
   दसवं दुग्रार गुपुत एक ताका। ग्रागम चढ़ाव, बाट सुठि बांका॥
   भेदै जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद, चढै होई चांटी॥
   गढ़ तर कुंड, सुरंग तेहि माहां। तहं वह पंथ कहौं तोहि पाहीं।
   चोर बैठ जस सेंधि संवारी। जुग्रा पैंत जस लाव जुग्रारी॥

   जस मरजिया समुद्र धंस, हाथ ग्राव तब सीप।
   ढूंढि लेइ जो सरग-दुग्रारी चढै सौ सिंहलद्वीप॥ वही, पार्वती महेश खंड'
4. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 301.
5. वही, पृ. 198.
6. वही, पृ. 277.

किया है—'उलटी चाल मिले पार ब्रह्म कौं, सो सतगुरु हमारा।' इसी माध्यम से उन्होंने सहज साधना की है और उसे कबीर ने तलवार की धार पर चलने के समान कहा है।[2] इसमें षट्चक्रों मुद्राओं आदि की आवश्यकता नहीं होती। वह सहज भाव के साथ की जाती है। राजयोग, उन्मनि अथवा सहजावस्था समानार्थक है। सहजावस्था वह स्थिति है जहां साधक को ब्रह्मात्मैक्य प्राप्त हो जाता है।[3] कबीर ने यम-नियमों की भी चर्चा की है। उनमें बाह्याडम्बरों का तीव्र विरोध किया गया है और मन को माया से विमुक्त रखने का निर्देश दिया गया है। उन्होंने सहज समाधि को ही सर्वोपरि स्वीकार किया है—[4]

सन्तो सहज समाधि भली।
सांई तैं मिलन भयौ जा दिन त, सुरतन अंत चली॥
आंख न मूंदू कान न रूंधू, काया कष्ट न धारूं।
खुले नैन मैं हंस-हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं॥
कहूं सु नाम सुनुं सो सुमरन, जो कुछ करूं सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूं, और मिटाउं, दूजा॥
जहं-जहं जाऊं सोइ परिकरमा, जो कुछ करूं सो सेवा।
जब सोऊं तब करूं दंडवत, पूंजूं और न देवा॥
शब्द निरंतर मनवा राता, मलिन वचन का त्यागी।
कहै कबीर यहु उनमनि रहनी, सो परगट करिगाई।
सुख दुःख के इक परें परम सुख, तेहि में रहा समाई॥[5]

सहजावस्था ऐसी अवस्था है जहां न तो वर्षा है न सागर, न प्रलय, न धूप, न छाया, न उत्पत्ति और न जीवन और मृत्यु है, वहां न तो दुःख का अनुभव होता है

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ 145.
2. सहज-सहज सब कोऊ कहे सहज न चीन्हे कोय।
   जो सहजैं साहब मिलै सहज कहावै सोय।
   सहजैं-सहजैं सब गया सुत चित काम निकाम।
   एक मेक ह्वै मिलि रहा दास कबीरा जान।
   कड़वा लागे नीम सा जामे एचातानि।
   सहज मिले सो दूध-सा मांगा मिले सो पानि।
   कह कबीर वह रकत सम जामें एचातानि। संत साहित्य, पृ. 222-3.
3. ब्रह्म अगिनि में कायां जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
   कहै कबीर सोइ जागेश्वर, सहज सूंनि त्यौ लागै॥ कबीर ग्रन्थावली, पृ. 109.
4. कबीर दर्शन, पृ, 297-347.
5. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—कबीर परिशिष्ट : कबीर वाणी, पृ. 262.

और न सुख को। वहां शून्य की आहुति और समाधि की निद्रा नहीं है। न तो उसे तौला जा सकता है और न छोड़ा जा सकता है। न वह हल्की है, न भारी। उसमें ऊपर नीचे की कोई भावना नहीं है। वहां रात और दिवस की स्थिति भी नहीं है। वहां न जल है, न पवन और न ही अग्नि। वहां सत्गुरु का साम्राज्य है। वह जगह इन्द्रियातीत है। उसकी प्राप्ति गुरु की कृपा से ही हो सकती है—

सहज की श्राप कथा है जिरारी।
तुलि नहीं बैठ जाइ न मुकाती हलकु लगं न माटी।
अरध ऊरध दोऊ नाही राति दिनसु तह नाही।
जलु नही पवनु-पवकु फुनि नाही सतिगुर तहा स साही।
अगम अगोचर रहै निरन्तर गुर किरपा ते लहिये।
कहु कबीर चलि जाऊ गुर अपुने संत संगति मिलि रहीये।[1]

सहज साधना की ओर वस्तुतः ध्यान सहजयान के आचार्यों ने दिया। सहजयान की स्थापना में बौद्ध धर्म का पाखण्डपूर्ण जीवन मूल कारण था। इसके प्रवर्तक सरहपाद माने जाते हैं जिन्होंने नैसर्गिक जीवन व्यतीत करने पर जोर दिया है। उसमे हठयोग का कोई स्थान नही। चित्त ही सभी कर्मों का बीज है उसी को सहज स्वभाव की स्थिति कहा गया है जिसमे चित्त और अचित्त दोनों का शमन हो जाता है। कण्हपा ने इसी को परम तत्त्व भी कहा है।[2] इसमें प्रज्ञा और उपाय अद्वैत अवस्था मे आ जाते हैं। कौलमार्गियों मे इन्ही तत्त्वों को शक्ति और शिव कहा जाता है। नाथों का यही परम तत्त्व, परम ज्ञान, परम स्वभाव और सहज समाधि रूप है।

बौद्धों के सहजयान से प्रभावित होकर एक वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय भी खड़ा हुआ जिसमें श्रीकृष्ण को परम तत्त्व और राधा को उनकी नैसर्गिक आल्हादिनी शक्ति माना गया है। दोनो की रहस्यमयी केलि की सहजानुभूति कर इस सम्प्रदाय के साधक प्रेम-लीलाओं का उपभोग करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पुरुष और स्त्री में एक आध्यात्मिक तत्त्व रहता है जिसे हम क्रमशः स्वरूप और रूप कहते हैं जो श्री कृष्ण और राधा के प्रतीक हैं। साधक को आत्म विस्मृतिपूर्वक इनको प्राप्त करना चाहिए। शुद्ध और सात्विक व्यक्ति को ही इसमें सहजिया मानुष कहा गया है। नाथ सम्प्रदाय का लक्ष्य विविध सिद्धियों को प्राप्त करना रहा है पर सहजिया सम्प्रदाय उसे मात्र चमत्कार प्रदर्शन मानकर गर्हित मानते हैं और सहजानंद के साथ उसका सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते।

---

1. संत कबीर, रामकुमार वर्मा, पृ. 51, पद 48; संत साहित्य, पृ. 304-5
2. दोहाकोष, पृ. 46.

सन्तों ने सहज के स्वरूप को बिल्कुल बदल दिया। 'सन्त कवियों तक आते-आते सहज की मिथुन परक व्याख्या का लोप होने लगता है और युग के स्वाधीन-चेता कबीर सहज को समस्त मतवादों की सीमाओं से परे परम तत्त्व के रूप में मनुष्य की सहज स्वाभाविक अनुभूति मानते है जिसकी प्राप्ति एक सहज सन्तुलित जीवनचर्या द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए साधक को किसी भी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता, वरन् सारी साधना स्वयमेव सम्पन्न होती चलती है—सहजे होय सो होय।'[1] सहज साधक अथक विश्वास और एकान्तनिष्ठा के साथ सहज साधना करता है और 'सबद' को समझकर ही आत्म तत्त्व को प्राप्त करने में ही समर्थ होता है—

> सन्तो देखत जग बौराना।
> सांच कहौं तो मारन धावैं, झूठहिं जग पतियाना।
> नेमि देखा धरमी देखा, प्रात करहिं असनाना।
> आतम मारि पषानहिं पूजहिं उनिमह किछउ न ज्ञाना॥
> हिन्दू कहहिं मोहि राम पियारा, तुरुक कहहिं रहिमाना।
> आपस मे दोउ लरि मुये, मरम न कोई जाना॥
> कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ई सम भरम भुलाना।
> केतिक कहौं कहा नहि मानैं, सहजै सहज समाना॥[2]

नानक ने सहज स्वभाव को स्वीकार कर उसे एक सहज हाट की कल्पना दी है जिसमें मन सहजभाव से स्थिर रहता है।[3] दादू ने यम-नियमों के माध्यम से मन की द्वैतता दूर होने पर सम स्वभाव की प्राप्ति बताई है।[4] यही समरसता है और इसी से पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[5] यम नियमों की साधना अन्य निर्गुणी सन्तों ने भी की है। सुन्दरदास और मलूकदास इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।[6] सूर

---

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 269, मध्यकालीन हिन्दी संत-विचार और साधना, पृ. 531.
2. बीजक, पृष्ठ 116, मध्यकालीन संत-विचार और साधना, पृ. 531.
3. सहज हाटि मन कीआ निवासु। सहज सुभाव मनि कीआ परगासु-प्राण संगली, पृ. 147.
4. सहज रूप मन का भया, जब द्वै द्वै मिटी तरंग।
   ताला सीतल सम भया, तब दादू एकै अंग॥ दादूदयाल की बानी, भाग 1, पृ. 170.
5. वही, भाग–2, पृ. 88.
6. सुन्दरदर्शन–डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, पृ. 29–50.

और तुलसी जैसे सगुण भक्तों में यह परम्परा दिखाई नहीं देती। मीरा के निम्नलिखित उद्धरण से यह अवश्य लगता है कि उन्होंने प्रारंभ में किसी योग साधना का अवलम्बन लिया होगा। प्रेम साधना की ओर लग जाने पर उनको योग से विरक्ति हो जाना स्वाभाविक था—

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मारि गुफा में बैठो ध्यान करी को लगाओ ॥
गल विच सैली हाथ हाजरियों अंग भभूत रमायो।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सौ ही पायो ॥[1]

एक अन्य स्थान पर भी मीरा के ऐसे ही भाव मिलते हैं—'जिन करताल पखावज बाजै अनहद की झनकार रे।[2]

जैन धर्म में योग की एक लम्बी परम्परा है। वहां भी सूफी और सन्तों के समान मन को साधना का केन्द्र स्वीकार किया गया है। पंचेन्द्रियों के निग्रह के साथ ही 'अन्तर विजय' का विशेष महत्व है। उसे ही 'सत्यब्रह्म' का दर्शन माना गया है—'अन्तर विजय सूरता सांची, सत्यब्रह्म दर्शन निरवांची।'[3] ऐसा ही योगी अभयपद प्राप्त करता है—'ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै, सो फेर न भव में आवै।'[4] यही निर्विकल्प अवस्था है जिसे आत्मा की परमोच्च अवस्था कह सकते हैं। यहीं साधक समरस में रंग जाता है—'समरस आवै रंगिया, अप्पा देखई सोई।'[5] द्यानतराय ने उसे कबीर के समान[6] ,गूंगे का गुड़' माना है[7] और दौलतराम ने 'शिवपुर की डगर समरस सौं भरी' कहा है।[8]

आनन्दतिलक पर हठयोग का प्रभाव दिखाई देता है जो अन्य जैनाचार्यों पर नही है। 'अवधू' शब्द का प्रयोग भी उन्होंने अधिक किया है।[9] पीताम्बर ने सहज

---

1. मीरा की प्रेम साधना, पृ. 281.
2. वही, पृ. 204.
3. बनारसीविलास, प्रश्नोत्तरमाला, 12 पृ. 183.
4. दौलत जैन पद संग्रह, 65.
5. आणंदा, 40, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।
6. सैना बैना कहि समुझाओ, गूंगे का गुड़ ॥ कबीर, पृ. 126.
7. द्यानतविलास, कलकत्ता,
8. दौलत जैन पद संग्रह, 73, पृ. 40.
9. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. 358.

समाधिको अगम और अकथ्य कहा है ।[1] द्यानतराय ने 'अनहद' शब्द को भी सुना है ।[2] समरसता मध्यकाल की एक सामान्य विशेषता है अवश्य पर उसे नाथ सम्प्रदाय की देन नहीं कहीं जा सकती । उसे तो समान स्वर से सभी योगियों ने स्वीकारा है । हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि योगी समरसी होकर परमानन्द का अनुभव करता है ।[3] योगीन्दु ने भी इसी ब्रह्मैक्य की बात कही है ।[4] रामसिंह ने इस समरसता के बाद किसी भी पूजा या समाधि की आवश्यकता नहीं बताई है ।[5]

इस प्रकार मध्यकाल में हिन्दी जैन-जैनेतर कवियों ने योग और सहज साधना का अवलम्बन अपने साध्य की प्राप्ति के लिए लिया है । ब्रह्मत्व या निरंजन की अनुभूति के बाद साधक समरसता के रंग में रंग जाता है । रहस्य भावना का यह अन्यतम उद्देश्य है ।

3. भावमूलक रहस्य भावना

1. अनुभव :

आध्यात्मिक साधना किंवा रहस्य की प्राप्ति के लिए स्वानुभूति एक अपरिहार्य तत्त्व है । इसे जैन-जैनेतर साधकों ने समान रूप से स्वीकार किया है । तर्क प्रतिष्ठानात्[6] जैसे वाक्यों से एक तथ्य सामने आता है कि आत्मानुभूति में तर्क और वादविवाद का कोई स्थान नहीं है । 'न चक्षुसा गृह्यते नापि वाचा,'[7] और 'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्त मनसा सह'[8] भी यही मत व्यक्त करते हैं । जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, जैनधर्म में भेदविज्ञान, स्वपर विवेक, तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्म-साक्षात्कार आदि से उत्पन्न होने वाले अनुभव को चिदानन्द चैतन्य रस,

---

1. बनारसीविलास, ज्ञानबावनी, 34 पृ. 84.
2. हिन्दी पद संग्रह, 119.
3. एवं क्रमशोऽभ्यासवशाद् ध्यानं भजेन्निरालम्बम ।
   समरसभावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत् ।। योगशास्त्र, 12. 5; तुलनार्थ देखिये, ज्ञानार्णव, 30–5.
4. मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरउ वि मणस्सु ।
   बे हि वि समरस हूवाहं, पुज्ज चडावउं कस्स ।। परमात्मप्रकाश, 1. 123, पृ. 125.
5. पाहुड़ दोहा, 176, पृ. 54.
6. वेदान्तसूत्र, 1. 1. 1
7. मुण्डकोपनिषद्, 3. 1. 8
8. तैत्तरीयोपनिषद्, 1. 9.

अनिर्वचनीय आनन्द आदि जैसे शब्दों से प्रगट किया गया है। बौद्ध साहित्य में भी इसी प्रकार के साक्षात्कार की अनेक घटनाओं और कथनों का उल्लेख मिलता है।

कबीर ने 'राम रतन पाया रे करम विचारा', नैना बैन अगनेचरी,[1] 'आप पिछानैं आपै आप'[2] जैसे उद्धरणों के माध्यम से अनुभव की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। उन्होंने अद्वैतवाद का सहारा लेकर तत्त्व का अनुभव किया। इस अनुभव में तर्क का कोई उपयोग नहीं। तर्क से अद्वैतवाद की स्थापना भी नहीं होती बल्कि अनेकत्व का सृजन होता है इसलिए कबीर ने आध्यात्मिक क्षेत्र में तर्क को प्रतिष्ठित करने वालों के लिए 'मोही मन वाला' कहा है।[3] और 'खुले नैन पहिचानौ हंसि-हंसि, सुन्दर रूप निहारौ'[4] की प्रेरणा दी है। दादू ने भी इसी प्रकार से 'सो हम देख्या नैन भरि, सुन्दर सहज सरूप' के रूप में अनुभव किया।[5] यह आत्मानुभव वृत्तियों के अन्तर्मुखी होने पर ही हो पाता है।[6] इससे एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है—

आपहि आप विचारिये तब केता होय आनन्द रे।[7]

बनारसीदास ने कबीर और अन्य सन्तों के समान आत्मानुभव को शान्ति और आनन्द का कारण बताया है।[8] अनुभूति की दामिनी शील रूप शीतल समीर के भीतर से दमकती हुई सन्तापदायक भावों को चीरकर प्रगट होती है और सहज शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का सन्मार्ग प्रदर्शित करती है।[9]

कबीर आदि सन्तों ने आत्मानुभव से मोहादि दूर करने की बात उतनी अधिक स्पष्ट नहीं की जितनी हिन्दी जैन कवियों ने की। जैन कवि रूपचन्द का तो विश्वास है कि आत्मानुभव से सारा मोह रूप सघन अन्धेरा नष्ट हो जाता

---

1. कबीर ग्रंथावली, पृ. 241, पृ. 4 साखी, पृ. 5.
2. वही, पृ. 318.
3. कहत कबीर तरक दुइ साधै, ताकी मति है मोही, वही, पृ. 105.
4. शब्दावली, शब्द 30.
5. दादूदयाल की बानी, भाग 1, परचा को अंग, 93, 98, 109.
6. उल्टी चाल मिले परब्रह्म सो सद्गुरु हमारा-कबीर ग्रंथावली, पृ. 145. दिल में दिलदार सही अंखियां उल्टी करिताहि चितैये—सुन्दरविलास, पृ. 156.
   उलटि देखो घर में जोति पसार—सन्तबानी संग्रह, भाग 2, पृ. 188.
7. कबीर ग्रंथावली, पृ. 89.
8. नाटक समयसार, 17.
9. बनारसीविलास, परमार्थ हिन्डोलना, पृ. 5.

है। अनेकान्त की चिर नूतन किरणों का स्वच्छ प्रकाश फैल जाता है, सत्तारूप अनुपम अद्भुत ज्ञेयाकार विकसित हो जाता है, आनन्द कन्द अमन्द अमूर्त आत्मा में मन बस जाता है तथा उस सुख के सामने अन्य सुख वासे-से प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए वे अनादिकालीन अविद्या को सर्वप्रथम दूर करना चाहते हैं ताकि चेतना का अनुभव घट-घट में अभिव्यक्त हो सके।[1] द्यानतराय ने भी आत्मानुभव को अर्द्ध तावस्था की प्राप्ति और भवबाधा दूर करने का उत्तम साधन माना है। स्व-पर विवेक तथा समता रस की प्राप्ति इसी से होती है।[2] बनारसीदास आदि कवियों ने भेदविज्ञान की बात कही है पर सन्तों ने उसे आत्मसाक्षात्कार की भाषा दी है—'प्राण परीचैं प्राण'[3] आपहुं आपहि जाने'।[4] भेदविज्ञान होने पर ही वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं—'वस्तु विचारत ध्यावतें मन पावै विश्राम'[5]। दादू ने इसी को 'ब्रह्मदृष्टि परिचय भया तब दादू बैठा राखि'[6] कहा और सुन्दरदास ने 'साक्षात्कार याही साधन करने होई, सुन्दर कहत द्वैत बुद्धि कू निवारिये' माना है।[7] इससे स्पष्ट है कि भवमूलक रहस्यभावना में साधक की स्वानुभूति को सभी आध्यात्मिक सन्तों ने स्वीकार किया है।

भावमूलक रहस्यभावना का सम्बन्ध ऐसी साधना से है जिसका मूल उद्देश्य आध्यात्मिक चिरन्तन सत्य और तज्जन्य अनुभूति को प्राप्त करना रहा है। इसकी प्राप्ति के लिए साधक यम-नियमों का तो पालन करता ही है पर उसका प्रमुख साधन प्रेम या उपासना रहता है। उसी के माध्यम से वह परम पुरुष, प्रियतम, परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करता है और उससे भावात्मक ऐक्यानुभुति की क्षमता पैदा करता है। इस साधना में साधक के लिए गुरु का विशेष सहारा मिलता है जो उसकी प्रसुप्त प्रेम भावना को जाग्रत करता है। प्रेम अथवा रहस्य भावना जाग्रत हो जाने पर साधक दाम्पत्यमूलक विरह से संतप्त हो उठता है और फिर उसकी प्राप्ति के लिए वह विविध प्रकार की सहज योगसाधनाओं का अवलम्बन लेता है।

---

1. देखिये, इसी प्रबन्ध का चतुर्थ परिवर्त, पृ. 81–86
2. अध्यात्म पदावली, पृ॰ 359.
3. दादूवानी, भाग 1. पृ. 63
4. सुन्दर विलास, पृ. 159.
5. नाटक समयसार, 17.
6. दादूवानी, भाग 1, पृ. 87.
7. सुन्दर विलास, पृ. 101

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की रहस्य-भावना हम विशेष रूप से सूफी, कबीर और मीरा की साधना में पाते हैं।

2. सूफी रहस्य भावना :

भारतीय सूफी कवियों ने सूफीमत में प्रचलित प्रायः सभी सिद्धान्तों को अन्तर्भुक्त किया है और उन पर भारतीय परम्पराओं का आवरण डाला है। उसकी परमसत्ता अलख, अरूप एवं अगोचर है, फिर भी वहा समस्त जगत के कण-कण में व्याप्त है— अलख रूप अकबर सो कर्ता। वह सबसों, सब ओहिसों भर्ता।" वह सृष्टि का कारक, धारक और हारक है।[1] वह महान् शक्तिशाली, करुणाशील और सौन्दर्यशील है। कर्तव्य और करुणा उसके आधार स्तम्भ हैं जिस प्रकार सरोवर में पड़ा प्रतिबिम्ब समीपस्थ होते हुए भी अग्राह्य है उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा का भी पाना सरल नहीं है।[2] उस परमात्मा के मूर्त और अमूर्त दोनों स्वरूपों का वर्णन सूफी कवियों ने किया है। आत्मा-परमात्मा की अद्वैत स्थिति को भी उन्होंने स्वीकार किया है। जो भी अन्तर है वह पारमार्थिक नहीं, व्यावहारिक है। उसका व्यावहारिक स्वरूप मायागर्भित होता है।

सूफी साधना में साधक की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलता है—

(1) शरीअत अर्थात् आचार या कर्मकाण्ड का पालन

(2) तरीकत अर्थात् बाह्य क्रियाकाण्ड को छोड़कर आन्तरिक शुद्धि पूर्वक परमात्मा का ध्यान करना।

(3) हकीकत अर्थात् परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होना, और

(4) मार्फत् अर्थात् सम्यक् साधना द्वारा आत्मा को परमात्मा में विलीन होने की क्षमता प्राप्त होना।

साधक इन चारों अवस्थाओं को पार करने में परमात्मा के गुणों का चिन्तन (जिक्र) करता है, राग, अहंकार आदि मानसिक वृत्तियों को दूर करता है (फिक्र) अपने धर्म ग्रंथ (कुरान-शरीफ) का अभ्यास (तिलवत) करता है और तदनुसार नाम-स्मरण, व्रत, उपवास, दानादिक क्रियायें करता है।

सूफी सन्तों ने आध्यात्मिक सत्ता को प्रियतम के रूप में देखा है और उसके दर्शन की तड़फन में अपने को डुबोया है। इसी में वे समरस हुए हैं।

---

1. अखरावट-जायसी, पृ. 305, चित्रावली-उसमान, पृ. 2. भाषा प्रेम रस-शेख रहीम,
2. पद्मावत-जायसी, पृ. 257-8 इन्द्रावती-नूरमुहम्मद, पृ. 54

'सूफियों का प्रेम 'प्रच्छन्न' के प्रति है। सूफी अपनी प्रेम व्यंजना साधारण नायक-नायिका के रूप में करते है। प्रसंग सामान्य प्रेम का ही रहता है किन्तु उसका संकेत 'परम प्रेम' का होता है। बीच में आने वाले रहस्यात्मक स्थल इस सारे संसार में उसी की स्थिति को सूचित करते हैं साथ ही सारी सृष्टि को उस एक से मिलने के लिए चित्रित करते हैं। लौकिक एवं अलौकिक प्रेम दोनों साथ-साथ चलते हैं। प्रस्तुत में अप्रस्तुत की योजना होती है। वैष्णव भक्तों की भांति इनकी प्रेम व्यंजना के पात्र अलौकिक नही होते। लौकिक पात्रों के मध्य लौकिक प्रेम की व्यंजना करते हुए भी अलौकिक की स्थापना करने का दुरूह प्रयास इन सूफी प्रबन्ध काव्यों में सफल हुआ है।'[1]

प्रेम के विविध रूप मिलते है। एक प्रेम तो वह है जिसका प्रस्फुटन विवाह के बाद होता है। दूसरा प्रेम वह है जिसमे पेमियो का आधार एवं आदर्श दोनों ही विरह हैं। तीसरे प्रेम मे नारी की अपेक्षा नर मे विरहाकुलता दिखाई देती है और चौथे प्रेम में प्रेम का स्फुरण चित्रदर्शन, साक्षात् दर्शन आदि से होता है। 'प्रेम के इस अन्तिम स्वरूप, जिसका आरम्भ गुण श्रवण, चित्रदर्शन, साक्षात् दर्शन आदि से होता है, का परिचय सूफी प्रेमाख्यानों में मिलता है। लगभग सभी नायक नायिका का, जो परमात्मा का स्वरूप है, रूप गुण वर्णन सुनकर अथवा स्वप्न मे या साक्षात् देखकर उसके विरह में व्याकुल हो घरबार त्यागकर योगी बन जाते हैं। गुणश्रवण के द्वारा प्रेम भावना जाग्रत होने वाली कथाओं के अन्तर्गत 'पद्-मावत' 'हंसजाहर', 'अनुरागवांसुरी', 'पुहुपावती' आदि कथायें आती हैं। 'छीता' प्रेमाख्यान में गुणश्रवण से आकर्षण एवं पश्चात् साक्षात् दर्शन से प्रेम जाग्रत होता है। चित्रदर्शन से प्रेमोद्भूत होने वाली कथाओं मे चित्रित होने वाली कथाओं में 'चित्रावली' 'रतनावली' आदि कथायें आती हैं,। स्वप्न दर्शन के द्वारा प्रेम जाग्रत होने वाली कथायें अधिक हैं। 'कनकावती', 'कामलता' 'इन्द्रावती', 'यूसुफ जुलेखा', 'प्रेमदर्पण' आदि प्रेमाख्यान इसके अन्तर्गत आते हैं। साक्षात् दर्शन द्वारा जागृति का वर्णन मधुमालत, मधकरमालति एवं भाषा प्रेमरस आदि में मिलता है।'[2]

सूफी कवियो में जायसी विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने अन्योक्ति और समासोक्ति के माध्यम से प्रस्तुत वस्तु से अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत कर आध्यात्मिक

---

1. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य-डॉ. सरल शुक्ल, लखनऊ, सं. 2013, पृ. 111.
2. वही, पृ. 113.

तथ्यों की ओर संकेत किया है । सूर्यचन्द्र साधना के प्रकाश में डॉ. त्रिगुणायत ने पद्मावत की कथा की अन्योक्तियों को इस प्रकार समझाया है[1]—

(1) सिंहल दीप—सहस्रार कमल
(2) मानसरोदक—ब्रह्मरन्ध्र
(3) तोता—गुरु
(4) रतनसेन—योगी साधक
(5) नागमति—माया
(6) पद्मावती—शुद्ध ज्योति स्वरूपी जीवात्मा जिसमें शिव शक्ति प्रतिष्ठित रहती है ।
(7) सात समुद्र—षट्चक्र और सतवां सहस्रार
(8) मंडप—ब्रह्मरन्ध्र मे जीवात्मा परमात्मा का मिलन

यहां रतनसेन एक साधक की आत्मा को व्यंजित करने वाला तत्व है जिसमें स्वयं की अनन्त शक्ति भरी हुई है । वह मन का प्रतीक है जो नागमति रूपिणी माया में आसक्त है । तोता रूप गुरु के मिल जाने पर उसकी ज्ञान बुद्धि जाग्रत हो जाती है और वह पद्मावत रूपी शुद्ध-बुद्ध शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । साध्य के दर्शन में साधक के लिए भूख-प्यास की भी बाधा प्रतीत नहीं होती । उसका दर्शन दीपक के समान है जहां वह पंतग के समान भिखारी बन जाता है ।[2] प्रियतम का दर्शन मात्र ही साधक का अज्ञान दूर करने में पर्याप्त होता है । तोते रूपी गुरु के मुख से पद्मावती रूपी साध्य पुरुष का रूप वर्णन सुनकर रतनसेन रूपी साधक मूछित हो गया । वह उसके प्रेम से तड़पने लगा । संसार के माया जाल में फंसे रहने के कारण साधक साध्य का दर्शन नहीं कर पाता और यही उसके विरह का कारण होता है । अन्ततोगत्वा रतनसेन (साधक) 'दुनिया का धन्धा' रूपिणी नागमती को छोडकर पद्मावती रूपी परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । फिर भी उसका मन पूर्णत: परिष्कृत न होने से पतित हो जाता है और भव-सागर में डूबता उतराता रहता है । साधक को जब इस तथ्य का अनुभव होता है तब वह पश्चात्ताप करता है कि मैंने तो 'मोर-मोर' कहकर अहंकार और माया सब कुछ गंवा दिया । पर परमात्मा (पद्मावती) का साक्षात्कार नहीं हुआ । वह

---

1. जायसी का पद्मावत, काव्य और दर्शन, पृ. 107.
2. जेहि के हिये प्रेम रंग जाया । का तेहि भूख नींद विसराया ।। जायसी ग्रंथ माला, पृ. 58.

परमात्मा रूप पद्मावती कहां है ?[1] यह विरह ही रहस्यवादी साधक का प्राण है। वही उसकी जिजीविषा है। इस विरह को जायसी ने 'प्रेम-घाव' के रूप में चित्रित किया।[2] वह सारे शरीर को कांटा बना देता है। साधक साध्य की विरहाग्नि में जलता रहता है पर दूसरे को जलने नहीं देता। प्रेम की चिनगारी से आकाश और पृथ्वी, दोनों भयभीत हो जाते हैं।[3]

पद्मावती के दिव्य सौन्दर्य का वर्णन भक्त कवि ने किया है। मान-सरोवर ने पद्मावती को पाकर कैसा हर्ष व्यक्त किया यह पद्मावत में देखा जा सकता है।[4] उसके दिव्य रूप को जायसी ने 'देवता हाथ-हाथ पगु लेही। जहं पगु धरै सीस तहं देही' के रूप में चित्रित किया है।[5] उनका परमात्मा प्रेम भी अनुपम है। आकाश जैसा असीम है, ध्रुवनक्षत्र से भी ऊंचा है। उसका दर्शन वही कर सकता है जो शिर के बल पर वहां तक पहुंचना चाहता है।[6] परमात्मा की यह प्राप्ति सदाचार के पालन, अहं के विनाश, हृदय की शुद्धता एवं स्वयंकृत पापों का प्रति-क्रमण (तोबा) करने से होती है।[7]

इस आध्यात्मिक विरह से प्रताडित होकर रतनसेन पद्मावती से मिलन करने के लिए प्रयत्न करता है। उसकी साधना द्विमुखी होती है— अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी साधना में साधक अपने हृदयस्थ प्रियतम की खोज करता है और बहि-र्मुखी साधना में वह उसे सारे विश्व में खोजता है। अन्तर्मुखी रहस्यवाद शुद्ध भावमूलक और योगमूलक दोनों प्रकार का होता है। बहिर्मुखी रहस्यवाद में प्रकृति-मूलक, अभिव्यक्तिमूलक आदि भेद आते हैं। इस प्रकार जायसी का भावमूलक रहस्यवाद अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी उभय प्रकार का है [8]

---

1. कहं रानी पद्मावती, जीउ बसै जेहि पांह।
   मोर-मोर के खाएऊं, भूलि गरब अवगाह ॥ वही, पृ. 179
2. प्रेम-घाव दुख जान न कोई, वही, पृ. 74.
3. वही, गु. 88.
4. वही, पृ. 25.
5. वही, पृ. 48.
6. प्रेम अदिष्ट गगन तें ऊंचा,
   ध्रुव तें ऊंच प्रेम ध्रुव ऊआ। सिर देइ सो पांव देइ सो छूआ। वही, पृ. 50.
7. सूफीमतः साधना और साहित्य–पृ. 231–258
8. जायसी का पद्मावत : काव्य और दर्शन, पृ. 269–277.

जायसी अन्तर्मुखी प्रक्रिया के विशेष धनी है। उन्होंने सिंहल गढ़ को हृदय की प्रतीक बनाकर उसमें परमात्मा का निवास बताया है। माया आदि जैसे तत्वों के कारण प्रियतम के उसे दर्शन ही नहीं हो पाते। रतनसेन दर्शन के लिए इतना तड़प उठता है कि सात पाताल खोजकर और सात स्वर्गों में दौड़कर पद्मावती को खोजने की बात करता है।[1] साधक घनघोर तप और साधना करता है। तब कहीं प्रियतम के देश में पहुंच पाता है। जायसी ने उस देश का वर्णन किया है। जहां न दिन होता है न रात, न पवन है न पानी।[2] उस देश में पहुंचकर प्रियतम से भेंट की आतुरता बढ़ जाती है। पर वह अपरिचित है और फिर इधर दुष्टों का घेरा है जिसे किसी तरह से साधक साध्य का साक्षात्कार करता है और उसके बाद आध्यात्मिक विवाह की अवस्था होती है जिसका महत्व रहस्यवाद में बहुत अधिक है। रतनसेन और पद्मावती का विवाह ऐसे ही विवाह का प्रतीक माना गया है। इस विवाह का वर्णन यद्यपि भौतिक जैसा लगता है पर वह वस्तुतः है आध्यात्मिक ही है। वर-वधु की गांठ इतनी दृढ़ता से जुड़ जाती है कि वह आगे के भवों में भी नहीं छूट पाती। मंगालाचार होते हैं मन्त्र—पाठ पढ़ा जाता है और चांद-सूर्य का मिलन होता है।[3]

आध्यात्मिक विवाह के उपरान्त साधक साध्य के प्रति पूरी तरह से आत्म-समर्पण कर देता है। दोनो तन्मय हो जाते हैं। साधक-साध्य का मिलन भी आध्यात्मिक मिलन है जिसे मानसरोवर खण्ड में चित्रित किया गया है। मिलन होते ही रतनसेन पद्मावती के चरण स्पर्श करता है। चरण स्पर्श करते ही वह ब्रह्म रूप हो जाता है।[4] यही अवस्था रहस्यानुभूति की चरम अवस्था है। जायसी ने इसका वर्णन बड़ी सूक्ष्मता से किया है। रतनसेन अपने आप को पद्मावती के लिए सौंप देता है। उसका शरीर मात्र उसके साथ है। जीव पद्मावती में मिल गया। इसलिए दुःख-सुख जो भी होगा, वह शरीर को नहीं, जीव को होगा, रतनसेन के जीव को नहीं। पद्मावती ने रतनसेन को आश्वासन दिया कि जीवित रहेंगे तो साथ रहेंगे और मरेंगे तो साथ रहेंगे।[5] यह तादात्म्य अवस्था का बहुत सुन्दर चित्रण है।

---

1. जायसी ग्रन्थावली, पृ. 63.
2. वही, रतनसेन पद्मावती विवाह
3. वही, ,, ,, विवाह खण्ड, पृ. 126.
4. वही, मानसरोवर खण्ड, पृ. 252
5. वही, गन्धर्वसेन-मन्त्री खण्ड पृ. 112.

तादात्म्य होने पर साधक को आराध्य के अतिरिक्त और कोई नहीं दिखाई देता। रतनसेन को पद्मावती के अतिरिक्त सुन्दरी अप्सरा आदि का रूप नहीं दिखाई दिया। उसी के स्मरण में उसे परमानन्द की अनुभूति होती है।[1] धीरे-धीरे अद्वैत स्थिति आती है और दोनों एक दूसरे में ऐसे रम जाते हैं कि उन्हें सारा विश्व प्रकाशित दिखाई देने लगता है। वे ससीमता से हटकर असीमता में पहुंच जाते हैं, रतनसेन और पद्मावती इस प्रकार से एक हुए जैसे दो वस्तुएँ औंट कर एक हो जाती हैं।

सूफी कवियों में मिलन की पांच अवस्थाओं का वर्णन मिलता है—फना, फक्द, सुक्र, वज्द और शहू। फना में साधक साध्य के व्यक्तित्व के साथ बिलकुल घुल-मिल जाता है। वह अपने अहं के अस्तित्व को भूल जाता है।[3] फक्द अवस्था में वह उसके नाम और रूप में रम जाता है।[4] सुक्र अवस्था में साधक साध्य के रूप का पानकर उन्मत्त हो जाता है, आनन्द विभोर हो जाता है।[5] वज्द अवस्था में साधक को परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है और शहू में उसे पूर्ण शान्ति मिल जाती है।[6] जायसी में पांचों अवस्थायें उपलब्ध होती हैं।

जायसी ने परमतत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए प्रकृति को भी एक साधन बनाया है। सृष्टि का मूल तत्व अद्वैत था। अविद्या आदि कारणो से उसमें द्वैत तत्त्व आया जो भ्रान्ति मूलक था। भ्रान्ति के दूर होते ही साधक स्वयं में और साध्य में तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस सन्दर्भ मे रहस्यवादी कवि का प्रकृति वर्णन शुद्ध भौतिक न होकर काल्पनिक, दिव्य और रहस्यवादी होता है। कभी-कभी अपनी प्रणय भावना को भी वह प्रकृति के माध्यम से व्यंजित करता है।

रहस्यवाद की अभिव्यक्ति विविध प्रकार की संकेतात्मक, प्रतीकात्मक, व्यंजनापरक एवं आलंकारिक शैलियों में की जाती है। इन शैलियों में अन्योक्ति शैली, समासोक्तिशैली, संवृत्ति वक्रतामूलक शैली, रूपक शैली, प्रतीकशैली विशेष महत्वपूर्ण है। इन शैलियों मे जायसी ने अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। इसे उनका आध्यात्मिक रहस्यवाद कह सकते हैं।[7]

---

1. वही, पार्वती महेश खण्ड, पृ. 91.
2. वही, गन्धर्वसेन-मंत्री खण्ड. पृ. 104.
3. वही, रतनसेन–सूलीखण्ड, पृ. 111.
4. वही, बसन्तखण्ड, पृ. 84.
5. वही, रतनसेन खण्ड, पृ. 143.
6. जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन, पृ. 286–288.
7. जायसी का पद्मावत : काव्य और दर्शन, पृ. 305–308.

सूफी काव्यों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने प्रेम और रूप का अबाध सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि वे रूप को खुदा की प्रतिच्छवि मानते हैं।[1] जीवात्मा के परमात्मा के प्रति प्रेम को उन्होंने कई प्रतीकों द्वारा व्यंजित किया है जिनमें कमल और सूर्य, चन्द्रमा और चकोर, दीपक एवं पतंग, चुम्बक और लोहा, गुलाब और भ्रमर, राग और हिरण प्रमुख हैं। इन प्रतीकों से कवि स्पष्ट ही साधक और साध्य के बीच के व्यवधान की ओर संकेत करता है अवश्य पर उनमें विद्यमान आनन्द, एकनिष्ठता और त्याग सराहनीय है।[2] हर सूफी साधक जगत को एक दर्पण मानता है जिसमें ब्रह्म अथवा ईश्वर प्रतिबिम्बित होता है। मानसरोवर रूपी दर्पण में पद्मावती रूपी विराट ब्रह्म के रूप से सारा संसार अवभासित होता है। अद्वैतवाद को स्पष्ट करने का यह सरलतम मार्ग सूफी साधकों ने खोज निकाला। परमात्मा रूप प्रियतम के विरह ने इसमें संवेदनशीलता की गहरी अनुभूति जोड़ दी जिसे साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में हम एक विशेष योगदान कह सकते हैं।

3. निर्गुण भक्तों की रहस्य भावना :

मध्यकालीन हिन्दी सन्तों ने भी सूफी सन्तों के समान अपनी रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त किया है। उनकी रहस्यभावना को सूफी, वैदिक, जैन और बौद्ध रहस्य-भावनाओं का संमिश्रित रूप कहा जा सकता है। माया आदि के आवरण से दूर प्रेम की प्रकर्षता यहां सर्वत्र देखी जा सकती है। माया के कारण ब्रह्ममिलन न होने पर विरह की वह दशा जाग्रत होती है जो साधक को परम सत्य की खोज में लगाये रखती है।

सन्तों का ब्रह्म (राम) निर्गुण और निराकार है—निर्गुण राम जपहु रे भाई।[3] वह अनुपम और अरूपी है।[4] उसके वियोग मे कबीर की आत्मा तड़पती हुई इधर-उधर भटकती है। पर उसका प्रियतम तो निर्गुण है। 'अबला के पिऊ-

---

1. हंस जवाहिर, कासिमशाह, पृ. 151.
2. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य, पृ. 223.
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 49.
4. जाके मुंह माथा नहीं नाहीं रूप अरूप।
   पुहुप वास से पातरा ऐसा तत्त्व अनूप॥ वही, पृ. 64, तुलनार्थ देखिये—
   सो निर्गुन कथि कहै सनाथा, जाके हाथ पांव नहिं माथा। दरियासागर, पृ. 26.

पिउ' वाले आर्तस्वर से भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।[1] पिया मिलन की आस लेकर आखिर वह कब तक खड़ी रहे—'पिया मिलन की आस, रहौं कब लौं खरी ।' पिया के प्रेम रस में कबीर ने अपने आपको भुला दिया । एक म्यान में दो तलवारें भला कैसे रह सकती हैं ? उन्होंने प्रेम का प्याला खूब पिया । फलतः उनके रोम-रोम में वही प्रेम बस गया । कबीर ने गुरु-रस का भी पान किया है, छाछ भी नहीं बची । वह संसार-सागर से पार हो गया है । पके घड़े को कुम्हार के चाक पर पुनः चढ़ाने की क्या आवश्यकता ?

पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान ।
एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान ।
कबिरा प्याला प्रेम का, अंतर लिया लगाय ।
रोम-रोम मे रमि रहा और अमल क्या खाय ।
कबिरा हम गुरु रस पिया बाकी रही न छाक ।
पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढसि चाक ।[2]

सन्तों ने वात्सल्य भाव से भगवान को कभी माता रूप में माना तो कभी पिता रूप में ।[3] परन्तु माधुर्य भाव के उदाहरण सर्वोपरि हैं । उन्होंने स्वयं को प्रियतम और भगवान् को प्रियतम की कल्पना कर भक्ति के सरस प्रवाह में मन-चाहा अवगाहन किया है—हरि मेरा पीउ मैं हरि की बहुरिया ।[4] दादू, सहजोबाई, चरनदास आदि सन्तों ने भी इसी कल्पना का सहारा लिया है । उनके प्रियतम ने प्रिया के लिए एक विचित्र चूनरी संवार दी है जिसे बिरला ही पा सकता है । वह आठ प्रहर रूपी आठ हाथो की बनी है और पंचतत्त्व रूपी रंगों से रंगी है । सूर्य-चन्द्र उसके आंचल में लगे हैं जिनसे सारा संसार प्रकाशित होता है । इस चूनरी की विशेषता यह है कि इसे किसी ने ताने-बाने पर नहीं बुना । यह तो उसे प्रियतम ने भेंट की है—

चुनरिया हमरी पिया ने संवारी, कोई पहिरै पिया की प्यारी ।
आठ हाथ की बनी चुनरिया, पंचरंग पटिया पारी ।।

---

1. मैं अबला पिउ-पिउ करूं निर्गुन मेरा पीव ।
शून्य सनेही राम बिन, देखूं और न जीव ।। सन्त कबीर की साखी-बेंकटेश्वर, पृ. 26.
2. कबीर वचनावली–अयोध्यासिंह उपाध्याय, पृ. 104.
3. हरिजननी मैं बालक तोरा—कबीर ग्रन्थावली, पृ. 123; हम बालक तुम माय हमारी पलपल मांहि करो रखवारी—सहजोबाई, सन्त सुधासार, पृ. 196.
4. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 125.

चांद सुरज जामें आंचल लागे, जगमग जोति उजारी ।
बिनु तानें यह बनी चुनरिया, दास कबीर बलिहारी ।।[1]

कबीर के प्रियतम की छवि विश्व व्यापिनी है। स्वयं कबीर भी उसमें तन्मय होकर 'लाल' हो जाते हैं।[2] उसके विरह से विरहिणी क्रौंच पक्षी के समान रात भर रोती रहती है वियोग से सन्तप्त होकर वह पथिकों से पूछती है—प्रियतम का एक शब्द भी सुनने कहां मिलेगा ? उसकी व्यथा हिचकारियों के माध्यम से फूट पड़ती है—

आइ न सकों तुझ पै, सकूं न तुझ बुलाइ ।
जियरा यों ही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ।।
अंषड़िया झाई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि ।
जीभड़िया छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि ।।
इन तन के दीवा करूं, बाती मेल्यूं जीव ।
लोही सींचो तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ।।[3]

निम्न पंक्तियों में प्रियतम के विरह का और भी संवेदन दृष्टव्य है—

चकवी बिछुरी रैणिकी, आइ मिली परमाति ।
जे जन बिछुरे राम से, ते दिन मिले न राति ।।
बासरि सुख न रैंण सुख, नां सुख सुपनैं मांहि ।
कबीर विछुट्या रामसूं, ना सुख धूप न छांह ।।
बिरहिन ऊभी पंथसिरि, पंथी बूझै धाइ ।
एक सबद कहि पीवका, कबरै मिलैंगे आइ ।।[4]

आत्मसमर्पण के लिए कवियों ने आध्यात्मिक विवाह का सृजन किया है। पत्नी की तन्मयता पति में बिना विवाह के पूरी नहीं हो पाती। पीहर में रहते हुए भी उसका मन पति में लगा रहता है। पति से भेंट न होने पर भी पत्नी को उसमें सुख का अनुभव होता है। करुण क्रन्दन में ही उसके प्रिय का वास है। प्रिय का मिलन हंसी मार्ग से नहीं मिलता। उसके लिए तो अश्रु प्रवाह ही एक सरल मार्ग है-

अंखड़ियां झांई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि ।
जीभड़ियां छाला पड्या राम पुकारि पुकारि ।।22।।

---

1. कबीर—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 187.
2. लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल ।
   लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।। कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह, पृ. 6.
3. मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, पृ. 216.
4. कबीर—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 191.

नैना नीझर लाइया, रहट बसैं निस-जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबस मिलहुगे राम ।।24।।
अंखड़ि प्रेम कसाइयां, लोग जाणै दुःखड़ियां ।
साईं अपणै कारणै, रोई रोई रत्तड़ियां ।।25।।
हंसि हंसि कन्त न पाइये, जिनि पाया तिन रोइ ।
जो हंसि हंसि ही हरि मिलै, तो न दुहागिनि कोइ ।।[1]

प्रियतम रूप परमात्मा का प्रेम वैसा ही होता है जैसा कि मीन को नीर से, शिशु को क्षीर से, पीड़ित को औषधि से, चातक को स्वाति से, चकोर को चन्द से, सर्प को चन्दन से, निर्धन को धन से, और कामिनी को कन्त से होता है ।[2] प्रेम से व्यथित होकर प्रेमी अन्दर और बाहर सर्वत्र प्रिय का ही दर्शन करता है—

कबीर रेख सिन्दूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैनूं रमइया रमि रहया, दूजा कहां समाई ।।
नैना अन्तरि भाव तूं ज्यूं हौं नैन झंपेउ ।
नां हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउं ।।[3]

प्रियतम के ध्यान से कबीर की द्विविधा का भेद खुल जाता है और मन मैल धुल जाता है—दुबिधा के भेद खोल बहुरिया मनके घोवाइ ।' उनकी चूनरी को भी साहब ने रंग दिया । उसमें पहले स्याही का रंग लगा था । उसे छुटाकर मजीठा का रंग लगा दिया जो धोने से छूटता नहीं बल्कि स्वच्छ-सा दिखता है । उस चूनरी को पहनकर कबीर की प्रिया समरस हो जाती है—

---

1. कबीर ग्रंथावली, पृ. 9; कबीर–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 193.
2. नीर बिनु मीन दुखी क्षीर बिनु शिशु जैसे ।
   पीर जाके औषधि बिनु कैसे रह्यो जात हैं ।
   चातक ज्यों स्वाति बूंद चन्द को चकोर जैसे
   चन्दन की चाह करि सर्प अकुलात है ।।
   निर्धन ज्यों धन चाहै कामिनी को कन्त चाहै
   ऐसी जाके चाह ताको कछु न सुहात है ।
   प्रेम को प्रभाव ऐसौ प्रेम तहां नेम कैसौ
   सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है ।। सन्त सुधासागर, पृ. 5 9
3. कबीर ग्रन्थावली, 4, 2; मध्यकालीन हिन्दी सन्त-विचार और साधना, पृ. 217.

साहेब है रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ायके रे दियो मजीठा रंग।
धोय से छूटे नहीं रे दिन-दिन होत सुरंग।
भाव के कुंड नेह के जल में प्रेम रंग देइ बोर।
दुख देह मैल लुटाय दे रे खूब रंगी झकझोर॥
साहिब ने चुनरी रंगी रे पीतम चतुर सुजान।
सब कुछ उन पर बार दूं, रे तन मन धन और प्रान॥
कहें कबीर रंगरेज प्यारे मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे भइ हैं मगन निहाल॥[1]

प्रियतम से प्रेम स्थापित करने के लिए संसार से वैराग्य लेने की आवश्यकता होती है।[2] संसार से विरक्त होकर प्रिया प्रियतम में अपने को रमा लेती है।[3] और उसके विरह में मन के विकारों को जला देती है।[4] मिलन होने पर वह प्रिय के साथ होरी खेलना चाहती थी पर प्रिय बिछुड़ ही गया।[5] मिलन अथवा विवाह रचाने का उद्देश्य परमपद की प्राप्ति थी।[6] कबीर ने इस आध्यात्मिक विवाह का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

दुलहिन गावो मंगलाचार, हम घरि आये हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करि हूं पंच तत्त्व बराती।
रामदेव मोहि ब्याहन आये मैं जोबन मदमाती॥
सरीर सरोवर बेदी करि हूं ब्रह्मा बेद उचारै।
रामदेव संग भंवरि लेहूं धनि-धनि भाग हमारे॥
सुर तेतिस कोटिक आये मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले पुरुष एक अविनासी॥[7]

---

1. कबीर-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 352–3
2. पिय के रंग राती रहै जग सूं होय उदास। चरन दास की बानी।
   प्रीति की रीति नहिं कछु राखत जाति न पांति नहीं कुल गारो।
   सुन्दरदास, सन्त सुधासार, खण्ड 1, पृ. 633.
3. पिय को खोजन में चली आपहु गई हिराय। पलटू, वही, पृ. 435.
4. विरह अगिन में जल गए मन के मैल विकार। दादूवानी, भाग 1, पृ. 43.
5. हमारी उमरिया खेलन की, पिय मोसों मिलि के बिछुरि गयो हो।
   धर्मदास, सन्तबानी संग्रह, भाग 2, पृ. 37.
6. गुलाब सहाब की बानी. पृ. 22.
7. कबीर ग्रंथावली, पृ. 90.

अविनाशी पुरुष से विवाह करने के बाद कबीर का पीतम बहुत दिनों में घर आता है—"बहुत दिनन में प्रीतम आए।" कवि की प्रिया उसे प्रभात मानती है।[1] बाद में तादात्म्य की सही अनुभूति मधुर मिलन और सुहागरात में होती है। वहीं कबीर की प्रिया अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करती है—

अविगत अकल अनूपम देखा, कहता कही न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जानि मिठाई।।

इसी अवस्था में साधक और साध्य जल में जल के समान मिलकर अद्वैत हो जाते हैं—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत कह्यो गियानी।।

अद्वैत स्थिति में प्रिया और प्रियतम के बीच यह भावना प्रस्थापित हो जाती है—हरि मरि हैं तो हमहु मरि हैं।
हरि न मरें तो हम काहे को मरें।।

इस प्रकार निर्गुणिया सन्त आध्यात्मिकता, अद्वैत और पवित्रता की सीमा में घिरे रहते है। उनकी साधना में विचार और प्रेम का सुन्दर समन्वय हुआ है तथा ब्रह्मजिज्ञासा से वह अनुप्राणित है। अण्डरहिल के अनुसार रहस्यवादियों का निर्गुण उपास्य प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य सजीव और वैयक्तिक होता है। ये विशेषतायें सन्तों के रहस्यवादी प्रियतम में संनिविष्ट मिलती हैं। प्रेम, गुरु, विरह, रामरस ये रहस्यवाद के प्रमुख तत्व हैं। अण्डरहिल के अनुसार प्रेम मूलक रहस्यवाद की पांच अवस्थायें होती हैं—जागरण, परिष्करण, अशानुभूति, विघ्न और मिलन। सन्तों के रहस्यवाद में ये सभी अवस्थायें उपलब्ध होती हैं। उनकी रहस्यभावना की प्रमुख विशेषतायें हैं—सर्वव्यापकता, सम्पूर्ण सत्य की अनुभूति प्रवृत्यात्मकता, कथनी-करनी में एकता, कर्म-भक्ति-प्रेम-ज्ञान में समन्वयवादिता, अद्वैतानुभूति और जन्मान्तरवादिता।[2]

4. सगुण भक्तों की रहस्यभावना :

सगुण साधकों में मीरा, सूर और तुलसी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मीरा का प्रेम नारी सुलभ समर्पण की कोमल भावना गर्भित 'माधुर्य भाव' का है

---

1. आज परभात मिले हरि लाल। दादूबानी
2. हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ. 580–604.

जिसमें अपने इष्टदेव की प्रियतम के रूप में उपासना की जाती है। उनका कोई सम्प्रदाय विशेष नहीं, वे तो मात्र भक्ति की साकार भावना की प्रतीक हैं जिसमें चिरन्तन प्रियतम के पाने के लिए मधुर प्रणय का मार्मिक स्पन्दन हुआ है। 'म्हारो तो गिरधर गोपाल और दूसरा न कोई' अथवा 'गिरधर से नवल ठाकुर मीरां सी दासी' जैसे उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने गिरधर कृष्ण को ही अपना परम साध्य और प्रियतम स्वीकार किया है। सूर, नन्ददास आदि के समान उन्हें किसी राधा की आवश्यकता नहीं हुई। वे स्वयं राधा बनकर आत्मसमर्पण करती हुई दिखाई देती हैं। इसलिए मीरा की प्रेमा भक्ति परा भक्ति है जहां सारी इच्छायें मात्र प्रियतम गिरधर में केन्द्रित हैं। सख्य भाव को छोड़कर नवधा भक्ति के सभी अंग भी उनके काव्य में मिलते हैं। एकादश आसक्तियों में से कान्तासक्ति, रूपासक्ति और तन्मयासक्ति विशेष दृष्टव्य है। प्रपत्ति भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है। उनकी आत्मा दीपक की उस लौ के समान है जो अनन्त प्रकाश में मिलने के लिए जल रही है।

सूफी कवियों ने परमात्मा की उपासना प्रियतमा के रूप में की है उनके अद्वैत में निजी सत्ता को परमसत्ता में मिला देने की भावना गर्भित है। कबीर ने परमात्मा की उपासना प्रियतम के रूप में की पर उसमें वह भाव व्यंजना नहीं दिखाई देती जो मीरा के स्वर में निहित है। मीरा के रग-रग मे पिया का प्रेम भरा हुआ है जबकि कबीर समाज सुधार की ओर अधिक अग्रसर हुए हैं।

मीरा की भावुकता चीरहरण और रास की लीलाओं में देखी जा सकती है जहां वे 'आज अनारी ले गयी सारी, बैठी कदम की डारी, म्हारे गैल पड्यो गिरधारी' कहती हैं। प्रियतम का मिलन हो जाने पर मीरा के मन की ताप मिट जाती है और सारा शरीर रोमांचित हो उठता है—

> म्हारी ओलगिया घर आया जी॥
> तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी।
> घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूं आणन्द आया जी।
> मगन भई मिली प्रभु अपणासूं, भो का दरद मिटाया जी॥
> चन्द को देखि कमोदणि फूलै हरिख भया मेरी काया जी।
> रग-रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी।
> सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु में पाया जी।
> मीरा बिरहणि सीतल होई, दुख दुन्द नसाया जी।

मीरा की तन्मयता और एकीकरण के दर्शन 'लगी मोहि राम खुमारी हो' में मिलते हैं जहां वह 'सदा लीन आनन्द में' रहकर मधुरस का पान करती है।

उनका ज्ञान और अज्ञान, आनन्द और विषाद 'एक' में ही लीन हो जाता है। इसी के लिए तो उन्होंने पचरंगी चोला पहिनकर झिरमिट में आंख मिचौनी खेली है और मनमोहन से सोने में सुहाग-सी प्रीति लगायी है। बड़े भाग से मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मीरा पर रीझे हैं।

इसी माधुर्य भाव में मीरा की चुनरिया प्रेमरस की बूंदों से भींगती रही और आरती सजाकर सुहागिन प्रिय को खोजने निकल पड़ी।[1] उसे वर्षात् और बिजली भी नहीं रोक सकी। प्रिय को खोजने में उसकी नींद भी हराम हो गई, अंग-अंग व्याकुल हो गये पर प्रिय की वाणी की स्मृति से 'अन्तर-वेदन बिरह की वह पीड़ा न जानी' गई। जैसे चातक घन के बिना और मछली पानी के बिना व्याकुल रहती है वैसे ही मीरा 'व्याकुल विरहणी सुध बुध बिसरानी' बन गई। उसकी पिया सूनी सेज भयावन लगने लगी, विरह से जलने लगी। यह निर्गुण की सेज ऊंची अटारी पर लगी है, उसमें लाल किवाड़ लगे हैं, पंचरंगी झालर लगी है, मांग में सिन्दूर भरकर सुमिरण का थाल हाथ में लेकर प्रिया प्रियतम के मिलन की बाट जोह रही है—

ऊंची अटरिया, लाल किवड़िया, निर्गुन सेज बिछी।
पंचरंगी झालर सुभ सोहै फूलत फूल कली॥
बाजूबन्द कडूला सो हैं मांग सेंदूर भरी।
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा सोभा अधिक भरी॥
सेज सुखमणां मीरा सोवै सुभ है आज घड़ी॥[2]

जिनका प्रियतम परदेश में रहता है उन्हें पत्रादि के माध्यम की आवश्यकता होती। पर मीरा का प्रिय तो उनके अन्तःकरण में ही बसता है, उसे पत्रादि लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहती। सूर्य, चन्द्र आदि सब कुछ बिनाशीक है यदि कुछ अविनाशी है तो वह है प्रिय परमात्मा। सुरति और निरति के दीपक में मन की बाती और प्रेम-हटी के तेल से उत्पन्न होने वाली ज्योति अक्षुण्ण रहेगी—

जिनका पिया परदेश बसत है लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हीयवत है ना कहूं आती जाती॥
चन्दा जायगा सूरज जायगा जायगा धरणि अकासी।
पवन पानी दोनों हूं जायगे अटल रहै अविनाशी॥

---

1. भीजैं चुनरिया प्रेमरस बूंदन।
आरत साजकी चली है सुहागिन पिय अपने को ढूढ़न॥
मीरा की प्रेम साधना, पृ. 218.
2. मीरा की प्रेम साधना, पृ. 222.

सुरत निरत का दिवला संजीले मनसा की कर ले बाती।
प्रेम हटी का तेल मंगाले जग रह्या दिन ते राती।
सतगुरु मिलिया संसा भाग्या सेन बताई सांची ॥
ना घर तेरा ना घर मेरा गावै मीरा दासी ॥[1]

डॉ० प्रभात ने मीरा की रहस्य भावना के सन्दर्भ में डॉ० शर्मा और डॉ. द्विवेदी के कथनों का उल्लेख करते हुए अपना निष्कर्ष दिया है। निर्गुण भक्त बिना बाती, बिना तेल के दीप के प्रकाश में पारब्रह्म के जिस खेल की चर्चा करता है, यह मूलतः सगुण भक्तों की 'हरिलीला' से विशेष भिन्न नहीं है। डॉ. मुंशीराम शर्मा ने वेद, पुराण, तन्त्र और आधुनिक विज्ञान के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है कि 'हरिलीला आत्मशक्ति की विभिन्न क्रीड़ाओं का चित्रण है।[2] राधा, कृष्ण, गोपी आदि सब अन्तःशक्तियों के प्रतीक हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अध्ययन का निष्कर्ष है कि 'रहस्यवादी कविता का केन्द्रबिन्दु वह वस्तु है जिसे भक्ति साहित्य मे 'लीला' कहते है। यद्यपि रहस्यवादी भक्तों की भांति पद-पद पर भगवान का नाम लेकर भाव-विह्वल नहीं हो जाता परन्तु वह मूलतः है भक्त ही। ये भगवान अगम अगोचर तो है ही, वाणी और मन के भी अतीत हैं, फिर भी रहस्यवादी कवि उनको प्रतिदिन प्रतिक्षण देखता रहता है— संसार में जो कुछ घट रहा है और घटना सम्भव है, वह सब उस प्रेममय की लीला है— भगवान के साथ यह निरन्तर चलनेवाली प्रेम केलि ही रहस्यवादी कविता का केन्द्र बिन्दु है।[3] अतः मीरा की प्रेम-भावना में 'लीला' के इस निर्गुणत्व-निराकारत्व तक और कदाचित् उससे परे भी प्रसारित सरस रूप का स्फुटन होना अस्वाभाविक नहीं है। आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करने वाले की दृष्टि से यह यथार्थ है, सत्य है। पश्चिम के विद्वानों के अनुकरण पर इसे 'मिस्टिसिज्म' या रहस्यवाद कहना अनुचित है। यह केवम रहस (आनन्दमयी लीला) है और मीरा की भक्ति-भावना मे इसी 'रहस' का स्वर है।[4]

सूर और तुलसी, दोनों सगुणोपासक हैं पर अन्तर यह है कि सूर की भक्ति सख्यभाव की है और तुलसी की भक्ति दास्यभाव की है। इसी तरह मीरा की भक्ति भी सूर और तुलसी, दोनों से पृथक् है। मीरा ने कान्ताभाव को अपनाया है। इन सभी कवियों की अपेक्षा रहस्यभावना की जो व्यापकता और अनुभूतिपरका जायसी

---

1. मीरा पदावली, पृ. 20.
2. भारतीय साधना और सूरदास, पृ. 208.
3. साहित्य का साथी, पृ. 64.
4. मीरांबाई, पृ. 405,

में है वह अन्यत्र नहीं मिलती। कबीर को निर्गुण अथवा सगुण के घेरे में नहीं रखा जा सकता। उन्होंने यद्यपि निर्गुणोपासना अधिक की है पर सगुणोपासना की ओर भी उनकी दृष्टि गई है। उनका उद्देश्य परिपूर्ण ज्योतिरूप सत्पुरुष को प्राप्त करना रहा है।[1]

सूर की मधुर भक्ति के सम्बन्ध में डॉ. हरवंशलाल शर्मा के विचार दृष्टव्य हैं—"हम भक्त सूरदास की अन्तरात्मा का अन्तर्भाव राधा में देखते हैं। उन्होंने स्त्रीभाव को तो प्रधानता दी है परन्तु परकीया की अपेक्षा स्वकीया भाव को अधिक प्रश्रय दिया है और उसी भाव से कृष्ण के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध स्थापित किया है। कृष्ण के प्रति गोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है, इसलिए उनकी प्रीति को कामरूपा माना है। सूर की भक्ति का उद्देश्य भक्त को संसार के ऐन्द्रिय प्रलोभनों से बचाना है, यही कारण है कि उनकी भक्ति-भावना स्त्री-भाव से ओतप्रोत है, जिसका प्रतिनिधित्व गोपियां करती हैं।" वे कृष्ण में इतनी तल्लीन हैं कि उनकी कामरूपा प्रीति भी निष्काम है। इसलिए संयोग-वियोग दोनों ही अवस्थाओं में गोपियों का प्रेम एक-रूप है। आत्म समर्पण और अनन्य-भाव मधुरभक्ति के लिए आवश्यक है जो सूरसागर की दानलीला चीर हरण और रासलीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं।[2]

सगुणोपासना में रहस्यात्मक तत्वों की अभिव्यक्ति इष्ट के साकार होने के कारण उतनी स्पष्ट नहीं हो पाती। कहीं कहीं रहस्यात्मक अनुभूति के दर्शन अवश्य मिल जाते हैं। सूर ने प्रेम की व्यंजना के लिए प्रतीक रूप में प्रकृति का वर्णन रहस्यात्मक ढंग से किया है जो उल्लेखनीय है—

> चलि सखि तिहिं सरोवर जोहि।
> जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि बिना बिकसाहिं ॥
> हंस उज्ज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं।
> मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि चुनि खाहि ॥[3]

---

1. वेद कहे सरगुन के आगे निरगुण का बिसराम।
   सरगुन-निरगुन तनहु सोहागिन, देख सबहि निजधाम ॥
   सुख-दुख वहां कछु नहिं व्यापै, दरसन आठो जाम।
   नूरे ओढ़न नूरे डासन, नूरेका सिरहान।
   कहै कबीर सुनो भई साधो, सतगुरु नूर तमाम ॥
   कबीर-डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 27[illegible].
2. सूर और उनका साहित्य, पृ. 245.
3. सूरसागर, 339.

सूर की अन्योक्तियों में कहीं-कहीं रहस्यात्मक अनुभूति के दर्शन होते हैं—

चकई री चल चरन सरोवर, जहां न मिलन बिछोह ।

एक अन्यत्र स्थान पर भी सूर ने सूरसागर की भूमिका में अपने इष्टदेव के साकार होते हुए उसका निराकार ब्रह्म जैसा वर्णन किया है—

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यौं गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ।
परम स्वाद सबहीं सु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।।
मन बानी को अगम अगोचर जो जानै सो पावै ।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन धावै ।
सब विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुन पद पावै ।।[1]

सूर के गोपाल पूर्ण ब्रह्म है । मूल रूप में वे निर्गुण हैं पर सूर ने उन्हें सगुण के रूप में ही प्रस्तुत किया यद्यपि है सगुण और निर्गुण, दोनों का आभास मिल जाता है ।

तुलसी भी सुगणोपासक हैं पर सूर के समान उन्होंने भी निर्गुण रूप को महत्व दिया है । इनको भी केशव का रूप अकथनीय लगता है—

केशव ! कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र हरि ! समुझि मनहिं मन रहिये ।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे ।।
रविकर-नीर बसे अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदन-हीन सो ग्रसे चराचर, पान करन जे जाहीं ।।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ माने ।
तुलसिदास परिहरे तीन भ्रम, सौ आपन पहिचानै ।।[2]

तुलसी जैसे सगुणोपासक भक्त भी अपने आराध्य को किसी निर्गुणोपासक रहस्यवादी साधक से कम रहस्यमय नहीं बतलाते । रामचरितमानस में उन्होंने लिखा है—

"आदि अंत कोउ जासु न पावा । मति अनुमानि निगम जस गावा ।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ विधि नाना ।।"

इस प्रकार सगुणोपासक कवियों में मीरा को छोड़कर प्रायः अन्य कवियों में रहस्यात्मक तत्वों की उतनी गहरी अनुभूति नहीं दिखाई देती । इसका कारण

---

1. वही, स्कन्ध 1, पद 2.
2. विनयपत्रिका, 111 वां पद

स्पष्ट है कि दाम्पत्यभाव में प्रेम की जो प्रकर्षता देखी जा सकती है वह दास्य भाव अथवा सख्य भाव में सम्भव कहां। इसके बावजूद उनमें किसी न किसी तरह साध्य की प्राप्ति में उनकी भक्ति सक्षम हुई है और उन्होंने परम ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का अनुभव किया है।

5. सूफी और जैन रहस्यभावना

मध्याकालीन सूफी हिन्दी जैन साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि सूफी कवियों ने भारतीय साहित्य और दर्शन से जो कुछ ग्रहण किया है उसमें जैन दर्शन की भी पर्याप्त मात्रा रही है। जायसी ब्रह्म को सर्वव्यापक, शाश्वत, अलख और अरूपी [1] मानते हैं। जैनदर्शन में भी आत्मा को अरस, अरूपी और चेतना गुण से युक्त मानते हैं।[2] सूफियों ने मूलतः आत्मा के दो भेद किये हैं—नफस और रूह। नफस संसार में भटकनेवाला आत्मा है और रूह विवेक सम्पन्न है।[3] जैन दर्शन मे भी आत्मा के दो स्वरूपों का चित्रण किया गया है—पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक दृष्टि मे आत्मा शाश्वत है और व्यावहारिक दृष्टि से वह ससार में भटकता रहता है। सूफी दर्शन में रूह को विवेक सम्पन्न माना गया है। जैनों ने आत्मा का गुण अनन्तज्ञान-दर्शन रूप माना है। सूफी दर्शन में रूह (उच्चतर) के तीन भेद माने गये हैं-कल्ब (दिल), रूह (जान), सिर्र (अन्तःकरण)। जैनों ने भी आत्मा के तीन भेद माने हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा सूफियों के आत्मा का सिर्र रूप जैनों का अन्तरात्मा कहा जा सकता है। यही से परमात्मा पद की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। ससार की सृष्टि का हर कोना सूफी दर्शन के अनुसार ब्रह्म का ही अंश है।[4] पर जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि की सरचना में परमात्मा का कोई हाथ नहीं रहता। जैन दर्शन का आत्मा ही विशुद्ध होकर परमात्मा बनता है अर्थात् उसकी आत्मा मे ही परमात्मा का वास रहता है पर अज्ञान के आवरण के कारण वह प्रकट नहीं हो पाता। जायसी ने भी गुरु रूपी परमात्मा को अपने हृदय मे पाया है।[5] जायसी का ब्रह्म सारे संसार में व्याप्त है और उसी के रूप से सारा संसार ज्योतिर्मान है।[6] जैनो का आत्मा भी सर्वव्यापक

---

1. जायसी ग्रन्थावली, पृ. 3.
2. समयसार, 49; नाटक समयसार, उत्थानिका, 36–47.
3. हिय के जोति दीप वह सूझा—जायसी ग्रन्थावली, पृ. 51.
4. जायसी ग्रंथावली, पृ. 156.
5. गुरु मोरे मोरे हिय दिये तुरंगम ठाट, वही, पृ. 105.
6. नयन जो देखा कंवलभा, निरमल नीर सरीर।
   हंसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥ वही, पृ. 25.

है और उसके विशुद्ध स्वरूप में संसार का हर पदार्थ दर्पणवत् प्रतिभाषित होता है ।[1]

जायसी ने ब्रह्म के साथ अद्वैतावस्था पाने में माया (अलाउद्दीन) और शैतान (राघवदूत) को बाधक तत्व माने हैं ।[2] वासनात्मक आसक्ति ही माया है । शैतान प्रेम-साधना की परीक्षा लेने वाला तत्व है । पद्मावत में नागमती को दुनियां धंधा, अलाउद्दीन को माया एवं राघव चेतन को शैतान के रूप में इसीलिए चित्रित किया गया है । जायसी ने लिखा है—मैंने जब तक आत्मा स्वरूपी गुरु को नहीं पहिचाना, तब तक करोड़ों पर्दे बीच में थे, किन्तु ज्ञानोदय हो जाने पर माया के सब आवरण नष्ट हो गये, आत्मा और जीवगत भेद नष्ट हो गया । जीव जब अपने आत्मभाव को पहिचान लेता है तो फिर यह अनुभव हो जाता है कि तन, मन, जीवन सब कुछ वही एक आत्मदेव है । लोग अहंकार के वशीभूत होकर द्वैत भाव में फंसे रहते हैं, किन्तु ज्यों ही अहंकार नष्ट हो जाता है ।[3] अद्वैत स्थिति आ जाती है । माया की अपरिमित शक्ति है । उसने रतनसेन जैसे सिद्ध साधक को पदच्युत कर दिया । अलाउद्दीन रूपी माया सदैव स्त्रियों मे आसक्त रहती है । छल-कपट भी उसकी अन्यतम विशेषता है । दशवें द्वार में स्थित आत्मतत्व को अन्तर्मुखी दृष्टि से ही देखा जा सकता है पर माया इस आत्मदर्शन में बाधा डालती है । माया को इसीलिए ठग, बटमार आदि जैसी उपमायें भी दी गई हैं । संसार मिथ्या-माया का प्रतीक है । यह सब असार है ।

जैन दर्शन में माया-मोह अथवा कर्म को साध्य प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक कारण माना गया है । इसमें आसक्त व्यक्ति ऐन्द्रिक सुख को ही यथार्थ सुख मानता है । यहां माया शैतान जैसे पृथक् दो तत्व नहीं माने गये । सारा संसार माया और मिथ्यात्व जन्य ही है । मिथ्यात्व के कारण ही इस क्षणिक ससार को जीव अपना मानता है । जायसी ने जिसे अन्तरपट अथवा अन्तरदर्शन कहा है, जैन धर्म उसे आत्मज्ञान अथवा भेदविज्ञान कहता है ।[4] जब तक भेदविज्ञान नहीं होता तब तक मिथ्यात्व, माया, कर्म अथवा अहंकार आदि दूर नहीं होते । जायसी के समान यहां जीव और आत्मा दो पृथक् तत्व नही हैं । जीव ही आत्मा है । उसे माया रूपी

---

1. प्रवचनसार, प्रथम अधिकार, बनारसी विलास, ज्ञानबावनी, 4.
2. जायसी ग्रन्थमाला, पृ. 301.
3. जब लगि गुरु हौं अहा न चीन्हा । कोटि अन्तरपट बीचहिं दीन्हा ॥
   जब चीन्हा तब और न कोई । तन मन जिउ जीवन सब सोई ॥
   'हौं हौं' करत धोख इतराहीं । जब भी सिद्ध कहां परछाहीं ॥
   वही, पृ. 105, जायसी का पद्मावत काव्य और दर्शन, पृ. 219-26.
4. नाटक समयसार, जीवद्वार, 23.

ठगिनी जब ठग लेती है तो वह संसार में जन्म-मरण के चक्कर लगाती रहती है। वासना को यहां भी संसार का प्रमुख कारण माना गया है। मिथ्यात्व को दुःखदायी और आत्मज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है।[2]

जैन योगसाधना के समान सूफी योग साधना भी है। अष्टांगयोग और यम-नियम लगभग समान हैं। जायसी का योग प्रेम से सम्बलित है पर जैन योग नहीं। जायसी ने राजयोग माना है, हठयोग नहीं। जैन भी हठयोग को मुक्ति का साधन नहीं मानते। सूफियों में जीवनमुक्ति और जीवनोत्तर मुक्ति दोनों मुक्तियों का वर्णन मिलता है। जीवन मुक्ति दिलाने वाली वह भावना है जो फना और बका को एक कर देती है। फना में जीव की सारी सांसारिक आकांक्षायें, मोह, मिथ्यात्व आदि नष्ट हो जाते है। जैनधर्म मे इसी अवस्था को वीतराग अवस्था कहा गया है। इसी को अर्हंतावस्था भी कह सकते हैं जहां आत्मा अपनी परमोच्च अवस्था मे लीन हो जाती है। यही निर्वाण है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के परिपालन से प्राप्त होता है।[3] जायसी ने भी जैनो के समान तोता रूप सद्गुरु को महत्व दिया है। यही पद्मावती रूपी साध्य का दर्शन करता है।

जायसी ने विरह को प्रेम से भी अधिक महत्व दिया है। इसीलिए जायसी का विरह वर्णन साहित्य और दर्शन के क्षेत्र मे एक अनुपम योगदान है। उत्तरकालीन जैन भक्त साधक भी इस विरह की ज्वाला में जले हैं। बनारसीदास और आनन्दघन को इस दृष्टि से नही भुलाया जा सकता। जायसी के समान ही हिन्दी जैन कवियों ने भी आध्यात्मिक विवाह और मिलन रचाये हैं। जायसी ने परमात्मा को पति रूप माना है पर वह है स्त्री-पद्मावती। यद्यपि जैन साधको—भक्तों ने परमात्मा को पति रूप मे स्वीकार किया है पर उसका रूप स्त्री नहीं, पुरुष रहा है। बनारसीदास का नाम दाम्पत्यमूलक जैन साधको मे अग्रणीय है।

जायसी और हिन्दी जैन कवियों की वर्णन शैली में अवश्य अन्तर है। जायसी ने भारतीय लोककथा का आधार लेकर एक सरस रूपक खड़ा किया है और उसी के माध्यम से सूफी दर्शन को स्पष्ट किया है। परन्तु जैन साहित्य के कवियों ने लोक कथाओं का आश्रय भले ही लिया हो पर उनमें वह रहस्यानुभूति नहीं जो जायसी मे दिखाई देती है। जैनों ने अपने तीर्थंकर नेमिनाथ के विवाह का खूब वर्णन किया और उनके विरह में राजुल रूप साधक की आत्मा को तड़फाया भी है

---

1. प्रवचनसार, 64; बनारसीविलास, ज्ञानबावनी, 16-30.
2. उत्तराध्ययन, 20:37; हिन्दी पद संग्रह, पृ. 36.
3. पंचास्तिकाय, 162; नाटक समयसार, संवरद्वार, 6, पृ. 125.

परन्तु मिलन के माध्यम से अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति के प्रस्फुटन को भूल गये, जिसे जायसी ने अपनी जादू भरी कमल से प्राप्त कराया है, वहां पद्मावती रूपी परमात्मा भी रत्नसेन रूपी प्रियतम साधक के विरह से आकुल-व्याकुल हुई है। जैनों का परमात्मा साधक के लिए इतना तड़फता हुआ दिखाई नहीं देता वह तड़फे भी क्यों? वह तो बेचारा वीतरागी है। रागी आत्मा भले ही तड़पती रहे।

इस प्रकार सूफी और जैन रहस्यभावना के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि सूफी कवि जैन साधना से बहुत कुछ प्रभावित रहे हैं। उन्होंने अपनी साहित्यिक सक्षमता से इस प्रभाव को भलीभांति अन्तर्मूत किया है। उनकी कथायें जहां एक तरफ लौकिक दिखाई देती हैं वहां रूपक के माध्यम से वही पारलौकिक दिखती हैं जबकि जैन कवि प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी इस शैली को नहीं अपना सके। उनका विशेष उद्देश्य आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निरूपण करना रहा। जायसी का आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पृथक्-पृथक् तत्व हैं जो अन्तर्मुखी वृत्तियों के माध्यम से अद्वैत अवस्था मे पहुंचते है जब कि जैनों का परमात्मा आत्मा की ही विशुद्धतम स्थिति है। वहां दो पृथक्-पृथक् तत्व नहीं इसलिए मिलन या ब्रह्मसाक्षात्कार की समान तीव्रता होते हुए भी दिशा मे अलग-अलग रहीं।

6. निर्गुण रहस्यभावना और जैन रहस्यभावना

निर्गुण का तात्पर्य है—पूर्णवीतराग अवस्था। कबीर आदि निर्गुणी सन्तों का ब्रह्म इसी प्रकार का निर्गुण और निराकार माना जाता है। कबीर ने निर्गुण के साथ ही सगुण ब्रह्म का भी वर्णन किया है।[1] इसका अर्थ यह है कि कबीर का ब्रह्म निराकार और साकार, द्वैत और अद्वैत तथा भावरूप और अभावरूप है। जैसे जैनों के अनेकान्त में दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ सकते हैं, वैसे कबीर के ब्रह्म में भी हैं। कबीर पर जाने-अनजाने एक ऐसी परम्परा का जबरदस्त प्रभाव पड़ा था, जो अपने में पूर्ण थी और स्पष्टत: कबीरदास की सत्यान्वेषक बुद्धि ने उसे स्वीकार किया। उन्होंने अनुभूति के माध्यम से उसे पहिचाना।[2] जैन परम्परा में भी आत्मा के दो रूप मिलते हैं—निकल और सकल।[3] इसे ही हम क्रमश: निर्गुण और सगुण कह सकते हैं। रामसिंह ने निर्गुण को ही नि:संग कहा है।[4] उसे ही

---

1. सन्तो, धोखा कासूं कहिये
   गुण में निरगुण निरगुण में गुण
   बाँट छाडि क्यूं कहिये ?—कबीर ग्रंथावली, पद 180.
2. जैन शोध और समीक्षा-पृ. 62.
3. परमात्मप्रकाश, 1-25.
4. पाहुडदोहा, 100.

निरंजन भी कहा जाता है।[1] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि पंचपरमेष्ठियों में अर्हन्त और सिद्ध क्रमशः सगुण और निर्गुण ब्रह्म हैं जिसे कबीर ने स्वीकार किया है। बनारसीदास ने इसी निर्गुण को शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी और शिव संज्ञाओं से अभिहित किया है।[2]

कबीर की माया, भ्रम, मिथ्याज्ञान, क्रोध, लोभ, मोह, वासना, आसक्ति आदि मनोविकार मन के परिधान हैं जिन्होंने त्रिलोक को अपने वश में किया है।[3] यह माया ब्रह्म की लीला की शक्ति है।[4] इसी के कारण मनुष्य दिग्भ्रमित होता है। इसलिए इसे ठगौरी, ठगिनी, छलनी. नागनि आदि कहा गया है।[5] कबीर ने व्यावहारिक दृष्टि से माया के तीन भेद माने हैं— मोटी माया, झीनी माया और विद्यारूपिणी। मोटी माया को कर्म कहा गया है। इसके अन्तर्गत धन, सम्पदा, कनक कामिनी आदि आते हैं। पूजा-पाठ आदि बाह्याडम्बर में उलझना भी ऐसे कर्म हैं जिनसे व्यक्ति परमपद की प्राप्ति नहीं कर पाता। झीनी माया के अन्तर्गत आशा, तृष्णा, मान आदि मनोविकार आते हैं। विद्यारूपिणी माया के माध्यम से सन्त साध्य तक पहुंचने का प्रयत्न करते है। यह आत्मा का व्यावहारिक स्वरूप है।

जैनो का मिथ्यात्व अथवा कर्म कबीर की माया के सिद्धान्त के समानार्थक है। कबीर के समान जैन कवियों ने भी माया को ठगिनी कहा है। कबीर की मोटी माया जैनों का कर्म है जिसके कारण जीव में मोहासक्ति बनी रहती है। जैसा हम देख चुके हैं, जैन कवि भी कबीर के समान बाह्याडम्बर के पक्ष में बिलकुल नहीं हैं। वे तो आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए विशुद्ध साधन को ही अपनाने की बात करते है। विद्यारूपिणी माया का सम्बन्ध मुनियों के चारित्र से जोड़ा जा सकता है। कबीर और जैनों की माया में मूलभूत अन्तर यही है कि कबीर माया को ब्रह्म की लीला शक्ति मानते हैं पर जैन उसे एक मनोविकारजन्य कर्म का भेद स्वीकार करते हैं।

माया अथवा मनोविकारों से मुक्त होना ही मुक्ति को प्राप्त करना है। उसके बिना संसार-सागर से पार नहीं हुआ जा सकता।[6] इसलिए 'आपा पर सब

---

1. परमात्म प्रकाश, 1-19.
2. बनारसीविलास, शिवपच्चीसी, 1-25.
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 166.
4. वही, पृ. 151.
5. वही, पृ. 116.
6. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 145.

एक समान, तब हम पाया पद निरवाण' कहकर कबीर ने मुक्ति-मार्ग को निर्दिष्ट किया है। जैन कवियों ने इसे ही भेदविज्ञान कहा है और वही मोक्ष का कारण माना गया है।[1] कबीर और जैन, दोनों संसार को दुःखमय, क्षणिक और अनित्य मानते हैं। नरभव दुर्लभता को भी दोनों ने स्वीकार किया है। दोनों ने ही दुविधा भाव को अन्तकर मुक्तावस्था प्राप्त करने की बात कही है। कबीर की जीवन्मुक्त और विदेह अवस्था जैनों की केवली और सिद्ध अवस्था कही जा सकती है।

स्वानुभूति को जैनों के समान निर्गुणी सन्तों ने भी महत्व दिया है। कबीर ने ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत् माना है और कहा है कि ब्रह्म स्वयं ज्ञान रूप है, सर्वत्र व्यापक है और प्रकाशित है—'अविगत अपरपार ब्रह्म, ग्यान रूप सब ठाम।[3] जैनों का आत्मा भी चेतन गुण रूप है और ज्ञान-दर्शन शक्ति से समन्वित है। इसी ज्ञान शक्ति से मिथ्याज्ञान का विनाश होता है। कबीर की 'ग्यानदृष्टि' जैनों का भेद विज्ञान अथवा आत्मज्ञान है। बनारसीदास, द्यानतराय आदि हिन्दी जैन कवियों ने सहजभाव को भी कबीर के समान अपने ढंग से लिया है। अष्टांग योगों का भी लगभग समान वर्णन हुआ है। शुष्क हठयोग को जैनो ने अवश्य स्वीकार नहीं किया है।

कबीर के समान जैन कवि भी समरसी हुए हैं और प्रेम के खूब प्याले पिये हैं। तभी तो उनका दुविधा भाव जा सका। कबीर ने लिखा है—

पाणी ही तें हिम भया, हिम है गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कहया न जाई।।[4]

बनारसीदास ने भी ऐसा ही कहा है—

पिय मोरे घट मे पिय मांहि, जलतरंग ज्यों दुविधा नाहिं।।[5]

इस समरसता को प्राप्त करने के लिए कबीर ने अपने को 'राम की बहुरिया' मानकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। पिया के प्रेमरस में भी कबीर ने खूब नहाया है। बनारसीदास और आनन्दघन ने भी इसी प्रकार दाम्पत्यमूलक प्रेम को अपनाया है। कबीर के समान ही छीहल भी अपने प्रियतम के विरह से पीड़ित है। आनन्दघन की आत्मा तो कबीर से भी अधिक प्रियतम के वियोग में तड़पती दिखाई देती है।[6] कबीर की चुनरिया को उसके प्रितम ने संवारा[7] और भगवतीदास ने अपनी चुनरिया को इष्टदेव के रंग में रंगा।[8] कबीर और बनारसीदास, दोनों का प्रेम अहेतुक है। दोनों की पत्निया अपने प्रियतम के वियोग में जल के बिना

1. नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृ. 210
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 241
3. वही, पृ. 100.
4. कबीर गुंथावली, परचा को अंग, 17.
5. बनारसी विलास, अध्यात्मगीत, 16.
6. कबीर–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 187.
7. चूनड़ी, हस्तलिखित प्रति, अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ. 94.
8. आनन्दघन बहोत्तरी, 32–41

मछली के समान तड़फी हैं। आध्यात्मिक विवाह रचाकर भी वियोग की सर्जना हुई है। ब्रह्म मिलन के लिए निर्गुणी सन्तों और जैन कवियों ने खूब रंगरेलियां भी खेली हैं।

इस प्रकार निर्गुणियां सन्तों और मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों ने थोड़ी बहुत असमानताओं के साथ-साथ समान रूप से गुरु की प्रेरणा पाकर ब्रह्म का साक्षात्कार किया है। इसके लिए उन्होंने भक्ति अथवा प्रपत्ति की सारी विधाओं का आश्रय लिया है। जैन साधकों ने अपने इष्ट देव की वीतरागता को जानते हुए भी श्रद्धावशत् उनकी साधना की है।

7. सगुण रहस्यभावना और जैन रहस्यभावना

जैसा हम पीछे देख चुके हैं, सगुण भक्तों ने भी ब्रह्म को प्रियतम मानकर उसकी साधना की है। जैन भक्तों ने भी सकल परमात्मा का वर्णन किया है जो सगुण ब्रह्म का समानार्थक कहा जा सकता है। मीरा में सूर और तुलसी की अपेक्षा रहस्यानुभूति अधिक मिलती है। इसका कारण है कि सूर और तुलसी का साध्य प्रत्यक्ष और साकार रहा। मीरा का भी, परन्तु सगुण भक्तों में कान्ताभाव मीरा में ही देखा जाता है इसलिए प्रेम की दिवानी मीरा में जो मादकता है वह न तो सूर में है और न तुलसी में और न जैन कवियों में। यह अवश्य है कि जैन कवियों ने अपने परमात्मा की निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की विरह वेदना को सहा है। एक यह बात भी है कि मध्यकालीन जैनेतर कवियों के समान हिन्दी जैन कवियों के बीच निर्गुण अथवा सगुण भक्ति शाखा की सीमा-रेखा नहीं खिची। वे दोनों अवस्थाओं के पुजारी रहे हैं क्योंकि ये दोनों अवस्थायें एक ही आत्मा की मानी गई हैं। उन्हें ही जैन पारिभाषिक शब्दों में सिद्ध और अर्हन्त कहा गया है।

मीरा की तन्मयता और एकाकारता बनारसीदास और आनन्दघन में अच्छी तरह से देखी जाती है। रहस्य साधना के बाधक तत्वों में माया, मोह आदि को भी दोनों परम्पराओं ने समान रूप से स्वीकार किया है। साधक तत्वों में इन भक्तों से भक्ति तत्त्व की प्रधानता अधिक रही है। भक्ति के द्वारा ही उन्होंने अपने आराध्य को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। यही उनकी मुक्ति का साधन रहा है।

साधन का पथ सुगम बनाने और सुलाने के सन्दर्भ में जैन एवं जैनेतर सभी सन्तों और भक्तों ने गुरु की महिमा का गान किया है। मीरा के हृदय में कृष्ण प्रेम की चिनगारी बचपन से ही विद्यमान थी। उसको प्रज्वलित करने का श्रेय उनके भावुक गुरु रेदास को है जो एक भावुक भक्त एवं सन्त थे। मीरा के गुरु रैदास होने में कुछ समालोचक सन्देह व्यक्त करते हैं। जो भी हो, मीरा के कुछ पदों में जोगी का उल्लेख मिलता है जिसने मीरा के हृदय में प्रेम की चिनगारी बोई।[1]

1. जोगिया कहां गया नेहड़ी लगाय।
छोड़ गया बिसवास संघाती प्रेम की बाती बराय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम बिन रह्यो न जाई॥ मीरा की प्रेम साधना, पृ. 168.

जैन साधकों ने भी मीरा के समान गुरु (सद्गुरु) की महत्ता को साधना का मार्ग प्रशस्त बनाने के सन्दर्भ में अभिव्यंजित किया है। अन्तर मात्र चिनगारी प्रज्वलित करने की मात्रा का है।[1] मीरा प्रेम माधुर्यभाव का है जिसमें भगवान कृष्ण की उपासना प्रियतम के रूप में की है। इससे अधिक सुन्दर-सुन्दर सम्बन्ध की कल्पना हो भी नहीं सकती। विरह और मिलन की जो अनुभूति और अभिव्यक्ति इस माधुर्यभाव में खिली है वह सख्य और दास्यभाव में कहां! इसलिए मीरा के समान ही जैन कवियों ने दाम्पत्यमूलक भाव को ही अपनाया है। मीरा प्रियतम के प्रेमरस में भीगी चुनरिया को ओढ़कर साज श्रृंगार करके प्रियतम को ढूढ़ने जाती है उसके विरह में तड़पती है। इस सन्दर्भ में बारहमासे का चित्रण भी किया है सारी सृष्टि मिलन की उत्कण्ठा में साज-सजा रही है परन्तु मीरा को प्रियतम का वियोग खल रहा है। आखिर प्रियतम से मिलन होता है। वह तो उसके हृदय में ही बसा हुआ है वह क्यों यहां-वहां भटके। यह दृढ़ विश्वास हो जाता है। उस आगम देश का भी मीरा ने मोहक वर्णन किया है।

जैन साधकों की आत्मा भी मीरा के समान अपने प्रियतम के विरह में तड़पती है।[2] भूधरदास की राजुल रूप आत्मा अपने प्रियतम नेमीश्वर के विरह में मीरा के समान ही तड़पती है।[3] इसी सन्दर्भ में मीरा के समान बारहमासों की भी सर्जना हुई है।[4] प्रियतम से मिलन होता है और उस आनन्दोपलब्धि की व्यंजना मीरा से कहीं अधिक सरस बन पड़ी है।[5] सूर और तुलसी यद्यपि मूलतः रहस्यवादी कवि नहीं हैं फिर भी उनके कुछ पदों में रहस्यभावनात्मक अनुभूति झलकती है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

इस प्रकार सूफी, निर्गुण और सगुण शाखाओं की रहस्यभावना जैन धर्म की रहस्य भावना से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, जो अन्तर भी है, वह दार्शनिक पक्ष की पृष्ठभूमि पर आधारित है। साधारणतः मुक्ति के साधक और बाधक तत्वों को समान रूप से सभी ने स्वीकार किया है। संसार की असारता और मानव जन्म

---

1. दिन-दिन महोत्सव अतिघणा, श्री संघ भगति सुहाइ।
   मन सुद्धि श्री गुरुसेवी यह, जिणी सेव्यइ शिव सुख पाइ॥ जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह-कुशल लाभ—53 वां पद
2. अध्यात्म गीत, बनारसी विलास, पृ. 159-60
3. भूधर विलास, 45 वां पद पृ. 25.
4. कवि विनोदीलाल—बारहमासा संग्रह कलकत्ता, 42 वां पद्य, पृ. 24, लक्ष्मी-वल्लभ नेमि—राजुल बारहमासा, पहला पद्य.
5. आनन्दघन पद संग्रह, आध्यात्मिक ज्ञान प्रसारक मण्डल बम्बई, चौथा पद, पृ. 7.

की दुर्लभता से भी किसी को इन्कार नहीं। प्रपत्तिभावना गर्भित दाम्पत्य मूलक प्रेम को भी सभी कवियों ने हीनाधिक रूप से अपनाया है। परन्तु जैन कवियों का दृष्टिकोण सिद्धान्तों के निरूपण के साथ ही भक्तिभाव को प्रदर्शित करता रहा है। इसलिए जैनेतर कवियों की तुलना में उनमें भावुकता के दर्शन उतने अधिक नहीं हो पाते। फिर भी रहस्य भावना के सभी तत्त्व उनके काव्य में दिखाई देते हैं। तथ्य तो यह है कि दर्शन और अध्यात्म की रहस्य-भावना का जितना सुन्दर समन्वय मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों के काव्य में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। साहित्य क्षेत्र के लिए भी उनकी यह एक अनुपम देन मानी जानी चाहिए।

8. मध्यकालीन जैन रहस्यभावना और आधुनिक रहस्यवाद

मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य के अन्तदर्शन से यह स्पष्ट है कि उसमें निहित रहस्यभावना और आधुनिक काव्य में अभिव्यक्त रहस्यभावना में साम्य कम और वैषम्य अधिक दिखाई देता है।

(1) जैन रहस्यभावना शान्ता भक्ति प्रधान है। उसमें वीतरागता, निःसंगता और निराकुलता के भावों पर साधकों की भगवद्भक्ति अवलम्बित रही है। बनारसी दास ने तो नवरसों में शान्त रस को ही प्रधान माना है—नवमो सान्त रसनिको नायक।'[1] बात सही भी है। जब तक कर्मों का उपशमन नहीं होगा, रहस्यभावना की चरमोत्कर्ष अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है? शम ही शान्त रस का स्थायीभाव माना गया है। जैन ग्रन्थों का अन्तिम मंगलाचरण प्रायः शान्ति की याचना में ही समाप्त होता है—देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्ति भगवज्जिनेन्द्रः।[2] जैन मंत्र भी शान्तिपरक है। उनमें सात्विक भक्ति निहित है। राग-द्वेषादि विकार भावों से विरक्त होकर चरम शान्ति की याचना गर्भित है। इसलिए शान्त रस को बनारसीदास ने 'आत्मिक रस' कहा है।[3] भैया भगवतीदास ने भी जैन मत को शान्तरस का मत माना है।[4] वस्तुतः समूचा जैन साहित्य शान्ति रस से आप्लावित है।[5]

(1) आधुनिक साहित्य मे अभिव्यक्त रहस्यवाद प्रस्तुत रहस्यवाद से भिन्न है। उसमें कर्मोपशमनजन्य शान्ति का कोई स्थान नही। आधुनिक रहस्यवाद में प्राचीन जैन रहस्यवाद की अपेक्षा आध्यात्मिकता के दर्शन बहुत कम होते हैं। धार्मिक दृष्टि का लगभग अभाव-सा है। उसकी मुख्य प्रेरणा मानवीय और सांस्कृतिक है।

---

1. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धि द्वार 10, 133, पृ. 307.
2. दशभक्त्यादि संग्रह, पृ. 181, श्लोक 14 वां
3. नाटक समयसार. उत्थानिका, 19 वां पद्य
4. शान्त रसवारे कहें, मन को निवारे रहें,
   वेई प्रान प्यारे रहें, और सरवारे हैं॥ ब्रह्मविलास, ईश्वर निर्णय पच्चीसी, 6 वां कवित्त, पृ. 253.
5. जैन शोध और समीक्षा—डॉ. प्रेमसागर जैन, जयपुर, पृ. 169–208,

(2) मध्यकालीन हिन्दी जैन रहस्यभावना के सन्दर्भ में साधकों का प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का भाव बहुत कम है जब कि आधुनिक रहस्यवाद विराट प्रकृति की रमणीयता में ही अधिक पला-पुसा है। प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी आदि कवियों का रहस्यवाद प्राकृतिक रहस्यानुभूति के मधुर स्वर से आपूरित है। रहस्यमयी सत्ता का आभास देने में उनकी प्रवृत्ति ही सहायक होती है। लगता है, प्राचीन जैन कवि प्रकृति को ब्रह्म साक्षात्कार में बाधक तत्त्व मानते रहे हैं। पर आधुनिक कवियों ने प्रकृति को बाधक न मानकर उसे साधक माना है।

(3) शब्दों का सीमित बन्धन रहस्यवाद की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं। अतः उसकी गुह्यता को स्वर देने के लिए जैन साधक कवियों ने प्रतीकों का माध्यम अपनाया। प्राचीन जैन कवियों ने समुद्र. सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वन, निर्झर, हंस, तुरंग, मिट्टी आदि उपकरणों को चुना। आधुनिक रहस्यवाद में भी उन उपकरणों का उपयोग किया गया है परन्तु साथ ही उसमें कुछ अभारतीय प्रतीकों का भी समावेश हो गया है।

(4) आधुनिक रहस्यवाद धार्मिक दृष्टिकोण के अभाव में मात्र एक कल्पना प्रधान काव्य शैली बनकर सामने आया है, परन्तु प्राचीन रहस्यवाद में उसका अनुभूति पक्ष कहीं अधिक प्रबल दिखाई देता है।

(5) प्राचीन रहस्यसाधना मे दाम्पत्यमूलक प्रेम को साध्य की प्राप्ति में एक विशिष्ट साधन माना गया है। निर्गुण रहस्यवादी भी इस प्रेम से नहीं बच सके। सगुणवादियों का ब्रह्म भी अविगत और अगोचर हो गया। परन्तु आधुनिक कवि इतने अधिक साधक नहीं बन सके। उनकी साधना सूखे फूल की मुर्झायी पंखुड़ियों के समान प्रतीत होती है। उसमें साधना की सुगन्धि नहीं। वह तो प्रेम और वासना की बू से प्रतीकों की मात्र कहानी है।

(6) प्राचीन जैन रहस्यवादियों के काव्य में दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष की सुन्दर समन्वित भूमिका मिलती है पर आधुनिक रहस्यवाद में दार्शनिक पक्ष गौण हो गया है। व दाम्पत्यमूलक सूत्र के साथ रागात्मक सम्बन्ध के विशिष्ट योग में ब्रह्म मिलन की आतुरता छिपी हुई है।

(7) मध्यकालीन जैन रहस्यवाद में संसारी आत्मा ही अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए तड़पती है और उसके वियोग में जलती है वही उसका प्रियतम ब्रह्म है। आधुनिक रहस्यवाद में भी इस वेदना के दर्शन होते हैं। पर विरह की तीव्र अनुभूति प्राचीन काव्य में अधिक अभिव्यक्ति हुई है। वहां आत्मसमर्पण की भावना, चिन्तन-मनन गर्भित है। अद्वैतवाद की स्थिति दोनों में अवश्य है पर उसकी प्राप्ति के मार्गों में किंचित् अन्तर है। एक में आचार की प्रधानता है तो दूसरे का सम्बन्ध भावों से अधिक है। रागात्मक आकर्षण आधुनिक रहस्यवाद में कहीं अधिक है।

(8) जैन रहस्यभावना में सर्वात्मवाद का का दर्शन होता है पर वह जैन सिद्धान्तों के अनुरूप है। आधुनिक रहस्यवाद का सर्वात्मवादी दर्शन क्षणभंगुर संसार को ईश्वरीय सत्ता में अन्तर्भूत करता है। यह स्थिति उसी प्रकार अंग्रेजी रोमाण्टिक कवियों में वर्डसवर्थ व ब्लेक की है जो आध्यात्मिक सत्ता पर विश्वास करते हैं और शैली अनीश्वरवादी हैं। फिर भी दोनों सर्वात्मवादी तत्व को सहज स्वीकार करते हैं।[1] जैन धर्म आत्मा को ज्ञान-दर्शन मय मानकर सर्वात्मवाद की कल्पना करता है।

(9) प्राचीन रहस्यवाद में साधक संसार, शरीर आदि नश्वर पदार्थों को जन्म-मरण का कारण मानकर उसे त्याज्य मानता है। पर आधुनिक रहस्यवाद में उसके प्रति सौन्दर्यमयी दृष्टिकोण है।

(10) प्राचीन रहस्यभावना में वैयक्तिक स्वर अधिक है पर आधुनिक रहस्यवाद सार्वभौमिकता को लिए हुए है।

(11) प्राचीन रहस्यवादी साधना साम्प्रदायिक आधार पर अधिक होती रही पर आधुनिक रहस्यवाद में साम्प्रदायिकता का पुट अपेक्षाकृत बहुत कम है।

(12) प्राचीन जैन किंवा जैनेतर रहस्यवादी साधक भारतीय साधना-प्रकार से सम्बद्ध थे पर आधुनिक रहस्यवादी कवियों पर हीगल वर्डसवर्थ, ब्लेक, बर्नार्डशा, क्रोचे आदि का प्रभाव माना जाता है।[2]

इस प्रकार प्राचीन और आधुनिक रहस्यभावना किंवा रहस्यवाद में सम्बन्ध अवश्य है पर साधकों के दृष्टिकोण निश्चित ही भिन्न-भिन्न रहे हैं। प्राचीन साधकों के समान, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा आदि आधुनिक रहस्यवादी कवियों पर भी दर्शन विशेष की छाप दिखाई देती है।[3] पर वे प्राचीन कवियों के समान साम्प्रदायिकता के रंग में उतने अधिक रंगे नहीं। इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों युगों के साधक अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित रहे हैं। इसलिए रहस्य भावना को सही अर्थ मे समझने के लिए हमें उसके विकासात्मक स्वरूप को समझना पड़ेगा। इस सन्दर्भ में मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में अभिव्यक्त रहस्यभावना की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न उसे साम्प्रदायिकता अथवा धार्मिकता के घेरे में बांधकर अनावश्यक कहा जा सकता है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि रहस्यभावना के विकास में मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों का विशेष योगदान रहा है।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव-डॉ. हरीकृष्ण पुरोहित, पृ. 251.
2. वही, पृ. 241-277
3. विशेष दृष्टव्य-छायावाद और वैदिक दर्शन-डॉ. प्रेम प्रकाश रस्तोगी, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 1971,

परिशिष्ट 1

कविवर द्यानतराय

द्यानतराय हिन्दी जैन साहित्य के मूर्धन्य कवि माने जाते हैं। वे अध्यात्म-रसिक और परमतत्व के उपासक थे। उनका जन्म वि० सं० 1733 में आगरा में हुआ था। कवि के प्रमुख ग्रन्थों में धर्मविलास सं० 1780) और आगमविलास उल्लेखनीय हैं। धर्मविलास में कवि की लगभग समूची रचनाओं का संकलन किया गया है। इसमें 333 पद, पूजायें तथा अन्य विषयों से सम्बद्ध रचनायें मिलती हैं। आगम विलास का संकलन कवि की मृत्यु के बाद पं० जगतराय ने सं० 1784 में किया। इसमें 46 रचनायें मिलती हैं। इसके अनुसार द्यानतराय का निधन काल सं० 1783 कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी है। धर्मविलास में कवि ने सं० 1780 तक की जीवन की घटनाओं का संक्षिप्त आकलन किया है। इसे हम उनका आत्मचरित् कह सकते हैं जो बनारसीदास के अर्धकथानक का अनुकरण करता प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त कवि की कुछ फुटकर रचनायें और पद भी उपलब्ध होते हैं। 333 पदों के अतिरिक्त लगभग 200 पद और होंगे। ये पद जयपुर, दिल्ली आदि स्थानों के शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं।

हिन्दी सन्त अध्यात्म-साधना को संजोये हुए हैं। वे सहज-साधना द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उनके साहित्य में भक्ति, स्वसंवेद्यज्ञान और सत्कर्म का तथा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का सुन्दर समन्वय मिलता है जो आत्मचिन्तन से स्फुटित हुआ है। इस पथ का पथिक संत, संसार की क्षणभंगुरता, माया-मोह, बाह्याडम्बर की निरर्थकता, पुस्तकीय ज्ञान की व्यर्थता मन की एकाग्रता, चित्त शुद्धि, स्वसंवेद्य ज्ञान पर जोर, सद्गुरु-सत्संग की महिमा प्रपत्ति भक्ति, सहज साधना आदि विशेषताओं से मंडित विचारधाराओं में डुबकियाँ लगाता रहता है। इन सभी विषयों पर वह गहन चिंतन करता हुआ परम साध्य की प्राप्ति में जुट जाता है।

कवि द्यानतराय की जीवन-साधना इन्हीं विशेषताओं को प्राप्त करने में लगी रही। और उन्होंने जो कुछ भी लिखा, वह एक ओर उनका भक्ति प्रवाह है तो दूसरी ओर संत-साधना की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उनके साहित्य में भक्ति और रहस्य भावना का सुन्दर समन्वय हुआ है। यहाँ हम कवि की इन्हीं प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विश्लेषण कर रहे हैं।

साधक कवि सांसारिक विषय-वासना और उसकी असारता एवं क्षणभंगु-रता पर विविध प्रकार से चिन्तन करता है। चिन्तन करते समय वह सहजता पूर्वक भावुक हो जाता है। उस अवस्था में वह अपने को कभी दोष देता है तो कभी तीर्थंकरों को बीच में लाता है। कभी रागादिक पदार्थों की ओर निहारता है तो

कभी तीर्थंकरों से प्रार्थना, विनती और उलाहने की बात करता है। कभी पश्चात्ताप करता हुआ दिखाई देता है तो कभी सत्संगति के लिए प्रयत्नशील दिखता है। द्यानतराय को तो यह सारा संसार बिल्कुल मिथ्या दिखाई देता है। वे अनुभव करते हैं कि जिस देह को हमने अपना माना और जिसे हम सभी प्रकार के रसपाकों से पोषते रहे, वह कभी हमारे साथ नहीं चलता, तब अन्य पदार्थों की बात क्या सोचें ? सुख के मूल स्वरूप को तो देखा समझा ही नहीं। व्यर्थ में मोह करता है। आत्मतत्त्व को पाये बिना असत्य के माध्यम से जीव द्रव्यार्जन करता, असत्य साधना करता, यमराज से भयभीत होता मैं और मेरा की रट लगाता संसार में घूमता फिरता है। इसलिए संसार की विनाशशीलता को देखते हुए वे संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

मिथ्या यह संसार है रे, झूठा यह संसार है रे ॥
जो देही वह रस सौं पोषै, सो नहि संग चले रे,
औरन कौं तोंहि कौन भरोसौ, नाहक मोह करे रे ॥
सुख की बातें बूझे नाहीं, दुख को सुख लेखें रे।
मूढ़ी मांही माता डोलै, साधो नाल डरै रे ॥
झूठ कमाता झूठी खाता, झूठी जाप जपे रे।
सच्चा सांई सूझे नाहीं, क्यों कर पार लगे रे ॥
जम सौं डरता फूला फिरता, करता मैं मैं मेरे।
द्यानत स्याना सोई जाना, जो जन ध्यान धरे रे ॥[1]

कबीर[2] दादू[3] नानक[4] आदि हिन्दी सन्तों ने भी संसार की असारता और क्षणभंगुरता का द्यानतराय[5] से मिलता जुलता चित्रण किया है। सगुण भक्त कवि भी संसार चिन्तन में पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी निर्गुण सन्तों का अनुकरण किया है।

संसारी जीव मिथ्यात्व के कारण ही कर्मों से बंधा रहता है वह माया के फंदे में फंसकर जन्म-मरण की प्रक्रिया लम्बी करता चला जाता है। द्यानतराय ऐसे मिथ्यात्वी की स्थिति देखकर पूछ उठते हैं कि हे आत्मन् यह मिथ्यात्व तुमने

1. हिन्दी पद संग्रह, 156 पृ. 130
2. ऐसा संसार है जैसा सेमरफूल ।
   दस दिन के व्यवहार में झूठे रे मन भूल ॥ कबीर साखी संग्रह, पृ. 61
3. यह संसार सेंवल के फूल ज्यों तापर तू जिनि फूलै ॥ दादूवानी भाग–2 पृ. 14
4. आध घड़ी कोऊ नाहिं राखत घर तें देत निकार ॥
   संतवाणी संग्रह, भाग–2 पृ. 46
5. झूठा सुपना यह संसार ।
   दीसत है विनसत नहीं हो बार ॥ हिन्दी पद संग्रह, पृ. 133

कहाँ से प्राप्त किया। सारा संसार स्वार्थ की ओर निहारता है, पर तुम्हें स्व-कल्याण रूप स्वार्थ नहीं रुचता। इस अपवित्र अचेतन देह में तुम कैसे मोहासक्त हो गये। अपना परम अतीन्द्रिय शाश्वत सुख छोड़कर पंचेन्द्रियों की विषय-वासना में तन्मय हो रहे हो। तुम्हारा चैतन्य नाम जड़ क्यों हो गया और तुमने अनंत ज्ञानादिक गुणों से युक्त अपना नाम क्यों भुला दिया? त्रिलोक का स्वतन्त्र राज्य छोड़कर इस परतन्त्र अवस्था को स्वीकारते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? मिथ्यात्व को दूर करने के बाद ही तुम कर्ममल से मुक्त हो सकोगे और परमात्मा कहला सकोगे। तभी तुम अनन्त सुख को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकोगे।

"जीव! तू मूढपना कित पायो।
सब जग स्वारथ को चाहता है, स्वारथ तोहि न भायो।
अशुचि समेत दृष्टि तन मांही, कहा ज्ञान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरि के, विषय रोग लपटाओ॥[1]

मिथ्यात्व को ही साधकों ने मोह-माया के रूप में चित्रित किया है। सगुण निर्गुण कवियों ने भी उसको इसी रूप मे माना है। भूधरदास ने इसी को 'सुनि ठगनी माया तैं सब जग ठग खाया'।[2] कबीर ने इसी माया को छाया के समान बताया जो प्रयत्न करने पर भी ग्रहण नहीं की जा सकती, फिर भी जीव उसके पीछे दौड़ता रहता है।

साधक कवि नरभव की दुर्लभता समझकर मिथ्यात्व को दूर करने का प्रयत्न करता करता है। जैन धर्म में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ माना गया है। इसी-लिए हर प्रकार से इस जन्म को सार्थक बनाने का प्रयत्न किया जाता है। द्यानतराय ने "नाहि ऐसो जनम बारम्बार"[3] कहकर यही बात कही है। उनके अनुसार यदि कोई नरभव को सफल नहीं बनाता, तो "अन्ध हाथ बटेर आई, तजत ताहि गंवार" वाली कहावत उसके साथ चरितार्थ हो जायेगी।[4] इसलिए उन्हें कहना पड़ा 'जानत क्यों नहि हे नर आतमज्ञानी'।[5] आत्म चेतन को

---

1. अध्यात्म पदावली, पृ. 360
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 124
3. संत वाणी संग्रह, भाग–9, पृ. 57
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 116
5. वही, पृ. 115

जाग्रत करते हुए पुनः वह कह उठता है कि संसार का हर पदार्थ क्षणभंगुर है और तू अविनाशी है—

'तू अविनाशी आत्मा, विनासीक संसार ।।'

परन्तु माया-मोह के चक्कर में पड़कर तू स्वयं की शक्ति को भूल गया है। तेरी हर श्वासोच्छ्वास के साथ सोहं-सोहं के भाव उठते हैं। यही तीनों लोकों का सार है। तुम्हें तो सोहं छोड़कर अजपा जाप में लग जाना चाहिए।[1] आत्मा को अविनाशी और विशुद्ध बताकर उसे अनन्तचतुष्टय का धनी बताया। आत्मा की इसी अवस्था को परमात्मा कहा गया है।

संत कबीर ने भी जीव और ब्रह्म को पृथक् नहीं माना। अविद्या के कारण ही वह अपने आप को ब्रह्म से पृथक् मानता है। उस अविद्या और माया के दूर होने पर जीव और ब्रह्म अद्वैत हो जाते है-"सब घटि अन्तरि तू ही व्यापक, घटै सरूपै सोई।[2] द्यानतराय के समान ही कबीर ने उसे आत्म ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला माना है।[3]

आत्मचिन्तन करने के बाद कवि ने भेदविज्ञान की बात कही। भेदविज्ञान का तात्पर्य है स्व-पर का विवेक। सम्यक्दृष्टि ही भेदविज्ञानी होता है। संसार-सागर से पार होने के लिए यह एक आवश्यक तथ्य है। द्यानतराय का विवेक जाग्रत हो जाता है और आत्मानुभूति पूर्वक चिन्तन करते हुए कह उठते हैं कि अब उन्हें चर्म-चक्षुओं की भी आवश्यकता नही। अब तो मात्र आत्मा की अनत गुण शक्ति की ओर हमारा ध्यान है। सभी वैभाविक-भाव नष्ट हो चुके हैं और आत्मानुभव करके संसार-दुःख से छूटे जा रहे हैं।

"हम लागे आतम राम सौं।
विनासीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धन-धाम सौं ।।
समता-सुख घट में परगाट्यो, कौन काज है काम सौ।
दुविधा भाव तलांजलि दीनों, मेल भयो निज श्याम सौ।
भेद ज्ञान करि निज-पर देख्यौ, कौन विलोके चाम सौं।[4]

भेदविज्ञान पाने के लिए वीतरागी सद्गुरु की आवश्यकता होती है। हर धर्म में सद्गुरु का विशेष स्थान है। साधना मे सद्गुरु का वही स्थान है जो

---

2. धर्म विलास, पृ. 165
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 105
3. वही, पृ. 89
4. अध्यात्म पदावली, 47, पृ. 358

अरिहन्त का है। जैन-साधकों ने पंच परमेष्ठियों को सद्गुरु मानकर उसकी उपासना, भक्ति और स्तुति की है। जैन दर्शन में सद्गुरु को आप्त और अबि-संवादी माना है। द्यानतराय को गुरु के समान और दूसरा कोई दाता दिखाई नहीं देता। उनके अनुसार गुरु उस अन्धकार को नष्ट कर देता है जिसे सूर्य भी नष्ट नहीं कर पाता। मेघ के समान सभी पर समान भाव से निस्वार्थ होकर वह कृपाजल बरसाता है, नरक तिर्यन्च आदि गतियों से मुक्तकर जीवों को स्वर्ग-मोक्ष में पहुंचाता है। अतः त्रिभुवन मे दीपक के समान प्रकाश करने वाला गुरु ही है। वह ससार संसार से पार लगाने वाला जहाज है। विशुद्ध-मन से उनके पद-पकज का स्मरण करना चाहिए।

गुरु समान दाता नही कोई। आदि।[1]

सत साहित्य मे भी कबीर, दादू, नानक, सुन्दर दास आदि ने सद्गुरु और सत्सग के महत्व को जैन कवियो की ही भाति शब्दो के कुछ हेर-फेर से स्वीकार किया है। द्यानतराय कबीर के समान उन्हे कृतकृत्य मानते हैं। जिन्हें सत्संगति प्राप्त हो गई है—"कर कर सगत, सगत रे भाई।"[2]

भेदविज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्गुरु मार्गदर्शन करता है। उसकी प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समन्वित रूप-रत्न त्रय माना गया है। भेदविज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। अन्तरंग और बहिरग सभी प्रकार के परिग्रहो से दूर रहकर परिषह सहते हुए तप करने से परम-पद प्राप्त होता है।[3] साधक कवि द्यानतराय आत्मानुभव करने पर कहने लगता है "हम लागे आतमराम सों। उसकी आत्मा में समता सुख प्रकट हो जाता है, दुविधाभाव नष्ट हो जाता है और भेद विज्ञान के द्वारा स्व-पर का विवेक जाग्रत हो जाता है इसलिए द्यानतराय कहने लगते है कि आतम अनुभव करना रे भाई।"[4] कवि यहा आत्मानुभूति प्रधान हो जाता है और कह उठता है "मोह कब ऐसा दिन आय है" जब भेदविज्ञान हो जायेगा।

संत साहित्य में भी स्वानुभूति को महत्व दिया गया है कबीर ने "राम रतन पाया रे करम विचारा. नैना नैन अगोचरी,[5] आप पिछानै आपै आप[6]

---

1. द्यानत पद संग्रह, पृ. 10
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 137
3. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय, पृ० 109-141
4. हिन्दी पद संग्रह, द्यानतराय, पृ. 109-141
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 241
6. वही पृ. 318

जैसे उद्धरणों के माध्यम से अनुभव की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। दादू ने भी इसी प्रकार से "सोऽहम देख्या नैन भरि, सुन्दर सहज स्वरूप" के रूप में अनुभव किया।[1]

स्वानुभूति के संदर्भ में मन एकाग्र किया जाता है और इसके लिए यम नियमों का पालन करना आवश्यक है। योगी ही धर्मध्यान और शुक्लध्यान को प्राप्त कर पाता है। यहीं समभाव और समरसता की अनुभूति होती है। द्यानतराय ने इस अनुभूति को गूंगे का गुड़ माना है।[2] इस सहज साधना में अजपा जाप, नाम स्मरण को भी महत्व दिया गया है। व्यवहार नय की दृष्टि से जाप करना अनुचित नहीं है, निश्चय नय की दृष्टि से उसे बाह्य किया माना है। तभी द्यानतराय ऐसे सुमरन को महत्व देते है जिससे—

ऐसो सुमरन करिये रे भाई।
पवन थंमै मन कितहु न जाइ।।
परमेसुर सौं साची रहोजै।
लोक रंचगा भय तजि दीजै।
यम अरु नियम दोउ विधि धारौ।
आसन प्राणायाम समारौ।।
प्रत्याहार धारना कीजै
ध्यान समाधि महारस पीजै।।[3]

उसी प्रकार अनहद नाद के विषय में लिखते हैं—

अनहद सबद सदा सुन रे।।
आप ही जानैं और न जानैं,
कान बिना सुनिये धनु रे।।
भमर गुंज सम होत निरन्तर,
ता अंतर गति चितवन रे।।[4]

इसीलिए द्यानतराय ने सोहं को तीन लोक का सार कहा है। जिन साधकों के श्वासोच्छ्वास के साथ सदैव ही "सोहं सोहं की ध्वनि होती रहती है और जो सोहं के अर्थ को समझकर, अजपा जाप की साधना करते हैं, श्रेष्ठ हैं—

---

1. दादूदयाल की बानी, भाग-1 परचा कौ अंग, 97,98,109
2. द्यानतबिलास, कलकत्ता
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 119
4. वही, –118 पृ. 119–20

सोहं सोहं नित, सांस उसास मझार ।
ताको अरथ विचारिये, तीन लोक में सार ।।..........
जैसो तैसो आर, आप निहचै तजि सोहं ।
अजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं ।।[1]

आनन्दघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अन्त: करण में अजपा जाप को जपते हैं वे चेतनमूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं ।[2] कबीर आदि संतों ने भी सहज—साधना, शब्द सुरति और शब्द ब्रह्म की उपासना की । ध्यान के लिए अजपा जाप और नाम जप को भी स्वीकार किया है ।[3] सहज समाधि को ही सर्वोपरि स्वीकार किया है ।[4]

साधक कवि को परमात्मपद पाने के लिए योग साधना का मार्ग जब दुर्गम प्रतीत होता है तो वह प्रपत्ति (भक्ति) का सहारा लेता है । रहस्य साधकों के लिए यह मार्ग अधिक सुगम है इसलिए सर्व प्रथम वह इसी मार्ग का अव-लम्बन लेकर क्रमश: रहस्य भावना की चरम सीमा पर पहुंचता है । रहस्य भावना की भूमिका चार प्रमुख तत्वों से निर्मित होती है-आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुरु की प्रधानता और सहज मार्ग । जैन साधकों की आस्तिकता पर सन्देह की आवश्यकता नहीं । उन्होंने तीर्थंकरों के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों के प्रति अपनी अनन्य भक्ति भावना प्रदर्शित की है । द्यानतराय की भगवद् प्रेम भावना उन्हें प्रपत्त भक्त बनाकर प्रपत्ति के मार्ग को प्रशस्त करती है ।

प्रपत्ति का अर्थ है अनन्य शरणागत होने अथवा आत्मसर्पण करने की भावना । नवधाभक्ति का मूल उत्स भी प्रपत्ति है । भागवत पुराण में नवधा-भक्ति के 9 लक्षण है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण , पादसेवन (शरण), अर्चना, वंदना, दास्यभाव, सख्यभाव और आत्म निवेदन । कविवर बनारसीदास ने इनमें कुछ अन्तर किया है ।[5] पाचरात्र लक्ष्मी संहिता में प्रपत्ति की षड्विधायें दी गई है—

1. धर्मविलास, पृ. 65
2. आनन्दघन बहोत्तरी, पृ. 359
3. अनहद शब्द उठै झनकार, तहं प्रभु बैठे समरथ सार । कबीर ग्रन्थावली पृ. 301
4. संतो सहज समाधि भली । कबीर वाणी, पृ. 262
5. श्रवन, कीरतन, चितवन, सेवन वन्दन ध्यान ।
   लघुता समता एकता नौधा भक्ति प्रमान ।।
   नाटक समयसार, मोक्षद्वार, 8, पृ. 218

अनुकूल संकल्प, प्रातिकूल्य का विसर्जन, संरक्षण, एतद्रूप विश्वास, गोप्तृत्व रूप में वरण, आत्म निक्षेप और कार्पण्यभाव ।[1] प्रपत्ति भाव से प्रेरित होकर भक्त के मन में आराध्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम भावना का अतिरेक होता है। द्यानतराय अपने अंगों की सार्थकता को तभी स्वीकार करते हैं जबकि वे आराध्य की ओर झुके रहें—

रे जिय जनम लाहो लेहु ।
चरन ते जिन भवन पहुंचे, दान दें तर जेहु ।।
उर सोई जा में दया है, अरू रूधिर को गेहु ।
जीभ सो जिन नाम गावें, सांच सौ करे नेहु ।।
आंख ते जिनराज देखे और आंखें खेहु ।
श्रवन ते जिन वचन सुनि शुभ तप तपें सो देहु ।।[2]

कविवर द्यानतराय में प्रपत्ति की लगभग सभी विशेषतायें मिलती हैं। भक्त कवि ने अपने आराध्य का गुण कीर्तन करके अपनी भक्ति प्रकट की है। वह आराध्य में असीम गुणो को देखता है पर उन्हे अभिव्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण कह उठता है—

प्रभु मैं किहि विधि थुति करौ तेरी ।
गणधर कहत पार नहिं पाये, कहा बुद्धि है मेरी ।।
शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि तुम जस होत न पूरा ।
एक जीभ कैसे गुण गावे उलू कहै किमि सूरा ।।
चमर छत्र सिंहासन बरनों, ये गुण तुम तें न्यारे ।
तुम गुण कहन वचन बल नाहिं, नैन गिनैं किमि तारे ।।[3]

कवि को पार्श्वनाथ दुःखहर्ता और सुखकर्ता दिखाई देते हैं। वे उन्हें विघ्न-विनाशक, निर्धनो के लिए द्रव्यदाता, पुत्रहीनो को पुत्रदाता और महासकटों के निवारक बताते हैं। कवि की भक्ति से भरा पार्श्वनाथ की महिमा का गान दृष्टव्य है—

दुखी दुःखहर्ता सुखी सुक्खकर्ता ।
सदा सेवकों को महानन्द भर्ता ।।

---

1. आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो, गोप्तृत्व वरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।।
2. द्यानतपद संग्रह, 9 पृ. 4, कलकत्ता
3. द्यानत पद संग्रह, पृ. 45

हूरे यक्ष राक्षस भूतं पिशाचं ।
विषं डांकिनी विघ्न के भय अवाचं ।।
दरिद्रीन को द्रव्य के दान दाने ।।
अपुत्रीन कों तू भले पुत्र कीने ।।
महासंकटों से निकारै विधाता ।
सबै संपदा सर्व को देहि दाता ।।[1]

नामस्मरण प्रपत्ति का एक अन्यतम अंग है जिसके माध्यम से भक्त अपने इष्ट के गुणों का अनुकरण करना चाहता है । द्यानतराय प्रभु के नामस्मरण के लिए मन को सचेत करते हैं जो अघजाल को नष्ट करने में कारण होता है-

रे मन भज भज दीनदयाल ।।
जाके नाम लेत इक खिन में, कटै कोटि अघजाल ।।
पार ब्रह्म परमेश्वर स्वामी, देखत होत निकाल ।।
सुमरन करत परम सुख पावत, सेवत भाजै काल ।।
इन्द्र फणिन्द्र चक्रधर गावै, जाको नाम रसाल ।
जाके नाम ज्ञान प्रकासै, नासै मिथ्याजाल ।
सोई नाम जपौ नित द्यानत, छांडि विषै विकराल ।।[2]

प्रभु का नामस्मरण भक्त तब तक करता रहता है, जब तक वह तन्मय नहीं हो जाता । जैनाचार्यों ने स्मरण और ध्यान को पर्यायवाची कहा है । स्मरण पहले तो रुक-रुक कर चलता है, फिर शनैः-शनैः एकांतता आती जाती है और वह ध्यान का रूप धारण कर लेता है । स्मरण में जितनी अधिक तल्लीनता बढ़ती जायेगी वह उतना ही तद्रूप होता जायेगा । इससे सांसारिक विभूतियों की प्राप्ति होनी आवश्यक है किन्तु हिन्दी के जैन कवियों ने आध्यात्मिक सुख के लिए ही बल दिया है । विशेषरूप से ध्यानवाची स्मरण जैन कवियों की अपनी विशेषता है । द्यानतराय अरहन्तदेव का स्मरण करने के लिए प्रेरित करते हैं । वे ख्यातिलाभ पूजादि छोड़कर प्रभु के निकटतर पहुंचना चाहते हैं-

अरहंत सुमरि मन बावरे ।।
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई । अन्तर प्रभु लौ लाव रे ।।[3]

---

1. बृहज्जिनवाणी संग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 125-26
3. वही, पृ. 139

कवि आराध्य का दर्शन कर भक्तिवशात् उनके समक्ष अपने पूर्वकृत कर्मों का पश्चात्ताप करता है जिससे उसका मन हल्का होकर भक्तिभाव में और अधिक लीन हो जाता है। वे पश्चात्ताप करते हुए कह उठते हैं–'हम तो कबहूं न निज घर आये ।। पर घर फिरत बहुत दिन बीते नांव अनेक धराये' ।।[1] पश्चात्ताप के साथ भक्ति के वश आराध्य को उपालम्भ देते हुए कुछ मुखर हो उठते है और कह देते हैं कि आप स्वयं तो मुक्ति में जाकर बैठ गये पर मैं अभी भी संसार में भटक रहा हूं। तुम्हारा नाम हमेशा मै जपता हूं पर मुझे उससे कुछ मिलता नही। और कुछ नही तो कम से कम राग द्वेष को तो दूर कर ही दीजिए—

तुम प्रभु कहियत दीन दयाल।
आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल ।।
तुमरौ नाम जपं हम नीके, मनवच तीनो काल।
तुम तौ हमको कछु देत नहिं, हमरो कौन हवाल ।।
बुरे भले हम भगत तिहारे जानत हौ हम चाल।
और कछु नहिं यह चाहत हैं, राग द्वेष को टाल ।।
हम सौ चूक परी सौ बक्सौ, तुम तो कृपा विशाल।
द्यानत एक बार प्रभु जगतैं, हमको लेहु निकाल ।।[2]

एक अन्यत्र स्थान पर कवि का उपालम्भ देखिये जिसमें वह उद्धार किये गये व्यक्तियों का नाम गिनाता है और फिर अपने इष्ट को उलाहना देता है कि मेरे लिए आप इतना विलम्ब क्यों कर रहे हैं—

मेरी बेर कहा ढील करी जी।
सूली सौ सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी ।।
सीता सती अगनि मे बैठी पावक नीर करी सगरी जी।
वारिषेण पै खड्ग चलायो, फूल माल कीनी सुथरी री।
द्यानत मे कछु जांचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी ।।[3]

इस प्रकार प्रपत्त भावना के सहारे साधक अपने आराध्य परमात्मा के सान्निध्य में पहुंचकर तत्तद्गुणों को स्वात्मा में उतारने का प्रयत्न करता है। इसमें श्रद्धा और प्रेम की भावना का अतिरेक होने के फलस्वरूप साधक अपने

1. वही, पृ. 109
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 114-15
3. धर्मविलास, 54 वा पद्य

आराध्य के रंग में रंगने लगता है। तद्रूप हो जाने पर उसका दुविधाभाव समाप्त हो जाता है और समरस भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। यहीं सांसारिक दुःखों से त्रस्त जीव शाश्वत की प्राप्ति कर लेता है।

निर्गुण सन्तों ने भी प्रपत्ति का आंचल नहीं छोड़ा। वे भी 'हरि न मिलै बिन हिरदै सूध'[1] जैसा अनुभव करते हैं और दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं— 'अब मोही राम भरोसों-तेरा, और कौन का करौ निहोरा'।[2] कबीर और तुलसी आदि सगुण भक्तों के समान द्यानतराय को भगवान मे पूर्ण विश्वास है- 'अब हम नेमि जी को शरण और ठौर न मन लगता है, छाडि प्रभ के शरन'।[3] इस प्रकार प्रपत्त भावना मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य मे समान रूप से प्रवाहित होती रही है। उपालम्भ, पश्चात्ताप, लघुता, समता और एकता जैसे तत्व उनकी भाव भक्ति में यथावत् उपलब्ध होते है।

मध्यकाल मे सहज योगसाधना की प्रवृत्ति सतो मे देखने को मिलती है। इस प्रवृत्ति को सूत्र मानकर द्यानतराय ने भी आत्मज्ञान को प्रमुखता दी। उनको उज्जवल दर्पण के समान निरजन आत्मा का उद्योग दिखाई देता है। वही निर्विकल्प शुद्धात्मा चिदानन्दरूप परमात्मा है जो सहज-साधना के द्वारा प्राप्त हुआ है इसीलिए कवि कह उठता है "देखो भाई आतमराम बिराजै।[4] साधक अवस्था के प्राप्त करने के बाद साधक मे मन मे दृढ़ता आ जाती है और वह कह उठता है—

अब हम अमर भय न मरेंगे।[5]

आध्यात्मिक साधना करने वाले जैन जैनेतर सतो एवं कवियों ने दाम्पत्य-मूलक रति भाव का अवलम्बन परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए लिया है। इसी सदर्भ में आध्यात्मिक विवाहो और होलियो की भी सर्जना हुई है। द्यानतराय ने भी ऐसी ही आध्यात्मिक होलियों का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज बसन्त आने पर होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक दूसरे के सामने खड़े है। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमारूप नारी वर्ग खड़ा हुआ है और दूसरे दल मे रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मा पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान-

1. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 214
2. वही, पृ. 124
3. हिन्दी पद संग्रह, 140
4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 114
5. वही, पृ. 114

रूप डफ ताल आदि वाद्य बजते हैं, घनघोर अनहद नाद होता है, धर्म रूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोल लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह पिचकारियां चलती हैं। एक ओर से प्रश्न होता है कि तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रश्न होता है, तुम किसके लड़के हो। बाद में होली के रूप में अष्टकर्मरूप ईंधन को अनुभवरूप अग्नि मे जला देते हैं और फलतः चारों ओर शान्ति हो जाती है। इसी शिवानन्द को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है—

आयो सहज बसन्त, खेलैं सब होरी होरा ॥
इत बुद्धि दया छिपा बहुठाढी,
इत जिय रतन सजै गुन जौरा ।।
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं,
अनहद शब्द होत घन घोरा ॥
धरम सुराग गुलाल उड़त है,
समता रग दुहु मे घोरा ॥[1]………

इसी प्रकार चेतन से समतारूप प्राणप्रिया के साथ "छिमा बसन्त" में होली खेलने का आग्रह करते है। प्रेम के पानी मे करुणा की केसर घोलकर ज्ञान ध्यान की पिचकारी से होली खेलते है। उस समय गुरु के वचन की मृदंग है, निश्चय व्यवहार नय ही ताल है, सयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चोला है, भाव ही गुलाल है जिसे अपनी झोरी में भर लेते है, धरम ही मिठाई है, तप ही मेवा है, समरस से आनन्दित होकर दोनां होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियो से अभिव्यक्त करती है—

चेतन खेलौ होरी ।।
सत्ता भूमि छिपा बसन्त में, समता-पान प्रिया सग गोरी ॥
मन को मार प्रेम को पानी, तामें करुना केसर घोरी।
ज्ञान ध्यान पिचकारी भरि भरि, आप मे छार होरा होरी ॥
गुरु के वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनों डफ ताल ठकोरी ।।
संजय अतर विमल व्रत चोला भाव गुलाल भरै भर झोरी ।।
धरम मिठाई तप बहुमेवा, समरस आनन्द अमल कटोरी ॥
द्यानत सुमति कहैं सखियन सों, चिरजीवो यह जुग जुग जोरी ।।[2]

सन्तों ने परमात्मा के साथ भावनात्मक मिलन करने के लिए आध्यात्मिक विवाह किया, मंगलाचार भी हुए और उसके वियोग से सन्तप्त भी हुए। बनारसीदास ने भी परमात्मा की स्थिति में पहुंचाने के लिए आध्यात्मिक विवाह, वियोग

---

1. वही, पृ. 119
2. हिन्दी पदसंग्रह, पृ. 121

और समरस होकर परमात्मा के रंग में रंग जाने के लिए होली खेली। संत कवि कबीर आदि अपनी चुनरियों को साहब से रंगवाते रहे और उसे ओढ़कर परमात्मा के रंग में समरस हो गये।[1] ये निर्गुणियां संत आध्यात्मिकता, अद्वैतवाद और पवित्रता की सीमा में घिरे हैं। उनकी साधना में विचार और प्रेम का सुन्दर समन्वय हुआ है तथा ब्रह्म जिज्ञासा से वह अनुप्राणित है। कवि द्यानतराय ने भी इसी परम्परा का अवलम्बन लिया है। निर्गुण और सगुण दोनों परम्पराओं को उन्होंने स्वीकारा है।

समूचा हिन्दी जैन साहित्य शान्ता भक्ति से परिपूरित है उसका हर कवि एक ओर परमात्मा का भक्त है तो दूसरी ओर आत्मकल्याण करने के लिए तत्पर भी दिखाई देता है, इस दौर में वे अपनी पूर्व परम्परा का अनुकरण करते हुए संतों की श्रेणी में बैठ जाते हैं कविवर द्यानतराय एक उच्च कोटि के साधक भक्त कवि थे। उनका साहित्य संत कवियों की विचारधारा से मेल खाता है। यह बात अवश्य है कि द्यानतराय के साहित्य में जैनदर्शन के तत्त्व घुले हुए हैं जबकि सन्त अपरोक्षरूप से उन तत्त्वों को स्वीकारते हुए नजर आते हैं। द्यानतराय, योगीन्दु, मुनि रामसिंह बनारसीदास, आनन्दघन, भैया भगवतीदास आदि जैसे जैन कवियों की परम्परा लिए हैं। सन्त कवि भी परम्परा से प्रभावित रहे हैं। इस प्रकार जैन और जैनेतर सन्त अपने-अपने दर्शनों की बात करते हुए प्रथक्-प्रथक् दिखाई देते हैं। परन्तु वस्तुतः उनकी विचारधारा के मूल तत्त्व उतने भिन्न नहीं। द्यानतराय जैसे जैन कवि ने ऐसी ही परम्परा मे घुल-मिलकर अपनी प्रतिज्ञा और साहित्य से सन्त साहित्य को प्रशंसनीय योगदान दिया है।

आश्चर्य की बात है कि ऐसे प्रतिभा सम्पन्न कवि का उल्लेख मात्र इसलिए नहीं किया गया कि वह जैन था। अन्यथा आज उसे अन्य जैनेतर कवियों जैसा स्थान मिल गया होता। रीतिकाल के भोग-विलास और शृंगार भरे वातावरण में अपनी कलम को अध्यात्मनिरूपण और अहेतुक भक्ति की ओर मोड़ना साधारण प्रतिभा का कार्य नही था। भौतिकता की चकाचौंध में व्यक्ति अन्धा हो गया था अतः उसे सुमार्ग पर लाने के लिए उन्होंने संसार की असारता सिद्ध करते हुए संसारी जीव को अपना कल्याण करने के लिए प्रेरित किया। उनका साहित्य भवसागर से पार उतरने के लिए प्रेरणा स्रोत है। सन्तों ने भी दूषित बाह्य क्रियाकांडों के विरुद्ध आवाज उठाकर संसारी जीव को आत्मकल्याण करने की सीख दी थी। इस प्रकार दोनों की वैचारिक विशेषतायें परम्परा से मेल खाती हैं। अतः हिन्दी साहित्य में द्यानतराय जैसे जैन कवियों के योगदान का यथोचित मूल्यांकन करना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास अधूरा ही कहलायेगा।

---

1. कबीर, पृ. 352–3, धर्मदास, सन्तवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 37, गुलाबसाहब की बानी, पृ. 22.

दूसरे ब्रह्म जयसागर भट्टारक महीचन्द्र के शिष्य थे। उनका काल लगभग 17 वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित किया जा सकता है। उनके सीता हरण, चतुर्विंशति जिन-स्तवन, जिनकुशल सूरि चौपई आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सीताहरण ग्रन्थ को आद्योपांत पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने यहां विमल सूरि की परम्परा का अनुसरण किया है। काव्य को शायद मनोरंजन बनाने की दृष्टि से इधर-उधर के छोटे आख्यानों को भी सम्मिलित कर लिया है। ढाल, दोहा, त्रोटक, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग किया है। हर अधिकार में छन्दों की विविधता है काव्यात्मक दृष्टि से इसमें लगभग सभी रसों का प्राचुर्य है। कवि की काव्य कुशलता शृंगार, वीर, शांत, अद्भुत, करुण आदि रसों के माध्यम से अभिव्यञ्जित हुई है। बीच-बीच में कवि ने अनेक प्रचलित संस्कृत श्लोकों को भी उद्धृत किया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अधिक महत्व है 'फोकट' जैसे शब्दों का प्रयोग आकर्षक है। भाषा में जहां राजस्थानी, मराठी, और गुजराती का प्रभाव है वहीं बुन्देलखण्डी बोली से भी कवि प्रभावित जान पडता है। मराठी और गुजराती की विभक्तियों का तो कवि ने अत्यन्त प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि ब्रह्म जयसागर ने यह कृति ऐसे स्थान पर लिखी है जहा पर उन्हें चारों भाषाओं से मिश्रित भाषा का रूप मिला हो। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसका प्रकाशन उपयोगी जान पड़ता है। भाषा विज्ञान के अतिरिक्त मूल-कथा के पोषण के लिए प्रयुक्त विभिन्न आख्यानों काम लेखन भी इसकी एक अन्यतम विशेषता है।

परिशष्ट 2

अध्ययनगत मध्यकालीन कतिपय हिन्दी जैन कवि

1. अचलकीर्ति
2. अजराज पाटणी
3. अभयचन्द्र
4. अभयकुशल
5. अभयनन्दि
6. आनन्दघन महात्मा
7. ईश्वरसूरि
8. उदयराज जती
9. कनककीर्ति
10. कनककुशल
11. कल्याणकीर्ति
12. काशीराम
13. किशनसिंह
14. कुमुदचन्द्र
15. कुंवरसिंह
16. कुशललाभ
17. कृष्णदास
18. केशव
19. शांतिरंग गणि
20. खड्गसेन
21. खुशालचन्द्र काला
22. खेतल
23. गणि महानन्द
24. गुण सागर

25. गुण कीर्ति
26. ज्ञान कीर्ति
27. ज्ञानकीर्ति
28. ज्ञानभूषण
29. चतरूमल
30. चरित्रसेन मुनि
31. चन्द्रकीर्ति
32. छीहल
33. जगतकीर्ति
34. जगतराम
35. जगजीवन
36. पं. जयचन्द
37. जयकीर्ति
38. जयधर्म
39. जयलाल मुनि
40. जयसागर उपाध्याय
41. जिनचन्द्र
42. जिनदास पांडे
43. जिनरंगसूरि
44. जिनसमुद्रसूरि
45. जिनसेन
46. जिन हर्ष
47. जीवंधर
48. जोधराज गोदीका
49. टीकम
50. ठकुरसी
51. त्रिभुवन कीर्ति
52. त्रिभुवनचन्द्र
53. दामो
54. दामोदर
55. दिलाराम
56. दीपचन्द
57. देवकुशल
58. देवचन्द्र
59. देवब्रह्म
60. देवीदास
61. दौलतराम
62. द्यानतराय
63. धर्मरुचि
64. धर्मवर्धन
65. नन्दलाल
66. नरेन्द्र कीर्ति
67. नवलराम
68. नाहर जटमल
69. निहालचन्द
70. पद्मनन्दि
71. पल्लिल
72. प्रभाचन्द्र
73. ब्रह्मअजित
74. ब्रह्म कपूरचन्द
75. ब्रह्म गणेश
76. ब्रह्म जयराज
77. ब्रह्म गुलाल
78. ब्रह्म जयसागर
79. ब्रह्म जिनदास
80. ब्रह्मधर्मसार
81. ब्रह्मरायमल्ल
82. ब्रह्मयशोधर
83. बख्तराम शाह
84. बनारसीदास
85. बालचन्द
86. बुलाकीदास
87. बूचराज
88. भगवतीदास
89. चन्द्रसेन
90. भवानीदास
91. भाऊ
92. भुवनकीर्ति
93. भूधरदास
94. भैया भगवतीदास

95. मनराम
96. मनोहरदास
97. मतिशेखर
98. महनन्दि
99. महीचन्द्र भट्टारक
100. मानकवि
101. मानसिंह मान
102. मेघराज
103. मेरु नन्दन उपाध्याय
104. मोहनदास ठोर
105. मंगतराय
106. यशोधर
107. यशोविजय
108. रत्नचन्द (प्रथम)
109. रत्नकीर्ति
110. रत्नचन्द (द्वितीय)
111. राजचन्द्र
112. राजमल पांडे
113. राजशेखर सूरि
114. रामचन्द्र
115. रायचन्द्र
116. रूपचन्द
117. रूपचन्द्र पांडे
118. लक्ष्मीवल्लभ
119. लालचन्द
120. लालचन्दलब्धोदय
121. लावण्य समय
122. लोहट
123. वादिचन्द
124. विजयकीर्ति
125. विश्वभूषण
126. विजयकीर्ति
127. विद्धण
1?8. विनयचन्द मुनि
129. विनयप्रभ उपाध्याय
130. विनय विजय
131. विनय समुद्र
132. विनय सागर
133. विनोदीलाल
134. विद्याभूषण
135. विद्यासागर
136. विहारीदास
137. वीरचन्द्र
138. संयमसागर
139. संवेगसुन्दर
140. सकलकीर्ति (प्रथम)
141. सकलकीर्ति (द्वितीय)
142. सकलभूषण
143. सधारू
144. समयसुन्दर
145 साधुकीर्ति
146. सुन्दरदास
147. सुन्दरसूरि
148. सुमतिकीर्ति
349. सुमतिसागर
150. सुरेन्द्रकीर्ति
151. सोमकीर्ति
152. सोमसुन्दर सूरि
153. शंकरदास
154. शुभचन्द्र (प्रथम
155. सुभचन्द्र (द्वितीय)
156. शालिवाहन
157. शिरोमणिदास
158. सुभचन्द्र
159. हर्षकीर्ति
160. हीरकलश
161. हीरानन्द मुकीम
162. हीराचन्द पं.
163. हीरानन्दसूरि
1 4. हेमविजय
165. हेमराज
166. हेमराज गोदीका
167. हेमसागर
168. हरिचन्द
159. श्री पद्मतिलक

परिशिष्ट 3

सहायक ग्रन्थों की सूची

(क) संस्कृत :

1. अध्यात्म रहस्य—पं. आशाधर
2. ऋग्वेद—श्रीपाद सातवलेकर, औन्धनगर, 1940
3. कठोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर
4. छान्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर
5. तत्वार्थ सूत्र—मथुरा, वी. नि. सं. 2477
6. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय—अमृतचन्द्रसूरि
7. भगवत् गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर
8. पाणिनिसूत्र—वाराणसी
9. समाधितन्त्र—श्री पूज्यपाद, वीर सेवा मंदिर, सरसावा, सहारनपुर प्रथम संस्करण, वि. सं. 1996.
10. योगशास्त्र—एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल
11. श्वेताश्वतरोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर
12. श्रीमद्भागवत—गीता प्रेस, गोरखपुर

(ख) पालि-प्राकृत-अपभ्रंश :

1. अष्टपाहुड—सं. पं. पन्नालाल जैन, महावीरजी
2. थेरी गाथा—सं. जगदीश काश्यप, 1956
3. उत्तराध्ययन सूत्र—कलकत्ता, 1937
4. दोहा कोश—सं. राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-3 प्रथम संस्करण, वि. सं. 2014
5. धर्मबिन्दु—हरिभद्रसूरि, सार्वजनिक पुस्तकालय, अह., 1951
6. ठाणांग—अहमदाबाद, 1937

7. पंचास्तिकाय-कुन्दकुन्दाचार्य–रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, वी. नि. सं. 2441
8. परमात्म प्रकाश-योगीन्दु मुनि—सं. डॉ. ए. एन. उपाध्ये—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1937
9. पाहुड़ दोहा-(मुनि रामसिंह)—डॉ. हीरालाल जैन, कारंजा, 1933
10. प्रवचसार—बम्बई, 1935
11. योगसार (योगीन्दु मुनि)—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, 1937
12. समवायांग—राजकोट, 1962
13. सावयधम्मदोहा (देवसेन)—सं. डॉ. हीरालाल जैन, कारंजा, 1932
14. समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य)—पाटनी दि. जैन ग्रन्थमाला, मरोठ, मारवाड़
15. सन्मति तर्क प्रकरण—अहमदाबाद
16. विशेषावश्यक भाष्य—अहमदाबाद, 1937

(ग) हिन्दी :

1. अध्यात्म पदावली—सं. राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, 1954
2. अर्धकथानक (बनारसीदास)—नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1943
3. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद—डॉ. वासुदेव सिंह, समकालीन प्रकाशन, वाराणसी, स. 2022
4. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक—डॉ. प्रेमचन्द्र जैन, सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, प्र. संस्करण,

(a) आदिकाल के अज्ञात हिन्दी रासकाव्य—डॉ. हरीश मंगल प्रकाशन जयपुर 1974

(b) आदिकाल की प्रामाणिक रचनाएँ—डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त नई दिल्ली, 1976

5. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ. हरिकृष्ण पुरोहित, जयपुर, 1974
6. आनन्दघन पद संग्रह—अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई
7. आनन्दघन बहोत्तरी—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
8. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी

9. उपदेश दोहाशतक—नई दिल्ली
10, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह—कलकत्ता, वि. सं. 1994
11. कबीर दर्शन—डॉ. रामजीलाल 'सहायक', लखनऊ विश्वविद्यालय, प्र. संस्करण, 1962.
12. काव्य में रहस्यवाद—डॉ. बच्चूलाल अवस्थी, कानपुर, 1965
13. कविता रत्न—बम्बई, 1967
14. कबीर—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, पंचम संस्करण, 1954
15. कबीर का रहस्यवाद—डॉ. रामकुमार वर्मा, सन् 1921
16. कबीर की विचारधारा—डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, द्वितीय संस्करण, सं. 2014
17. कबीर ग्रन्थावली—सं. श्याम सुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, छठा संस्करण, सं. 2013
18. कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह
19. कबीर बीजक—वाराणसी
20. कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तम लाल, साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस, प्र. संस्करण, सं. 2018
21. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, सं. 2005
22. ज्ञानदर्पण—जैन मित्र कार्यालय, बम्बई, सन् 1911
23. गुरु ग्रन्थ साहेब–
24. गोरखबानी संग्रह—बड़थ्वाल, द्वि. संस्करण
25. गुलाल साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस
26. घनानन्द और आनन्दघन—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रसाद परिषद्, काशी, प्रथमावृत्ति, सं. 2002
27. छहढाला–(दौलतराम)—सोनगढ़, वी. नि. सं. 2489
28. छहढाला (बुधजन)—लखनऊ, सन् 1898
29. चेतन कर्म चरित्र भाषा (भैया भगवतीदास)—लखनऊ
30. जस विलास—यशोविजय उपाध्याय
31, जायसी का पद्मावत—डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, प्र. संस्करण, अशोक प्रकाशन, दिल्ली-6, सन् 1963

32. जिनेश्वर पद संग्रह—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
33. छायावाद और वैदिक दर्शन—डॉ. प्रेमप्रकाश रस्तोगी, दिल्ली, 1971
34. जायसी ग्रन्थावली—सं. रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पंचम संस्करण, सं. 2008
35. जैन कवियों का इतिहास—मूलचंद वत्सल, साहित्य प्रचारक समिति, जयपुर
36. जैन गुर्जर कविओ—मोहनलाल दुलीचन्द देसाई, बम्बई, वि. सं. 1982
37. जैन धर्म सार—सं. जिनेन्द्र वर्णी, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1974
38. जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि—डॉ. प्रेमसागर जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1964
39. जैन क्रिया कोष-(दौलतराम)—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
40. जैन स्तोत्र संग्रह प्रथम भाग—अहमदाबाद, 1932
41. जैनशतक (भूधरदास)—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता द्वि. आवृत्ति, 1935
42. जैन शोध और समीक्षा—डॉ. प्रेमसागर जैन, महावीर अति. क्षेत्र, जयपुर-प्रथम संस्करण, वी. नि. सं 2496
43. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत—डॉ. वचनदेव कुमार, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, प्र. संस्करण, 1964
44. तुलसी ग्रन्थावली—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
45. दादूदयाल की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग
46. दौलत जैन पद संग्रह—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता–7
47. दोहाकोश—सं. राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना–3, प्र. संस्करण, सं. 2014
48. दोहा परमार्थ (रूपचन्द)—कलकत्ता
49. द्यानत पद संग्रह (द्यानतराय)—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता–7
50. धर्मरत्नोद्योत (जगमोहनदास)—बम्बई, सन् 1912
51. धर्मविलास (द्यानत विलास)—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्र. संस्करण, 1914
52. नाथ सम्प्रदाय—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, 1950

53. नाटक समयसार (बनारसीदास)—दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, द्वि. संस्करण वि. सं० 2019

54. पन्थी गीत (छीहल)—

55. प्रवचनसार-परमागम (वृन्दावन)—बम्बई, सन् 1908

56. परमार्थ जकड़ी संग्रह—कलकत्ता

57. पार्श्व पुराण (भूधरदास)—ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वि. संस्करण सं. 1975

58. प्राचीन काव्यों की रूप-रेखा—अगरचन्द नाहटा, भा. वि. मं. शोध. प्र. बीकानेर, 1962

59. बनारसीविलास (बनारसीदास)—नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला, जयपुर, सं. 2011

60. बारहमासा संग्रह—जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता

61. बारह भावना संग्रह—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता

62. बुधजन सतसई—जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता, वी. नि. स. 2477

63. बुधजन विलास—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता

64. बौद्ध संस्कृति का इतिहास—डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर, आलोक प्रकाशन, नागपुर, 1972

65. ब्रह्मविलास (भैया भगवतीदास)—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वि. संस्करण, 1926

66. भक्तिकाव्य मे रहस्यवाद—डॉ. रामनारायण पांडे, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली–7, प्र. संस्करण सन् 1966

67. भारत की अन्तरात्मा—अनु. विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी

68. भीखा साहब की बानी—वेलवेडियर प्रेस

69. भूधरविलास (भूधरदास)—जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता
मध्यकालीन धर्मसाधना—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद, प्र. संस्करण, 1952

70. संत कबीर की साखी—वेंकटेश्वर

71. सुन्दर दर्शन—डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, किताब महल, इलाहाबाद, प्र. संस्करण, 1953

72. चरनदास की बानी—

73. संतकाव्य—परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद प्र. संस्करण, 1952

74. संतसुधासार—सं. वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1953

75. साहित्यिक निबन्ध—सं. डॉ. त्रिभुवन सिंह, वाराणसी, प्र. संस्करण, सन् 1970

76. सार सिखामन रास -संवेग सुन्दर उपाध्याय—

77. संत साहित्य—डॉ. सुदर्शन सिंह मजीठिया, रूप कमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. संस्करण, सन् 1962

78. सूर और उनका साहित्य—डॉ. हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, तृतीय संस्करण

79. सूर साहित्य—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, सं. 1993

80. सूर की काव्यसाधना—डॉ. गोविन्दराम शर्मा नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1970

81. संत वाणी संग्रह—

82. सिद्ध साहित्य—डॉ. धर्मवीर भारत, 1955

83. सीमंधर स्वामी स्तवन (विनयप्रभ उपाध्याय)—

84. मध्यकालीन हिन्दी संत विचार—डॉ. केशनी प्रसाद चौरसिया, हिन्दु- और साधना स्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, प्र. सं. 1952

85. मध्यकालीन प्रेम साधना—परशुराम चतुर्वेदी-साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्र. सं. 1965

86. मनमोदन पंचशती (छत्रपति)—बड़वानी, सं. 2443

87. मनराम विलास (मनराम)—

88. भट्टारक सम्प्रदाय—डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1958

89. मिश्र बन्धु विनोद—भाग–1–2, गंगा पुस्तक माला, कार्यालय, लखनऊ, द्वि. संस्करण, सं 1984

90. मोह विवेक युद्ध (बनारसीदास)—वीर पुस्तक भण्डार, वी. नि. सं. 2481

91. मीरा की प्रेम साधना—भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', राजकमल प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण

92. मीरा पदावली—विष्णुकुमार मंजु

93. मीरांबाई—डॉ. प्रभात, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, प्र. संस्करण, सन् 1965

9 . मोहन बहुतरी—वरैया स्मृति ग्रन्थ—डॉ. कुन्दनलाल जैन वरैया स्मृति ग्रन्थ

95. रहस्यवाद—परशुराम चतुर्वेदी

96. राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व और कृतित्व—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

97. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, भाग 1–5, महावीर शोध संस्थान, जयपुर

98. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, प्रथम भाग—सं. मोतीलाल मैनारिया, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर, सन् 1942

99. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची-चतुर्थ भाग—सं. अगरचन्द नाहटा, साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय, सन् 1954

100. रामचरित मानस—सं. माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

101. सूफी मत: साधना और साहित्य—रामपूजन तिवारी, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्र. संस्करण, सं. 2013

102. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, तृतीय भाग—सं. उदयसिंह भटनागर, साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय,

104. रैदास जी की बानी—बेलवेडियर प्रेस

105. बृहज्जिनवाणी संग्रह—जैन भवन, कलकत्ता

106. विनती संग्रह—बम्बई, सन् 1934

107. विनय पत्रिका—गीता प्रेस, गोरखपुर

108. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का पन्द्रहवां त्रैवार्षिक विवरण (खोज रिपोर्ट, सन् 1932–34)—नागरी प्रचारिणी सभा काशी

109. हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, प्र. संस्करण, 1945
110. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, लखनऊ, प्र. संस्करण, सं. 2007
111. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर, प्र. संस्करण सन् 1961
112. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—नाथूराम प्रेमी, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सं. 1973
113. हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि—डॉ. प्रेमसागर जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1964
114. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन—डॉ. नेमिचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
115. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—डॉ. कामता प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1947
116. हिन्दी पद संग्रह—डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, महावीर अतिशय क्षेत्र, जयपुर, प्र. संस्करण, 1965
117. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड—सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद् प्र. भाग, प्रथम संस्करण, सं. 2015
118. हिन्दी साहित्य; एक परिदृश्य—डॉ. शिवनन्दन प्रसाद द्विवेदी, 1969
119. हिन्दी साहित्य—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, देहली. 1952
120. हिन्दी साहित्य का अतीत—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, पृ. संस्करण सं. 2015
121. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
122. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-3, द्वि. संस्करण, सं. 2013
123. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 2009

224. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग-1—सं. डॉ. राजबली पाण्डेय, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं. 2014

225. हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां—डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, अष्टम संस्करण, सन् 1971

226. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य——डॉ. सरला शुक्ल, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं. 2013

(घ) निबन्ध

1. मोहनदास ठोर (1643-1750—कुन्दनलाल जैन—जैन सिद्धांत भास्कर, किरण 2, अंक–25, '1968

2. हिन्दी का जैन साहित्य-गदाधरसिंह—आदिकाल और संतकाव्य की पृष्ठभूमि—भारतीय जैन साहित्य संसद, भाग 1, पृ. 49

3. कविवर बनारसीदास और उनकी रस परम्परा-जमनालाल जैन—भारतीय जैन सा. संसद, भाग 1

4. देवीदास—परमानंद शास्त्री—अनेकान्त वर्ष 11, किरण 7-8, अक्टूबर, 1952, पृ. 273

5. कविवर पं. दौलतराम-परमानंद शास्त्री—अनेकान्त, वर्ष 11, किरण 3, मई 1952, पृ. 252

6. ब्रह्मजिनदास—अगरचन्द नाहटा—अनेकान्त, वर्ष 11, किरण 19, नवम्बर, 1952

7. हेमराज गोदीका—परमानन्द शास्त्री—प्रवचनसार हिन्दी अनुवाद—अनेकान्त, वर्ष 11, किरण 10, पृ. 348

8. द्यानतराय—परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त वर्ष 11, कि. 4-5, जून-जुलाई, 1952

9. बुधजन और उनकी रचनायें—परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त वर्ष 11, कि. 6, अगस्त, 1952

10. कवि भूधरदास और उनकी विचारधारा—परमान्द शास्त्री——अनेकान्त वर्ष 12, कि. 10, मार्च 54

11. कवि छीहल—परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त वर्ष 21, कि. 3, अगस्त 68

12. राजस्थान के जैन कवि और उनकी रचनायें—गजानन मिश्र—अनेकान्त, वर्ष 25, कि. 4–5 दिसं. 1972

13. ढूंढाडी कवि ब्रह्म की रचनायें-गंगाराम— अनेकान्त वर्ष 23, कि. 3, खिलकाना वासी अं क1970
14. ब्रह्म यशोधर-परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त, अगस्त, 1970
15. कवि बिनोदीलाल-परमान्द शास्त्री—अनेकान्त, अक्टूबर 1972
16. हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और—अनेकान्त, वर्ष 24, कि 4 अक्टू. उनकी अप्रकाशित रचनायें-परमानन्द शास्त्री 1971
17. जैन भक्तिकाव्य में प्रपत्ति—अनेकान्त वर्ष 24, कि. 4, अक्टू. 1974 डॉ. गंगाराम गर्ग
18. पं. जयचन्द और उनकी साहित्य सेवा—अनेकान्त, वर्ष 13, कि. 7, परमानन्द शास्त्री जनवरी 55
19. विदर्भ के दो हिन्दी काव्य—अनेकान्त, वर्ष 19, कि 12, अप्रेल 1966 विद्याधर जोहरापुरकर
20. आचार्य सकलकीर्ति और उनकी—अनेकान्त 19, कि. 1–2. अप्रैल, हिन्दी सेवा–कुन्दनलाल जैन 1966
21. राजस्थान के जैन मुनि पद्मनन्दी—अनेकान्त, वर्ष 22, कि. 6. फर. परमानन्द शास्त्री 1970
22. भैया भगवतीदास-परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त, वर्ष 14, कि. 8, मार्च, 1957
23. कवि ठाकुरसी और उनकी कृतियां—अनेकान्त, वर्ष 14, कि. 1, अगस्त परमानन्द शास्त्री 1956
24. पं. भागचन्द्र जी-परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त, वर्ष 14, कि, 1, अगस्त, 1956
25. हिन्दी भाषा के कुछ ग्रन्थों की—अनेकान्त, वर्ष 13, कि. 4-5 अक्टूबर नई खोज-परमानन्द शास्त्री नवम्बर, 9154
26. पं. दीपचन्द्र जी शाह और उनकी—अनेकान्त वर्ष 13, कि. 4-5अक्टूबर रचनायें—परमानन्द शास्त्री नवम्बर, 1954
27. ब्रह्मजिनदास-परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त, वर्ष 24, कि. 5, दिसं.
28. जैन सन्त दानकीर्ति जीवन एवं—अनेकान्त, वर्ष 15, कि 1, अप्रेल साहित्य-डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल 1962
29. दौलतराम कृत जीवंधर चरित्र: —अनेकान्त वर्ष 15, कि. 1, अप्रैल, एक परिचय-अनूपचन्द 1962
30. टेकचन्द और उनकी रचनायें—अनेकान्त, वर्ष 15, कि. 2. जून, 1962 अगरचन्द नाहटा

31. तत्त्वोपदेश छहढाला : एक समालोचन—अनेकान्त, वर्ष 15, कि. 2, जून
    दीपचंद पांड्या 1962
32. जैन अपभ्रंश का मध्यकालीन हिन्दी—अनेकान्त वर्ष 16, कि. 2-3,
    के भक्तिकाव्य पर प्रभाव जुलाई-अगस्त, 1962
    डॉ. प्रेम सागर जैन
33. कविवर बनारसीदास की सांस्कृतिक-अनेकान्त वर्ष 15, कि. 4, अक्टू.
    देन-रवीन्द्रकुमार जैन 1962
34. आदिकालीन 'चर्चरी' रचनाओं की-अनेकान्त, वर्ष 15, कि. 4, अक्टूबर
    परम्परा का उद्भव और विकास 1962
35. राजस्थानी जैन वेलि साहित्य:—अनेकान्त वर्ष 15, कि. 4, अक्टू. 62
    एक परिचय—डॉ. नरेन्द्र भानावत
36 मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में—अनेकान्त, वर्ष 15 कि. 6, फर. 63
    प्रेमभाव—डॉ. प्रेमसागर जैन
37. अलभ्य ग्रन्थों की खोज—अनेकान्त, वर्ष 16, कि. 1, अप्रैल 1963
    —सुकाशेलदास चउपइ
38. ज्ञात कवियों की कतिपय अज्ञात—अनेकान्त, वर्ष 23 कि. 5-6 दिसंबर
    रचनायें–गंगाराम गर्ग 70-71
39. कवि देविदास का परमानंद विलास—अनेकान्त वर्ष 20, कि. 4, अक्टू.
    डॉ. भागचन्द जैन 1967
40. भगवतीदास का वैद्यविनोद—अनेकान्त वर्ष 21 कि. 2, जून 1967
    डॉ. जोहरापुरकर
41. राजस्थान के जैन कवि और उनकी—अनेकान्त 26, कि. 2. मई-जून
    रचनायें-गजानन मिश्र 1973
41. आचार्य सोमकीर्ति—अनेकान्त वर्ष 16 कि. 2, जून 63
    डॉ. कस्तूरचंदकासलीवाल
43. बनारसीदास के काव्य में भक्तिरस—अनेकान्त वर्ष 16 कि. 3, अक्टू.
    डॉ. प्रेमसागर 63
44. अलभ्य ग्रन्थों की खोज —अनेकान्त वर्ष 16 कि. 4, अक्टू. 63
    डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल
45. दिगम्बर कवियों के रचित फागु—अनेकान्त वर्ष 16 कि. 5, नवम्बर 63
    काव्य-अगरचंद नाहटा
46. ठकुरसीकृत पंचेन्द्रिय वेलि—अनेकान्त वर्ष 16, कि. 6, दिसं. 1963
    डॉ. नरेन्द्र भानावत

47. कवि वल्हया बूचिराज—अनेकान्त वर्ष 16 कि. 6, फर. 1964
परमानन्द शास्त्री

48. हिन्दी के अलभ्य ग्रन्थों की खोज—अनेकान्त वर्ष 16 कि. 6, फर. 64
डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

49· कविवर देवीदास-परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त वर्ष 11, कि. 7-8 सितम्बर अक्टू. 52

50. माली रासो (जिनदासका)—अनेकान्त वर्ष 23, कि. 2, जून, 1970
परमानन्द शास्त्री

51. हिन्दी भाषा के कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ—अनेकान्त वर्ष 23 कि. 2, जून 1970
पन्नालाल अग्रवाल

52. सूरदास और हिन्दी का जैन पद काव्य—अनेकान्त वर्ष 19, कि. 2, अग. 1966
डॉ. प्रेमसागर जैन

53. अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान—अनेकांत वर्ष 20 कि. 4, अक्टू. 1967
परमानन्द शास्त्री

54. हिन्दी के जैन कवि और काव्य—अनेकान्त वर्ष 19, कि. 6, 1967

55. भट्टारक विजयकीर्ति —अनेकान्त वर्ष 17, कि. 2, जून 1964
डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

56. दिगम्बर कवियों के रचित —अनेकांत वर्ष 17, कि. 2, जून 1964
बेलि साहित्य-अगरचद नाहटा

57. प्रद्युम्न चरित्र का रचनाकाल व—अनेकांत वर्ष 14 ,कि. 6, जून 1957
रचयिता–अगरचंद नाहटा

58. पुराने साहित्य की खोज—अनेकांत वर्ष 14, कि. 6, जून, 1957

59. हिन्दी के नये साहित्य की खोज—अनेकांत वर्ष 14, कि. 12, जुलाई 1957
डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल

60. शान्तिनाथ फागु (भ. सकलकीर्ति—अनेकान्त वर्ष 19. कि. 4, अक्टू. 1966
कुन्दनलाल जैन

61. समयसार के टीकाकार —अनेकान्त वर्ष 12, कि. 7, दिसं. 1953
रूपचन्द जी-अगरचन्द नाहटा

62. पं. शिरोमणिदास विरचित धर्मसार—अनेकान्त वर्ष 22, कि. 1, अप्रैल 1968
डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

63. जैन काव्य में विरहानुभूति—अनेकान्त वर्ष 22, कि. 1, अप्रैल 1969
डॉ. गंगाराम गर्ग

64. आध्यात्म बत्तीसी (राजमहल)—अनेकान्त, वर्ष 21, कि. 4, अक्टू.
अगरचंद नाहटा 1938

65. ज्ञानसागर की स्फुट रचनायें—अनेकान्त वर्ष 21, कि. 4, अक्टू. 1968
विद्याधर जोहरापुरकर

66. भट्टारक विजयकीर्ति —अनेकान्त वर्ष 20, कि. 3, अग. 1967
कस्तूरचन्द कासलीवाल

67. महाकवि समयसुंदर और उनका दानशील—अनेकान्त वर्ष 20, कि. 3,
तप भावना संवाद-सत्यनारायण स्वामी अगस्त 1967

68. अग्रवालों का जैन संस्कृति में योगदान—अनेकान्त वर्ष 20, कि. 3,
परमानन्द शास्त्री अगस्त 1967

69. पाण्डे लालचन्द का वरांगचरित—अनेकांत वर्ष 22, कि. 3-4 अग.
डॉ. भागचंद भास्कर अक्टूबर 1939

70. रूपक काव्य परम्परा —अनेकांत वर्ष 14, कि. 9, अप्रैल 1957
डॉ. परमानन्द शास्त्री

71. कवि विनोदी लाल-परमानन्द शास्त्री—अनेकान्त वर्ष 25, कि. 4–5
अक्टूबर 1972,

72 अज्ञात जैन कवि और उनकी रचनाये—अनेकान्त वर्ष 24, कि. 1 अप्रै.
डॉ. गंगाराम गर्ग 1971

73. हिन्दी के कुछ अज्ञात जैन कवि और उनकी—अनेकांत वर्ष 24, कि 1,
अप्रकाशित रचनायें-परमानन्द शास्त्री अप्रैल 1971

74. हिन्दी के अज्ञात जैन कवि—अनेकांत वर्ष 24, कि. 2, जून 1971
परमानंद शास्त्री

75. संत कबीर और द्यानतराय—अनेकांत वर्ष 24, कि. 2, जून 1971
गंगाराम गर्ग

76. पांडे जीवनदास का बारहमासा—अनेकान्त वर्ष, 34, कि. 2, जून
गिन्नीलाल 1971

77. भव्यानंद पंचाशिका—अनेकांत

78. अम्बिका कथा-अगरचंद नाहटा—अनेकांत

79. गुणकीर्ति कृत विवेक विलास—अनेकांत
विद्याधर जोहरापुरकर

80. हि. जै. सा. के कुछ अज्ञात जैन कवि—अनेकांत
डॉ. ज्योतिप्रसाद

81. ब्रह्मज्ञान सागर और उनकी रचनायें—अनेकांत
कुन्दनलाल

82. बुंदेलखंड के कविवर देवीदास—अनेकांत
83. मुनि केशवदास की रचनायें—जैन संदेश शोधांक, 23 अगस्त, 1966
अगरचंद नाहटा, सं. 1753
दीपकबत्तीसी-
84. पं. देवीदास जी और उनका परमानन्द—जैन सन्देश शोधांक 27
विलास-हीरालाल सि. शास्त्री
85. अनित्यपंचाशत का प्राचीन पद्यानुवाद—जैन सन्देश शोधांक 26-27
शीतल सागर
86. अज्ञात कवि कृत शीलस—डॉ. सनत कुमार रंगारिया श्रमण, मई1969
87. जैन पदों में रागों का प्रयोग—श्रमण, मई, 9172
प्यारेलाल
88. बनारसीदास का रसदर्शन—श्रमण, अप्रैल, 1972
89. जैन मिस्टिसिज्म—श्रमण, अप्रैल, 1973
,, श्रमण, मई, 1973
90. स्वयंभू और तुलसीदास—श्रमण, जुलाई 67
प्रेम सुमन
91. अध्यात्मवाद-देवेन्द्रमुनि शास्त्री—श्रमण नवं. दिसं. 1967
92 दि. जैन कर्त्ता और उनके ग्रन्थ—जैन हितैषी

(च) हस्तलिखित प्रतियों का खोज विवरण

1. अनस्तमितव्रत संधि-हरिचन्द—दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर, जयपुर, गुटका नं. 171
2. आदीश्वर फागु—आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर
3. आणंदा-आनंदतिलक—आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर
4. कर्मघटावलि-कनककीर्ति—बधीचन्द दिगम्बर जैन मंदिर, जयपुर
5. चेतन पुद्गल ढमाल—दिगम्बर जैन मंदिर, नागवा बूंदि
6. चौबीस स्तुति पाठ—दि. जैन पंचायती मंदिर, बड़ौत
7. धनपालरास—आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर
8. पंचसहेलीगीत—लूणकरण जी पाण्ड्या मंदिर, जयपुर
9. प्रद्युम्न चरित्र—आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर
10. पार्श्वजिन स्तवन—खैराबाद के गुटके में निबद्ध
11. मनरामविलास—ठाठियों का दि. जैन मंदिर जयपुर, वेष्टन नं. 395
12. मिथ्या दुक्कड़—आमेर शास्त्र भंडार. जयपुर
13. समाधि—जैन पंचायती मंदिर, दिल्ली

14. जिनवरजी विवाह —बधीचन्द मंदिर जयपुर, गुटका क्रं 158
अजयराज पाटणी

15. श्री चूनरी-भगौतीदास—मंगोरा (मथुरा) निवासी पं. वल्लभरामजी
के पास

16. खटोलना गीत-रूपचंद—आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर

17, अध्यातम सवैया-रूपचन्द—बधीचन्द मन्दिर, जयपुर

18. फुटकल पद-ब्रह्मदीप—आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर के गुटका
में प्रकाशित

19. उपदेश दोहाशतक-पांडे हेमराज—ठोलियों का मन्दिर, जयपुर।

20. फुटकल पद-द्यानतराय—बधीचन्द जैन मन्दिर, जयपुर

21. मनकरहारास-ब्रह्मदीप—आमेर शास्त्र भन्डार, जयपुर

22. मांझा-बनारसीदास—बधीचन्द जैन मन्दिर, जयपुर

23. परमानन्द विलास और पद पंकन—परवार पुरा जैन मन्दिर, नागपुर
देवीदास

(छ) पत्र पत्रिकाएं

1. अनेकांत—वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली-6
2. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका—वाराणसी
3. जैन सन्देश (शोधांक)—चौरासी, मथुरा
4. जैन हितैषी—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
5. भारतीय साहित्य—आगरा विश्व विद्यालय
6. वीरवाणी—मनिहारों का रास्ता, जयपुर
7. मरू भारती—राजस्थान
8. श्रमण—वाराणसी
9. परिषद् पत्रिका—पटना
10. हिन्दुस्तानी—इलाहाबाद
11. हिन्दी अनुशीलन—प्रयाग

(ज) कोष

1. हिन्दी शब्द कोष—मनन्देल
2. अमरकोश—वाराणसी
3. अभिधान चिन्तामणि कोश—रतलाम
4. नाममाला (बनारसीदास)—वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
5. पालिकोससंगहो-सं. डॉ. भागचद जैन—आलोक प्रकाशन, नागपुर प्र.
भास्कर संस्करण, 1974

6. Concise Oxford Dictionary—Oxford, 1961.

7. आगम शब्दकोश—सं. युवाचार्य, महाप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनू 1980

8. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश—सं. क्षु- जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली.

8. **English**

1. Comperatne Religion—A. C. Bonbuet, Petican Series, 1953-
2. Eastem Religion and Western Thought–Dr. S. S. Radhakrashan.
3. Mysticism in Bhagwadgita—Mahendran atha Sarkar. Cl-lcutta, 1944.
4. Mysticism Theory and Art—Radhakamal Mukurji,
5. Studies in Vedanta—V. j. Kirtikar, Bombay.
6. Mysticism in Maharashtra—Prof. Ranade.
7. Mysticism in Religion—Dr, W. R. Inge, Newyark.
8. Mystical Phenomena—M. G. R. Alliert Forges, London, 1926,
9. The Teachings of the Mystices—Walter T. Stace, Newyark, 1960
10. The Varieties of Religious Experience : A Study in Human Nature—Wiliam James, Longmans, 1929.
11. Mysticism in Newyark—Ku. Under Hill,
12. Practical Mysticism—Ku. Under Hill.
13. Mysticism—Ku. Under Hill.
14. Mysticism Dictionaries—Frank Gaynor.
15. New Haven—W. E. Hocking.
26. Mysticism and Logic—Page.